दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

कार्यकारी संपादक

डॉ. पुष्प राज गौतम

प्राचार्य, बी.पी.एस. कॉलेज, भोरे, गोपालगंज

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली–110045

वर्ष : 5 **अंक** : 1 ❑ जनवरी-फरवरी 2013

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड

डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो

डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची

डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका

डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

मूल्य: ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुंमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई-56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस-2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

दुनिया के देशों में शिक्षा की स्थिति पर यूनेस्को द्वारा जारी की गई रिपोर्ट के मुताबिक भारत उन 28 देशों में से एक है जो वर्तमान रफ्तार से 2015 तक सबके लिए शिक्षा के अंतर्राष्ट्रीय लक्ष्य को पूरा करने में सफल नहीं होंगे। दुर्भाग्यजनक स्थिति तो यह है कि फिलहाल विश्व के अशिक्षितों की 34 फीसदी आबादी भारतीय है जो 2015 में बढ़कर 35 प्रतिशत हो जायेगी। भारत जिन तीन बुनियादी लक्ष्यों को पूरा करने में पिछड़ सकता है, वे हैं – सब बच्चो को प्राथमिक शिक्षा मुहैय्या कराना, स्कूलों में बालक एवं बालिकाओं की समान उपस्थिति सुनिश्चित करना और कम से कम आधी वयस्क आबादी को साक्षर बनाना। ये सब हमारी सरकार की राजनैतिक इच्छाशक्ति के अभाव और बच्चों के भविष्य के प्रति हमारी सामाजिक प्रतिबद्धता की कमी की वजह से हो रही हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने संबंधी 93वें संशोधन संविधान विधेयक के संबंध में लाई जा रही अड़चने हैं। यह विधेयक ठीक एक वर्ष पहले लोकसभा में पारित हो गया था किन्तु राज्यसभा में यह इस वर्ष पारित हुआ। चूंकि संविधान संशोधन विधेयक को एक ही वर्ष में पारित किया जाना चाहिए इसलिए यह राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए नहीं भेजा जा सका। हमारी सरकार ने विगत कई सत्रों में इसे राज्यसभा में पुनः पारित करने की औपचारिकता नहीं की जिसके परिणामस्वरूप मामला खटाई में पड़ा हुआ है। यदि शीतकालीन अधिवेशन में यह पारित नहीं होता तो अगले वर्ष फिर से दोनों सदनों में इसे पारित करना होगा।

भारत के एक गैर सरकारी संगठन 'प्रथम' ने देशव्यापी सर्वेक्षण में पाया है कि 50 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जो वैसे तो पाँचवीं कक्षा तक पहुँच गए हैं लेकिन वे दूसरी कक्षा की किताबों को भी पढ़ने में सक्षम नहीं हैं। 'प्रथम' ने 575 जिलों के 16 हजार गांवों में तीन लाख परिवारों के बीच ये सर्वेक्षण किया है। रिपोर्ट से यह निचोड़ निकला है कि ग्रामीण भारत के आधे बच्चे सामान्य स्तर से तीन कक्षा नीचे के स्तर पर हैं, इस रिपोर्ट में भारत में शिक्षा की गुणवत्ता पर गंभीर चिंता जताई गई है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा में पिछले कुछ वर्षों में बेहतरी के कुछ प्रमाण भी मिले हैं। रिपोर्ट के अनुसार कुछ राज्यों में इस स्थिति में सुधार आया है, ये राज्य हैं महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, पंजाब, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक। इन राज्यों में मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, और महाराष्ट्र सबसे ऊपर हैं, जिनमें 70 प्रतिशत पाँचवीं कक्षा के बच्चे दूसरी कक्षा का पाठ पढ़ने में सक्षम पाए गए। इसके अलावा रिपोर्ट गणित की पढ़ाई के बारे में भी निराशाजनक तस्वीर पेश करती है, इस रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ 36 प्रतिशत बच्चे ही ऐसे हैं जो सामान्य गुणा-भाग कर सकते हैं, वर्ष 2007 में ये संख्या 41 प्रतिशत पाई गई थी, मतलब यह है कि इस क्षेत्र में हालात खराब हुए हैं। रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्राइवेट ट्यूशन का चलन बढ़ा है। भारत में आमतौर पर ये धारणा रही

है कि प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा का स्तर बेहतर होता है। रिपोर्ट कहती है कि 2005 की तुलना में 2008 में प्राइवेट स्कूलों में दाखिला लेने वाले बच्चों की संख्या बढ़ी हैं। इस सर्वेक्षण में कुछ सकारात्मक तथ्य भी सामने आए हैं। रिपोर्ट में कहा गया कि नामांकन में स्पष्ट वृद्धि दर्ज की गई है, यानी स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या बढ़ी हैं। इस क्षेत्र में बिहार ने काफी अच्छा काम किया है। रिपोर्ट में इस बात पर ध्यान दिया गया है कि जिन बच्चों का नाम स्कूलों के रजिस्टरों में दर्ज है, उनमें से कितने बच्चे वास्तव में स्कूल जाते हैं। रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण भारत में अधिकतर सरकारी स्कूलों में किसी भी दिन उपस्थिति दर 75 प्रतिशत के आसपास रहती है, हालांकि केरल, कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, गोवा, तमिलनाडु, और नागालैंड जैसे कुछ राज्यों में किसी भी दिन की उपस्थिति 90 प्रतिशत तक रहती है।

संपादक

इस अंक में

इतिहास

प्राचीन भारत में जातियों का विकास: मौर्योत्तर काल के विशेष संदर्भ में–डॉ॰ शेखर सिंह 7
भारत में सामाजिक संरचना: एक ऐतिहासिक विश्लेषण–डॉ॰ संतोष कुमार 10
मुगल अर्थव्यवस्था के विकास की ऐतिहासिक विवेचना–शशि प्रताप उपाध्याय 15
मौर्यकालीन समाज का ऐतिहासिक मूल्यांकन–डॉ॰ अनूप कुमार भारती 20
विवेकानन्द का मानवीय दृष्टिकोण का वर्तमान संदर्भ में मूल्यांकन–सुनील कुमार पाण्डेय 25
भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण और प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण–डॉ॰ पवन कुमार 29
वर्ण व्यवस्था का ऐतिहासिक आधार: एक विश्लेषण–डॉ॰ विमल किशोर मिश्र 32
आज के युग में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान उभरे आर्थिक राष्ट्रवाद का मूल्यांकन–डॉ॰ कंचन माला 35
बुद्धकाल से मौर्यकाल तक सामाजिक संरचना का आधार–धनंजय कुमार सिंह 39
बौद्धकाल से मौर्यकाल तक सामाजिक प्रतिरोध का प्रभाव का मूल्यांकन–कविता कुमारी 44
ब्रिटिश काल की शिक्षा नीति का ऐतिहासिक मूल्यांकन–राजू कुमार राजू 48
हिन्द स्वराज का ऐतिहासिक विश्लेषण: आज के संदर्भ में–रमेश कुमार गुप्ता 52
बलबन के राजस्व सिद्धान्त के ऐतिहासिक पहलू–मो॰ गुलाम रहवर 56
गुप्तकालीन कला के विकास का ऐतिहासिक मूल्यांकन–डॉ॰ बाबूलाल बादल 59
ब्रिटिश भारत में उच्च शिक्षा के विकास का मूल्यांकन–दिव्य कांत झा 64
इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या: वैज्ञानिक इतिहास लेखन के संदर्भ में–डॉ॰ मनोज कुमार साह 68
वैदिक काल का ऐतिहासिक विश्लेषण–डॉ॰ संतोष कुमार साह 72
वेदों के काल में वर्ण व्यवस्था की उत्पति एवं उसका क्रमबद्ध विकास–डॉ॰ रूपक कुमार शर्मा 77
मगध साम्राज्य का राजनीतिक एवं आर्थिक विश्लेषण–डॉ॰ नारायण दास 81
ब्रिटिश भारत में अकाल नीति का विश्लेषण–डॉ॰ अजीत कुमार 85
स्वतंत्र भारत में गैर बराबरी और समानता का संघर्ष: एक ऐतिहासिक विश्लेषण–डॉ॰ बीरेन्द्र कुमार सिंह 89
"जननायक के रूप में सिद्धू कान्हू"–अजय यशराज 94
स्वतंत्रता आंदोलन में पहाड़िया जनजातियों की भूमिका–रंजन कुमार 98
वैदिककालीन समाज में वर्ण व्यवस्था–डॉ॰ पवन कुमार 102
उत्तर मध्कालीन भारत में आर्थिक और सामाजिक स्थिति–डॉ॰ मनीष कुमार 106
प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक महत्व–डॉ॰ निलेश कुमार 111
हड़प्पा संस्कृति के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय का विवरणात्मक विश्लेषण–हरि किशोर ठाकुर 115
प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता–संतोष कुमार 119
प्राचीन भारत में नारियों की स्थिति का विश्लेषणात्मक विवेचन–सुजीत कुमार 123
नीलहा आन्दोलन का राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्व–डॉ. श्याम कुमार 127
अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था: एक आर्थिक विश्लेषण–डॉ. मनीष कुमार शर्मा 131
स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान का राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास–डॉ॰ राकेश कुमार 136

समाजशास्त्र

समाज में अंधविश्वास का सामाजशास्त्रीय विवेचन–डॉ॰ तरूण पाठक 140
प्राचीन भारतीय समाज एवं शूद्र: एक समाजशास्त्रीय विवेचना–डॉ॰ प्रदीप कुमार 143
पंचायतीराज: महिला सशक्तिकरण के विशेष संदर्भ में–डॉ॰ आनन्द वर्द्धन 146
नारी सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी का योगदान: एक विश्लेषण–डॉ॰ अनुपम गौतम 150
नक्सलवाद का समाजशास्त्र–डॉ॰ अनुराधा गौतम 154
जाति आधारित आरक्षण: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण–डॉ॰ शेखर राजपाल 159

हिन्दी साहित्य

हिन्दी साहित्य में लघुपत्रिका आन्दोलन की सामाजिकता–सुभाषा तिवारी 162
हिन्दी साहित्य में आंचलिकता की संभावनाएं और सीमाएं–रणविजय पासवान 167
भारतेन्दु काल की पत्रकारिता में राष्ट्रवाद–अभिषेक रंजन 171
भारत में भाषा की प्रगति में हिन्दी का योगदान–शिप्रा प्रभा 176
स्वतंत्रता आन्दोलन और हिन्दी पत्रकारिता–दशरथ प्रजापत 179
भारतीय साहित्य में दलित चिंतन–डॉ॰ उपेन्द्र कुमार 184
प्रेमचंद के कथा-उपन्यासों में मध्यम वर्ग का चरित चित्रण–डॉ॰ पंकज कुमार तिवारी 187

संस्कृत

वैदिक साहित्य में पशुहिंसा एवं मांस भक्षण का विवरण–डॉ॰ अरूण पाठक 190
गीता: एक साहित्यिक मंथन–डॉ॰ विनोद कुमार सिंह 194
प्रकृति-चित्रण और संस्कृत साहित्य–नमिता कुमारी 198
संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट का योगदान–डॉ॰ घनश्याम तिवारी 202

अर्थशास्त्र

वैश्वीकरण और असमान विकास–डॉ॰ अनवर इमाम 205
विकास का सामाजिक विमर्श–डॉ॰ रमन कुमार झा 209

वाणिज्य

विदेशी निवेश और विकास की अवधारणा–डॉ॰ फजल अहमद, डॉ॰ इम्तियाज अहमद 214
खाद्य संकट और आयात नीति–डॉ॰ साद बिन हामिद 218

राजनीति विज्ञान

वर्तमान समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन–डॉ॰ दीपाली सिंह 221
भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता: वर्तमान चुनौतियां–डॉ॰ शेफाली सिंह 226
भारतीय लोकतंत्र और चुनाव सुधार–जयश्री सिंह 231
वर्तमान परिवेश में भारत-पाकिस्तान संबंध–डॉ॰ साधना ठाकुर 234
भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद–डॉ. विद्या भूषण श्रीवास्तव 238

भूगोल

भूमिगत जल संकट: समस्या और समाधान–गरीबनाथ राय 242
भारत में जल संकट: समस्या और प्रबंधन–सुशान्ता प्रियदर्शिनी 245

गृह विज्ञान

गृह विज्ञान और संचार क्रान्ति–सिंगला प्रभा 248
मानव जीवन में पोषण प्रबंध–कुमारी रेखा 251
अभिभावक वृति का बाल विकास पर प्रभाव–रंजना कुमारी 254
मधुमेह में पोषण की मूल अवधारणा–करूणा कुमारी 260
भारतीय समाज में दहेज व्यवस्था की समस्या–प्रेरणा राही 263
आहार विशेषज्ञता के क्षेत्र में महिलाएं–करूणा कानन 267

बांग्ला साहित्य

भारतीय साहित्य में बांग्ला कहानी का प्रताप–गोपाल पाल 269

श्रम एवं समाज कल्याण

सामाजिक विकास में जनसंख्या वृद्धि की बाधा: एक विवेचना–डॉ॰ विद्यापति गौतम 273

मनोविज्ञान

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा मनोविज्ञान का महत्व–डॉ॰ मनोज कुमार सिंह 276

प्राचीन भारत में जातियों का विकास
मौर्योत्तर काल के विशेष संदर्भ में

डॉ॰ शेखर सिंह

रामानुजम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मौर्योत्तर काल में संपूर्ण समाज परंपरागत चार वर्णों में विभाजित था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। शुंग और सातवाहन वंश के शासक ब्राह्मण थे। अतएव उनके शासन-काल के समय में चार वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति होना स्वाभाविक था। तत्कालीन स्मृतियों से ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता का पक्षपोषण हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मनुस्मृति' में स्पष्ट शब्दों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की पुष्टि की गयी है। मनु के अनुसार ब्राह्मणों को प्राणदंड की सजा नहीं दी जा सकती थी। ब्राह्मणों के लिए शूद्र का भोजन वर्जित था। शूद्र अध्यापकों की मनु चर्चा करते हैं, किंतु फिर भी वे शूद्र और दासों में कोई अंतर नहीं देख पाते। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। यदि हम इसके विपरीत मौर्य युग की प्रख्यात विचारक की सुविख्यात रचना अर्थात् कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में शूद्रों के विषय में देखते हैं तो उसमें स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि कौटिल्य शूद्रों को दास बनाना वर्जित ठहराते हैं–'त्वेवार्यस्य दास भाव:।

इसी प्रकार 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में भी हमें शूद्रों के प्रति उदार दृष्टिकोण दिखलायी पड़ता है। इसके अनुसार शूद्रों को कृषक, कारीगर एवं व्यापारी बनने की स्वीकृति प्रदान की गयी है।

मनु का यह वर्गीकरण इस प्रकार है (1) प्रथम वर्ग में सामन्त एवं शासक वर्ग के लोग थे, जिन्हें 'महाराज', 'महारथी' तथा 'महा सेनापति आदि उपाधियां प्राप्त थीं। (2) दूसरा वर्ग मंत्री, कोषाध्यक्ष अन्य उच्च राजपदाधिकारी आदि का था (3) तीसरा वर्ग लेखकों विद्वानों, वैद्यों, ज्योतिषियों आदि का था (4) चौथा वर्ग स्वर्णकारों, शिल्पियों एवं कृषकों आदि का था। सामाजिक दृष्टि से इस युग की अन्य विशेषता विदेशी जातियों का भारत की सामाजिक व्यवस्था में विलयन था। भारतीय समाज में यवन, पल्लव, शक आदि जातियों के प्रवेश से कुछ समस्याएं उत्पन्न हो गयी थीं।

भारतीय धर्मों को इन जातियों ने अंगीकार कर लिया था। इन लोगों में अधिकांश ने परंपरागत हिन्दू धर्म के किसी-न-किसी संप्रदाय को स्वीकार कर लिया अर्थात् कुछ शैव मतावलम्बी हो गये थे, कुछ ने वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया था, कुछ ने बौद्ध तथा कुछ ने जैन। उनके भारतीय समाज में प्रवेश करने में तत्कालीन समाज के सूत्रधारों को कोई आपत्ति नहीं थी। उदाहरण के लिए 'भागवत पुराण' में कहा गया है कि ये जातियां विष्णु पूजन से पवित्र हो गयी हैं और यदि विदेशी जातियां विष्णु पूजन करती हैं तो पवित्र हो जाती हैं।

वैष्णव धर्म ने इस प्रकार इन जातियों को ब्राह्मणधर्मी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत समावेशन एवं समायोजन का मार्ग बताकर हिन्दू समाज के द्वार उन लोगों के लिए खोल दिये, जो मूलतया विदेशी थे, किंतु भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आने के लिए इच्छुक थे। इस प्रकार के साक्ष्यों का अभाव प्राचीन भारतीय इतिहास में नहीं है। जब विदेशी जातियों ने भारतीय धर्म को स्वीकार कर भारत की धार्मिक परंपराओं में अपनी निष्ठा व्यक्त की। ई.पू. और ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक साक्ष्य सुलभ हैं।

उदाहरण के लिए बेसनगर के अभिलेख में यह स्पष्ट है कि यवन राजदूत 'हेलियोडोरस' ने भागवत धर्म को अंगीकार कर लिया था और भगवान वासुदेव के सम्मान में एक गरुड़ध्वज समर्पित किया था। इसी प्रकार महाक्षत्रप सोडास के समय एक अन्य अभिलेख में भगवान वासुदेव के मंदिर के प्रवेश द्वार और वेदिकाओं के निर्माण का उल्लेख है। कुषाण द्वारा बौद्ध धर्म अपनाये जाने से उनके भारतीय समाज में प्रवेश में किसी प्रकार की समस्या का प्रश्न नहीं था, क्योंकि बौद्ध धर्म जाति-वर्ण इत्यादि को अस्वीकार करता है। इस युग में जहां तक स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न है, इस युग में समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाता था।

उनके जीवन को मनु ने काफी प्रतिबंधित कर दिया था। कन्या, पत्नी और माता के रूप में क्रमशः पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और संरक्षित मानी गयी। सातवाहन काल में स्त्रियों की पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति हो गयी थी, इसमें कोई संदेह नहीं। सातवाहन राजाओं द्वारा अपने नाम के साथ माता का नाम जोड़ने की प्रथा जैसे गौतमीपुत्र शातकर्णि, वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी समाज में स्त्रियों की मान्यता को इंगित करता है। रानी नागनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन चलाया था। बलश्री को गौतमी ने 'विदुषी' और 'धर्मपरायण' कहा है। स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। बाल्यकाल से ही उनकी शिक्षा का प्रबंध किया जाता था। अनेक महिलाएं शिक्षिका बनकर शिक्षण कार्य द्वारा जीवन यापन करती थीं।

ऐसी स्त्रियां 'उपाध्याया' कही जाती थीं। मनु के अनुसार विवाह के अवसर पर कन्या को जो कुछ दिया जाता था अर्थात् पति गृह जाते समय माता-पिता एवं भाई द्वारा दिया धन स्त्री को ही मिलता था, उसे 'स्त्री धन' कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार की संपूर्ण संपत्ति में स्त्री का हिस्सा होता था एवं इच्छानुसार अपने पास रख सकती थी। मनु ने यह भी निर्देशित किया है कि पति की मृत्यु के बाद नारी को उसके स्त्री धन से वंचित न किया जाये। एक स्थान पर अपुत्रवती, व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि का उल्लेख कर उसकी स्थिति को मजबूत करने का प्रयास किया है। हमें ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं, जिनसे स्त्रियों की पर्दा प्रथा सिद्ध होती हो, किंतु विवाह की अवस्था निरंतर घटती जा रही थी। संभवतः यह पाश्चात्य आक्रमणकारियों के भारतीय समाज में प्रवेश के प्रयास का परिणाम था। मनु ने 30 वर्ष के पुरुष को 12 वर्ष की कुमारी अथवा 24 वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की बालिका से विवाह की अनुमति प्रदान कर दी। इसका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर तो पड़ा ही साथ ही मानसिक विकास पर भी इसका बुरा असर हुआ। जिन विशेष परिस्थितियों में वैदिक काल में तलाक की अनुमति थी, उसे भी बुरा समझा जाता था।

विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक के साथ सती प्रथा का आविर्भाव हुआ। महाभारत के कुछ उल्लेखों और यवन लेखकों द्वारा कुछ वास्तविक घटनाओं की चर्चा से स्पष्ट है कि इस काल में यह प्रथा प्रचलित थी। अरिस्टोबुलस ने इस विषय में कुछ छान-बीन कर लिखा है कि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियां स्वेच्छा से अपने पति की चिता पर जल मरती हैं। जो ऐसा नहीं करती वे समाज में हेय दृष्टि से देखी जाती हैं, यद्यपि आरंभिक धर्मशास्त्रों में इस प्रथा को मान्यता नहीं दी गयी है, तथापि इससे स्पष्ट होता है कि क्रूर प्रथा को जनता प्रोत्साहित करती थी।

ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्यिक ग्रंथों से दास प्रथा के प्रचलन की जानकारी मिलती है। मनु ने शूद्रों से दास कर्म करवाये जाने का उल्लेख किया है। उसने सात प्रकार के दासों का जिक्र किया है-ध्वजाहत (युद्ध में जीता गया), भक्तदास (भोजन हेतु बना दास), गृहज (दासी पुत्र), क्रीत (मूल्य देकर क्रय किया हुआ), दत्तिम (किसी द्वारा दिया हुआ), पैत्रिक (पैतृक रूप से चला आ रहा), दंडदास (दंड या ऋण न चुका पाने के कारण)। दो प्रकार के दासों का महाभाष्य में जिक्र आया है-क्रीत एवं परिक्रीत। परिक्रीत दास निश्चित अवधि के लिए निश्चित द्रव्य के आधार पर परिचारक के रूप में रखे जाते थे एवं क्रीत दासों को सुनिश्चित धन से क्रय किया जाता था, जो उतना धन लौटाये जाने पर स्वतंत्र हो जाता था। स्मृत्तियों में दासों के प्रति उदार व्यवहार और मुक्ति के नियम दिये गये हैं। मौर्योत्तर काल को इस तरह सामाजिक परिवर्तनों एवं समन्वय का युग कहा जा सकता है। उत्तर भारत दक्षिण से जुड़ने लगा और सांस्कृतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में परिबद्ध होने लगा।

References

- Ancient Indian Heritage : Varahamihiras India/Ajay Mitra Shastri
- शुद्रों का प्राचीन इतिहास/रामशरण शर्मा
- प्राचीन भारत का इतिहास/आर.सी. मजूमदार
- Tribal History of Central India/R.K. Sharma and S.K. Tiwari
- A History of Indian Culture/N. Jayapalan

इतिहास

भारत में सामाजिक संरचना
एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ॰ संतोष कुमार

प्राचीन भारतीय एवं एशियाई विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

गुप्त काल में प्राचीन भारतीय समाज का ढांचा स्थिर रहा। गुप्तकालीन समाज व्यवस्था की झांकी पुराणों, स्मृति-ग्रंथों व अभिलेखों से प्राप्त होती है। स्मृति ग्रंथों के नियम व्यवहारत: समाज में किस हद तक लागू होते थे, यह संदेहास्पद है। भारतीय समाज की प्रारंभिक व्यवस्था चार वर्णों पर आधारित थी–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। प्रारंभ में इसका आधार कर्म था, लेकिन धीरे-धीरे यह जन्म पर आधारित हो गयी। 'मनुस्मृति' के समय तक इसका स्वरूप कठोर हो गया था। गुप्तकालीन अन्य स्मृतियों में भी समाज के कठोर रूप का चित्रण मिलता है। गुप्तकालीन समाज परंपरागत चार वर्णों में विभाजित था। स्मृति-साहित्य में चारों वर्णों के कर्तव्य बताये गये हैं। इनमें आर्यावर्त के 'धर्म क्षेत्र' का भी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों के छ: कर्तव्य-अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना था। क्षत्रियों का कर्तव्य शस्त्र द्वारा राष्ट्र की रक्षा करना था। म्लेच्छों को भारतीय समाज से अलग हट कर देखा गया। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का रक्षक राजा को माना गया है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में बाहरी व्यक्तियों को प्रवेश करने तथा इससे लाभान्वित होने की अनुमति तो थी, पर सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता को भी कायम रखने की कोशिश की जाती थी।

गुप्तकाल तक आते-आते परंपरागत वर्ण व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन आ चुके थे। कालिदास की रचनाओं से भी गुप्तकालीन कठोरता दिखायी देती है। व्यावहारिक दृष्टि से कठोरता निश्चय ही कम हुयी होगी। प्रमुख चार वर्णों की सामाजिक स्थिति का अध्ययन गुप्तकाल के परिप्रेक्ष्य में करना उचित होगा। ब्राह्मणों के अंदर भी बहुत से उपभेद पैदा होने लगे थे जिनका आधार गोत्र व प्रवर था। दंड देते समय भी राजा ब्राह्मणों के प्रति उदारता का व्यवहार करता था। स्मृति साहित्य में वर्ण-विभेद की भावना दृष्टिगोचर होती है। भयंकर अपराध करने पर भी ब्राह्मण को मृत्यु-दंड नहीं दिया जा सकता था। शूद्रक के 'मृच्छकटिकम् के नवें अंक में ब्राह्मण चारुदत्त के हत्यारा सिद्ध हो जाने पर भी उसे प्राण-दंड नहीं दिया गया था।

'दशकुमारचरितम् ब्राह्मण मंत्री राजद्रोह का दोषी है, किंतु उसे केवल अंधा बना दिया गया था। उन्हें अर्थ दंड ही मिलता था। देश-निष्कासन का दंड भी उन्हें दिया जा सकता था। ब्राह्मणों को अन्य वर्णों की तुलना में दंड कम मिलता था। बृहस्पति के अनुसार सभी प्रकार के दिव्य सबसे कराये जा सकते थे; लेकिन ब्राह्मण से विष दिव्य नहीं कराया जाना चाहिए। साक्ष्य देने के संदर्भ में भी भेदभाव निहित था। इस प्रकार समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। उनके मुख्यतया छह कर्म थे–वेद

पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ये कार्य उसके स्वधर्म के अंतर्गत आते थे। इसके अतिरिक्त अपनी तपश्चर्या ओर ज्ञान से वह समाज का मार्ग-दर्शन करता था। ब्राह्मणों में भी उपजातियां विकसित हो गयी थीं। वेदों के अध्ययन को ध्यान में रखकर उसका विभाजन किया गया था।

उतरी भारत में अंतर्वेदी ब्राह्मण, राजस्थान में श्रीमाली ब्राह्मण और गुजरात में नागर ब्राह्मण अपने को अन्य ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते थे। वैसे ब्राह्मणों का मुख्य कार्य धार्मिक था। वे अन्य प्रकार के पेशा भी अपनाने लगे थे। स्मृतिग्रंथों में आपद धर्म के समय अन्य पेशा अपनाने की अनुमति दी गयी। जिस तरह कौटिल्य ने विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न बस्तियों का विधान किया है। उसी प्रकार वराहमिहिर ने विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न व्यवस्था बतायी है। वराहमिहिर के अनुसार ब्राह्मण के मकान में 5 कमरे, क्षत्रिय के मकान में 4, वैश्य के मकान में 3 और शूद्र के मकान में 2 कमरे होने चाहिए। न्याय व्यवस्था में भी वर्ण भेद को ध्यान में रखा गया था। ऐसा माना जाता था कि ब्राह्मण की परीक्षा तुला से, क्षत्रिय की अग्नि से, वैश्य की परीक्षा जल से तथा शूद्र की परीक्षा विष से की जानी चाहिए। साक्षी के विषय में बृहस्पति का मानना है कि साक्षी कुलीन हो, तथा वह नियमपूर्वक वेदों एवं स्मृतियों का अध्ययन करता हो। इस बात की भी चर्चा है कि गवाही की जाति प्रतिवादी की जाति के समान हो। परंतु नारद इस बात का खंडन करते हैं और उनका मानना है कि सभी वर्ण के लोग एक-दूसरे के साक्षी हो सकते हैं। दंड व्यवस्था भी वर्ण पर आधारित थी। 'महाभारत' के शांतिपर्व में कहा गया है कि अगर कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की हत्या करे तो उसे अलग-अलग दंड दिया जाये। नारद के अनुसार चोरी करने पर ब्राह्मण का अपराध सबसे अधिक और शूद्र का अपराध सबसे कम होता है। विष्णु ने हत्या के पाप से शुद्धि के संदर्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की हत्या के लिए क्रमशः 12, 9 और 3 वर्ष का महाव्रत नामक तप बताया है। दायविधि में यह नियम बना रहा कि उच्च वर्ण के शूद्र पुत्र को संपति में सबसे कम हिस्सा मिले। वर्ण व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल रही थी, क्योंकि महाभारत के शांति पर्व के कम से कम 9 पदों में ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच सहयोग की बात उठायी गयी है। इससे आभास होता है कि उन्हें वैश्यों एवं शूद्रों के विरोध का भय था।

क्षत्रियों में चार वर्ण वाली व्यवस्था का दूसरा स्थान था। धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, दान करना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना आदि माने गये हैं। स्मृतिकार विष्णु ने क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य प्रजा पालन माना है। बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रियों की प्रमुखता अधिक है। प्राचीन काल में कई क्षत्रिय महान विद्वान् हुए थे। वैदिक कालीन क्षत्रिय विद्वानों में जनक, प्रवाहण जाबालि आदि उल्लेखनीय रहे हैं। आपात् स्थिति में क्षत्रिय भी वैश्यवृत्ति अपना सकते थे। गुप्तकाल में बहुत से क्षत्रिय व्यापार भी करते थे। इंदौर से प्राप्त स्कंदगुप्त के एक अभिलेख में इसका उल्लेख है। ह्वेनसांग ने क्षत्रियों की प्रशंसा की है। वे दयालु, परोपकारी व युद्ध कला में प्रवीण होते थे। मनु के अनुसार 10 वर्षीय ब्राह्मण भी 100 वर्षीय क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। उसके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय पिता और पुत्र के समान है। गुप्तकाल के क्षत्रिय द्वारा अपने से नीचे वर्ण के व्यवसाय अपनाये जाने का भी उदाहरण मिलता है। इंदौर से प्राप्त स्कंदगुप्त के काल के एक अभिलेख के अनुसार क्षत्रिय लोग वैश्य का भी कार्य करते थे। मनु क्षत्रियों को वैश्य-कर्म अपनाने की अनुमति देते हैं, परंतु उनके

लिए कृषि-कर्म वर्जित मानते हैं। किंतु, क्षत्रियों का मुख्य कार्य देश और समाज की रक्षा करना था। युद्ध उनके जीवन का मुख्य पहल था। युद्ध में जीती हुयी सारी वस्तुएं क्षत्रिय की होती थीं। मनु के अनुसार रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, घन-धन्य, पशु, स्त्रियों (दासी आदि), सब प्रकार के द्रव्य, और कुप्य (सोना-चांदी के अतिरिक्त तांबा-पीतल आदि धातुएं) युद्ध के विजेता की वस्तुएं मानी जाती थीं।

कृषि और व्यापार वैश्य वर्ण का प्रमुख व्यवसाय था। धर्मशास्त्रों में इनका कर्तव्य अध्ययन, यज्ञ, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य बताया गया है। गुप्त युग में इन्हें 'वणिक्', 'श्रेष्ठि' और 'सार्थवाह' भी कहा गया है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां वैश्य वर्ण के लोगों को क्षत्रिय कर्म करते हुए दिखाया गया है। वैश्य राजकीय कार्य भी करते थे। कई स्मृतियों में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सेवा करना भी वैश्यों का कर्तव्य है। वास्तव में वैश्यों का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। इनमें विभिन्न व्यवसायों वाले लोग शामिल थे, जैसे–कृषक, व्यापारी, लुहार, सुनार, बढ़ई, तेली, सूत कातने वाले, बुनकर, पशुपालक आदि। इस काल में वैश्यों की स्थिति में गिरावट के चिह्न भी मिलते हैं। शूद्र भी उस समय कृषक थे। गुप्तकाल में व्यापारी, गोपालक, सुनार, बढ़ई आदि व्यावसायिक समूहों ने अपनी श्रेणियां बना ली थीं। वैश्य भी आपातकाल में दूसरे वर्ण के कर्म अपना सकते थे। वे सैनिक कर्म भी कर सकते थे। यह कहा गया है कि गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकते थे। वैश्य न्यायालय की प्रमुख सभा के सदस्य भी बन सकते थे। विषय आदि की शासन परिषदों में श्रेष्ठि, सार्थवाह, कुलिक आदि के प्रतिनिधि रहते थे। परमेश्वरीलाल गुप्त इन गुप्त शासकों को वैश्य वर्ण का स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि वैश्य वर्ण ने गुप्तकाल में बहुत प्रगति की। इस वर्ण के लोग अपनी दानशीलता के लिए भी प्रसिद्ध थे। संभवत: ये अपनी आय का बहुत-सा हिस्सा सार्वजनिक हित में खर्च करते थे, फाह्यान के यात्रा-विवरण में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। फाह्यान ने औषधालयों व पंथशालाओं का उल्लेख किया है। औषधालयों में निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, नि:संतान, रोगी आदि आते थे और वहां उन्हें सब तरह की सहायता मिलती थी। पंथशालाओं के बारे में फाह्यान ने कहा है कि वहां कमरे, चारपाई, बिस्तर आदि यात्रियों को दिये जाते थे।

शूद्रों का अंतिम वर्ण था। साधारणत: शूद्रों का कार्य द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना था। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है कि शूद्र व्यापारी, कृषक और कारीगर भी हो सकता था। स्पष्ट है कि गुप्तकालीन शूद्र खेती व व्यवसाय करते थे। प्रशासनिक गतिविधियों में भी उनकी साझेदारी होती थी। शूद्रों की स्थिति मौर्यकाल की अपेक्षा अधिक संतोषजनक लगती है। ह्वेनसांग ने शूद्रों के राजा होने का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी ईसवी के लगभग शूद्र खेतिहरों का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण पिता और शूद्र माता से उत्पंन पुत्र को संपत्ति का अधिकारी माना है। परंतु बृहस्पति नहीं मानते हैं। मनु ने शूद्रों की सेवावृत्ति पर बहुत बल दिया था, परंतु याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण उदार है। उसने शूद्रों को व्यापारी, कृषक एवं कारीगर होने की अनुमति दी। कुछ शूद्रों ने सैनिक वृत्ति को भी अपनाया। गुप्तकाल के धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट रूप से दासों और अस्पृश्यों से शूद्रों को भिन्न बताया है। वैश्य लोगों से शूद्रों को भिन्न बताया गया है। वैश्य लोग जब कृषि से विमुख होने लगे तो शूद्रों ने कृषि को अपना लिया। वायु पुराण में शिल्प और भृति शूद्रों के लिए दो प्रमुख

कर्तव्य माने गये हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार, "अगर शूद्र भक्ति में रहकर मदिरा पान न करे, इद्रियों को बस में रखे और निर्भय रहे तो वह भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।" मार्कण्डेय पुराण में, दान देना शूद्र का भी कर्तव्य बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शूद्र ओंकार के बदले नमः शब्द का प्रयोग करते हुए पंच महायज्ञ कर सकता है। शूद्रों को रामायण, महाभारत और पुराण सुनने का अधिकार था। योग और सांख्यदर्शन जिसका सर्वोच्च विकास गुप्तकाल में हुआ था, शूद्रों के लिए वर्जित नहीं थे। इस युग में एक 'महत्तर' नामक नयी जाति विकसित हुयी है। वस्तुतः ये महत्तर प्रारंभ में गांव के वृद्ध जन थे। जमीन के क्रय-विक्रय बिक्री में इसकी भी अनुमति ली जाती थी। आगे चलकर ये पृथक् जाति हो गये। कृषि व व्यापार में शूद्रों के आने से उनकी सामाजिक स्थिति निश्चय ही सुधरी होगी। विष्णुस्मृति से विदित होता है कि सेवक और शिल्पकारों की गणना शूद्रों में की जाती थी। वे किसी प्रकार अस्पृश्य नहीं समझे जाते थे और समाज में उनका समुचित स्थान था।

द्विजातियों के समान उन्हें भी पंचमहायज्ञ करने का अधिकार था। मनु ने शूद्रों के लिए धन-संग्रह का निषेध किया है। संभवतः शूद्र भी धन-संग्रह की स्थिति में रहे होंगे। शिल्प के क्षेत्र में भी उनका प्रवेश था। 'अमरकोष' में शूद्र शिल्पियों का उल्लेख है जैसे–माली, धोबी, कुम्हार, जुलाहा, राजमिस्त्री, दर्जी, चित्रकार, शस्त्रकार, चर्मकार, लुहार, स्वर्णकार, बढ़ई, अभिनेता, नर्तक आदि। 'बृहस्पति स्मृति' में शिल्पियों की पारिश्रमिक दरों का उल्लेख किया गया है। उनकी मजदूरी में बढ़ोत्तरी हो गयी थी। अतः उनकी आर्थिक दशा भी अच्छी रही होगी। शूद्रों के प्रति वर्णविभेद की भावना दिखायी देती है। शूद्र केवल अपने वर्ण के साक्षी हो सकते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य की तुलना में शूद्रों को दिये जाने वाला दंड कठोर होता था। इस समय भी एक ही अपराध के लिए शूद्रों को ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की तुलना में अधिक दंड दिया जाता था। यह भी प्रतीत होता है कि धार्मिक क्षेत्र में शूद्रों के प्रति उदारता दिखायी देती है। पुराणों में उनके लिए सरल भक्तिमार्ग व मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। वे यज्ञ भी कर सकते थे, शांतिपर्व में इसका उल्लेख है। शूद्र रामायण, महाभारत, पुराण भी सुन सकते थे। वेद सुनने का अधिकार भी उन्हें कभी-कभी प्राप्त हो जाता था। गुप्तकाल में शिक्षित शूद्रों के उल्लेख भी मिलते हैं। इस काल में धर्मशास्त्रकार ब्राह्मणों को शूद्र का भोजन करने से मना करते हैं, लेकिन कुछ का भोजन ग्रहण किया जा सकता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार उच्च वर्ण का व्यक्ति किसान, ग्वाले, नाई या परिवार के शूद्र मित्र का भोजन कर ले तो आपत्तिजनक न था।

'कायस्थ' का गुप्तकालीन अभिलेखों व साहित्य में उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति में पहली बार कायस्थों की चर्चा हुयी है। ये किसी उपजाति से संबद्ध नहीं थे, वरन् लेखन कार्य से जुड़े हुए थे। कायस्थ अधिकतर राजकीय सेवा में थे। गुप्तकालीन अभिलेखों में प्रथम 'कायस्थ' नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। यह विषयः परिषद् का सदस्य होता था। इंहोंने राजकीय सेवा में ब्राह्मणों को चुनौती देनी शुरू की। सर्वप्रथम 'कायस्थ' का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलता है। इनसे प्रजा को सावधान रहने को कहा गया है। शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में कायस्थ का उल्लेख न्यायालय के लेखक के रूप में हुआ है। लेखक होने के अतिरिक्त वे लेखाकरण, गणना, आय-व्यय

और भूमिकर के भी अधिकारी होते थे। स्पष्ट है कि गुप्त काल में कायस्थों का एक वर्ग था जो आगे चल कर एक जाति के रूप में उभरा।

अछूत चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में थे। इनमें चांडाल मुख्य थे। गुप्तयुग में चांडालों का उल्लेख मिलता है। ये नगर से बाहर रहते थे। इनका स्पर्श वर्जित था। वे शवों को जलाने, गाड़ने के अलावा शिकार, मछलियां पकड़ना आदि कार्य करते थे। साधारणतः उनके बारे में यह माना जाता था कि वे अपवित्र हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, नास्तिक हैं, क्रोधी हैं और बिना कारण झगड़ा करते हैं। उनकी पोशाक राजा द्वारा निर्धारित की जाती थी। इनके संदर्भ में स्मृतिकारों के नियम कठोर दिखायी देते हैं। स्मृतियों में इनका कार्य लावारिस मुर्दे हटाना और बधिक का काम करना बताया गया है। फाह्यान ने पांचवीं शताब्दी में व ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी में इसका उल्लेख किया है। फाह्यान के विवरण से प्रतीत होता है कि जब कभी वे नगर में प्रवेश करते तो लकड़ी से ढोल बजाते चलते थे, ताकि लोग मार्ग से हट जायं और उनका स्पर्श न कर सकें।

References

- Ancient India as Described by Ptolemy/John W. McCrindle
- Shudras in Ancient India/R. Chandra and K.L. Chanchreek
- Society, Law and Administration in Ancient India/edited by H.S. Bhatia
- Republics, Kingdoms, Towns and Cities in Ancient India/G.P. Singh

मुगल अर्थव्यवस्था के विकास की ऐतिहासिक विवेचना

शशि प्रताप उपाध्याय

एम.ए. इतिहास, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

मुगल काल में भू-राजस्व आय का प्रमुख स्रोत था इसलिए उसकी मात्रा, उसके आकलन एवं उसकी वसूली की ओर अधिक ध्यान दिया गया। दो भागों में मुगल साम्राज्य के राजस्व को बाँटा जा सकता है-केंद्रीय अथवा शाही तथा स्थानीय अथवा प्रान्तीय। स्थानीय राजस्व स्पष्टत: बिना केन्द्रीय सरकार के वित्त-सम्बन्धी अधिकारियों से पूछे ही वसूला तथा खर्च किया जाता था। विभिन्न छोटे-छोटे करों से यह प्राप्त किया जाता था, जो ''उत्पादन एवं उपभोग, व्यापार एवं धंधों, सामाजिक जीवन की विभिन्न घटनाओं तथा सबसे अधिक परिवहन पर'' लगाये जाते थे। केन्द्रीय राजस्व के प्रधान साधन थे-भूमि-राजस्व चुंगी, टकसाल, उत्तराधिकार, लूट एवं हर्जाना, उपहार, एकाधिकार तथा प्रत्येक मनुष्य पर लगनेवाला कर (पॉल-टैक्स)। इनमें पुराने जमाने की तरह राज्य की आय का सबसे महत्वपूर्ण साधन था भू-राजस्व। मुगलों के समय भू-राजस्व उत्पादन का हिस्सा होता था। यह भूमि पर कर नहीं वरन उत्पादन और उपज पर कर होता था। ऐतिहासिक 'आइन-ए-अकबरी' के अनुसार भू-राजस्व राज द्वारा दिये जाने वाले संरक्षण और न्याय व्यवस्था के बदले लिए जाने वाला संप्रभुता शुल्क था। भू-राजस्व के लिए मुगल शासन में फारसी शब्द माल और मालवाजिब का प्रयोग किया जाता था। खराज शब्द की नियमित रूप से चर्चा नहीं मिलती थी।

अकबर के समय प्रयोग : एतमद खाँ के अधीन 1563 ई. में संपूर्ण साम्राज्य का 18 परगनों में विभाजन हुआ और प्रत्येक परगने में एक करोड़ी नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई।

मुज्जफर खाँ के अधीन 1564 ई. में दूसरा प्रयोग किया गया। 1568 ई. में शिहाबुद्दीन के अधीन तीसरा प्रयोग किया गया। इसने नसक प्रणाली पर बल दिया। मुज्जफर खाँ और उसके अधीन अधिकारी के रूप में टोडरमल की 1571 ई. में नियुक्ति की गई। इस प्रयोग में भूमि माप पर बल दिया गया। 1573 ई. में गुजरात विजय के बाद टोडरमल ने गुजरात में भूमि माप की पद्धति अपनायी। अकबर इस पद्धति से संतुष्ट हुआ। टोडरमल की नियुक्ति 1582 ई. में दीवान-ए-आला के रूप में हुयी और कई प्रयोगों के बाद टोडरमल के द्वारा जब्ती या आइन-ए-दहशाला पद्धति को अपनाया गया। पाँच चरण जब्ती पद्धति में होते थे।

भूमि की माप : इस चरण में भूमि माप की इकाई के रूप में पहले शेरशाह के द्वारा अपनाये गये 'गज-ए-सिकन्दरी' के बदले 'इलाही गज' का प्रयोग किया। 'इलाही गज' 33 ईंच और 41 अंगुल का होता था।

जब्ती व्यवस्था के लाभ

1. भूमि की माप को कभी भी जाँचा जा सकता था।
2. निर्धारित दस्तूरों के कारण पदाधिकारियों की मनमानी नहीं चल सकती थी।
3. स्थायी दस्तूरों के निर्धारण के बाद भू-राजस्व की अनिश्चितता और उतार-चढ़ाव में कमी आ गई।

सीमाएँ

1. भूमि की उर्वरता समान न होने पर उसे लागू नहीं किया जा सकता था।
2. उत्पादकता की अनिश्चितता का दण्ड केवल किसानों को भुगतान करना पड़ता था और यह किसानों के लिए हानिकारक था।
3. यह एक महंगी प्रणाली थी क्योंकि इसमें माप करने वाले दल को पारिश्रमिक के रूप में प्रति बीघा 1 दाम की दर से जरीवाना देना पड़ता था।
4. माप करते समय कर्मचारियों के द्वारा गड़बड़ी एवं धोखाधड़ी की समस्या भी बनी रहती थी।

भूमि का वर्गीकरण : उत्पादकता के आधार पर शेरशाह ने भूमि का श्रेणीकरण किया था किंतु अकबर ने उत्पादकता के बदले बारंबारता पर अधिक बल दिया किंतु बारंबारता पर बल देते हुए भी उसने उत्पादकता के आधार को भी बनाये रखा। बारंबारता के आधार पर भूमि चार प्रकार की होती थी।

1. पोलज : दो फसलें इसमें एक वर्ष में होती थी।
2. परती : दो फसलों के बाद इसमें किन्हीं कारणों से एक वर्ष के लिए भूमि को खाली छोड़ दिया जाता था।
3. चाचर : इसमें तीन या चार वर्षों में खेती होती थी।
4. बंजर : पाँच वर्षों तक इसमें खेती नहीं होती थी।

भूमि को उत्पादकता के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया गया : 1. उत्तम 2. मध्यम 3. निम्न।

भू-राजस्व का निर्धारण : एक दर तालिका भू-राजस्व के निर्धारण के लिए बनायी गयी। उस दर तालिका को रय के नाम से जाना जाता था। भू-राजस्व के निर्धारण में निचले स्तर पर बीघा को और ऊँचे स्तर पर परगना को इकाई माना जाता था। भू-राजस्व के निर्धारण के लिए संबंधित क्षेत्र के दस वर्षों के उत्पादन का औसत निकाला जाता था। यह औसत 1571 और 81 के बीच के वर्षों को बनाया गया था। जब्ती व्यवस्था में भू-राजस्व का निर्धारण करते समय नाबाद क्षेत्र (जिसमें फसल न हुयी हो) को छोड़ दिया जाता था।

अनाजों का नगद में परिवर्तन : स्थानीय बाजार के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए अनाजों के नगद में परिवर्तन के लिए साम्राज्य को दस्तूर में बाँट दिया जाता था और प्रत्येक दस्तूर में अनाजों के मूल्यों के दस वर्षों का औसत निकाला जाता था। नगदी फसलों में नील, पान, हल्दी और पोस्त अपवाद था। उनकी दरें कुछ अच्छे वर्षों की फसल को ध्यान में रखकर तय की जाती थी।

भू-राजस्व का संग्रह : सरकारी अधिकारियों को भू-राजस्व के संग्रह के लिए 'दस्तूर अल अमल' (निर्देश) दिया जाता था। भू-राजस्व की वसूली करने वाले अधिकारी में सरकार के स्तर पर

अमाल गुजार और परगने के स्तर पर आमिल होता था। कानूनगो प्रत्येक परगने में होता था जो गाँव के पटवारियों का प्रमुख होता था। गाँव भू-राजस्व के संग्रह में सबसे छोटी इकाई था। ग्रामीण अधिकारियों में मुकद्दम और पटवारी होता था। मुकद्दम गाँव का मुखिया होता था ओर अपनी सेवा के बदले उसके द्वारा वसूले गये राजस्व में से उसे 2.5 प्रतिशत प्राप्त होता था। एक प्रमुख अधिकारी अमीन था। अमीन का पद शाहजहाँ के शासन काल में आया। अमीन का मुख्य कार्य भू-राजस्व का निर्धारण था। भू राजस्व की दर सामान्यत: कुल उपज की 1/3 थी। किंतु मोरलैण्ड और इरफान हबीब का मानना है कि भू राजस्व की दर उत्पादन का आधा या तीन चौथाई थी। कश्मीर में अकबर ने कुल उत्पादन के आधे भाग की वसूली का आदेश दिया था। इस मामले में औरंगजेब ने स्पष्ट घोषणा की कि भू-राजस्व शरियत के अनुसार कुल उत्पादन के आधे से अधिक नहीं होना चाहिए। जब्ती या आइन-ए-दहशाला आगरा, लाहौर और गुजरात में लागू की गयी। अन्य पद्धतियाँ भी जब्ती प्रणाली के अतिरिक्त प्रचलित थीं। उदाहरण के लिए बँटाई या गल्लाबख्शी निगार-नामा-ए-मुंशी के अनुसार फसल बँटवारे को सर्वोत्तम प्रणाली कहा गया है।

नसक या कानकूत प्रणाली भी इसके अतिरिक्त प्रचलित थी। कानकूत संभवत: व्यक्तियों पर न लगाकर व्यक्तियों के समूह पर लगाया जाता था। सम्पूर्ण साम्राज्य का विभाजन खालिसा, जागीर, सयूरगल या मदद-ए-माश में होता था। मदद-ए-माश की देख-भाल सद्र-उस-सुद्र के अंतर्गत एक विभाग करता था।

वजीफा नकद सहायता को कहा जाता था। इस प्रकार के अनुदान पाने वाले व्यक्ति का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था। अकबर ने इस प्रकार के अनुदान पर 100 बीघा प्रति व्यक्ति की सीमा निर्धारित की। अकबर ने कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए आधी खेती योग्य भूमि और आधी जुती या बंजर भूमि देने की प्रथा चलाई। अनुदान प्राप्तकर्त्ता को पूरे जीवन के लिए अनुदान प्राप्त होता था और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अनुदान की नवीनीकरण के लिए आवेदन कर सकते थे। उत्तराधिकारियों को आम तौर पर अनुदान का एक अंश प्राप्त होता था। जहाँगीर के द्वारा अकबर के दिये गये अनुदानों का नवीनीकरण किया गया।

परन्तु शाहजहाँ के द्वारा इसकी सीमा 30 बीघा और औरंगजेब के द्वारा इसकी सीमा 20 बीघा कर दी गई। अपने शासन के 30वें वर्ष में सारे अनुदानों को आनुवांशिक बना दिया। किंतु उसने उन अनुदानों को एक प्रकार का ऋण माना न कि संपत्ति। उसके शासन के उत्तरार्ध में और उसकी मृत्यु के बाद अनुदान प्राप्तकर्त्ता जमीन को खरीदने बेचने या हस्तांतरित करने लगे। इस कारण धीरे-धीरे इन अनुदानों का अधिकार-क्षेत्र जमींदारी अनुदानों के समकक्ष हो गया। इस प्रकार के अनुदानों का राजस्व अकबर के शासन-काल में कुल राजस्व का 5.84 प्रतिशत हो गया। अधिकांश अनुदान उपरी गंगा प्रदेश अर्थात् दिल्ली और इलाहाबाद के क्षेत्र में थे।

उन परगनों में लगभग 70 प्रतिशत सयुरगल अनुदान केन्द्रित थे जो गैर मुसलमानों जमींदार के अधिकार में थे। एक दूसरे प्रकार का अनुदान वक्फ कहलाता था जो धार्मिक कार्यो के लिए दिया जाता था। इसकी आमदनी मकबरों, समाधियों एवं मदरसों के रख-रखाव पर खर्च होती थी। बंजर भूमि को 'मदद ए मास' अनुदान की सहायता से विकसित करने में मदद की जाती थी। 18वीं शताब्दी के आरंभ तक ये अनुदान सभी प्रकार के लेन-देन में जमींदार भूमि के रूप में प्रयुक्त किए

जाने लगे। जमींदार दो शब्दों से बना है–जमीन (भूमि) और दार (ग्रहण करना)। मुगल काल से पहले जमींदार शब्द का प्रयोग इलाके के प्रधान के लिए किया जाता था किंतु अकबर के समय से यह शब्द किसी भी व्यक्ति के उत्पादन से सीधा हिस्सा ग्रहण करने के लिए आनुवांशिक दावों के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा था।

कई स्थानीय शब्द जमींदार शब्द के प्रचलित थे :–उदाहरण के लिए दोआब में खूत और मुकद्दम अवध में राजस्थान और गुजरात में बैठ या वन्ठ। जमींदारी का मतलब भूमि पर संपत्ति का अधिकार नहीं था। यह मात्र भूमि उत्पादन पर जमींदारों का दावा था जो राज्य के भू-राजस्व के साथ-साथ था किंतु उसका क्रय-विक्रय किया जा सकता था। यह अनुवांशिक एवं विभाज्य था। भू-राजस्व की वसूली का अधिकार जब जमींदारों को नहीं दिया जाता था वहाँ भी उन्हें मालिकाना के रूप में भू-राजस्व का 10 प्रतिशत प्राप्त हो जाता था।

इसके अतिरिक्त वे दस्तूरी सुमारी (पगड़ी), खान सुमारी (गृहकर) विवाह, जन्म आदि पर भी कर लगाते थे। 'आइन ए अकबरी' के अनुसार मुगल साम्राज्य में जमींदारों की सेना में 44 लाख से अधिक सिपाही थे। बंगाल में उनके पास हजारों नावें थीं। उनकी स्थिति स्वायत्त शासकों की तरह थी। वे राजा, राव, राणा, रावत आदि कहलाते थे। परगने का अधिकारी चौधरी होता था और परगने के अन्य जमींदारों से कर वसूलता था। अपने परंपरागत नानकार के अतिरिक्त चौधरियों का वसूले गये भू-राजस्व में भी अलग से हिस्सा मिलता था जिसे चौधराई कहा जाता था जो कुल राजस्व का 2.5 प्रतिशत होता था। चौधरी की नियुक्ति जमींदारों के विपरीत राज्य द्वारा होती थी और उसे ठीक ढंग से काम न करने पर किसी समय हटाया जा सकता था।

आनुवांशिक पदाधिकारी प्रत्येक गाँव में होता था। गाँव का मुखिया उत्तर भारत में मुकद्दम तथा पटेल कहलाता था। उसे गाँव में राजस्व मुक्त भूमि मिलती थी और वसूले गये राजस्व में नगद हिस्सा मिलता था। लेखपाल भी उनकी सहायता के लिए होते थे जो उत्तर भारत में पटवारी तथा दक्षिण भारत में कुलकर्णी कहलाते थे। मुकद्दम और पटवारी के पद तथा उनसे जुड़े हुए अधिकार वंशानुगत होते थे। कृषकों के भूमि संबंधी अधिकार स्पष्ट नहीं थे, जब तक वे खेती करते थे तब तक उनका अधिकार होता था। धनी किसानों को उत्तर भारत में खुदकाश्त, राजस्थान में घरहुल और महाराष्ट्र में मिरासदार कहा जाता था। उत्तर भारत में उसी तरह गरीब किसानों को रेजा और रियाजा, राजस्थान में पालती और महाराष्ट्र में कुन्वी कहा जाता था। किसान वर्ग के विभाजन का केवल आर्थिक ही आधार नहीं होता था। गाँव के स्थायी निवासी उत्तर भारत में खुदकाश्त, महाराष्ट्र में मिरासदार ओर दक्कन में थालकर कहा जाता था और अस्थायी निवासी को उत्तर भारत में पाहिकाश्त और महाराष्ट्र में उपरी कहा जाता था।

खुदकाश्त : वे किसान जो अपनी भूमि पर खेती करते थे।

पाहिकाश्त : जिनके पास अपने हल बैल होते थे और वे दूसरे गाँव में जाकर खेती करते थे।

मुजारियन : बटाईदारों जैसी उनकी स्थिति होती थी और वे प्रायः इनाम की भूमि पर काम करते थे।

पर्शियन व्हील का सिंचाई के लिए प्रयोग होता था। कुएँ से जल निकालने के लिए लीवर का प्रयोग होता था।

'आइन-ए-अकबरी' में 17 रबी फसल और 26 खरीफ फसल बताये गये हैं।

कलम लगाने की प्रणाली मुगल काल में विकसित हुई। मुगल काल में खरीफ फसल के साथ-साथ रबी फसल का भी महत्त्व बढ़ने लगा। सभी मुगल शासकों में शाहजहाँ ने दो नहरें बनवायी 1. नहर फैज 2. शाही नहर।

16वीं शताब्दी में पुर्त्तगाली ने तंबाकू को भारत में लाये और महाराष्ट्र में तंबाकू की खेती शुरू हुई। ज्वार की खेती 17वीं शताब्दी में शुरू हुई। 18वीं सदी में मक्का की खेती महाराष्ट्र एवं पूर्वी राजस्थान में प्रारंभ हुई। कॉफी का उत्पादन 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ और 18वीं सदी में आलू, लाल मिर्च और टमाटर की खेती शुरू हुई। अमेरिका को तंबाकू, अन्नानास, काजू, आलू का निर्यात होता था। मध्य एशिया को तरबूजा, अमरूद, खरबूजा का निर्यात होता था। लैटिन अमेरिका को मक्का का निर्यात होता था। जिंस-ए-कामिल या 'जिंस-ए-आला' नकदी फसल को कहा जाता था। नकदी फसलों में सबसे अधिक खेती गन्ना की होती थी। फिर कपास, नील, अफीम और तंबाकू की खेती होती थी। अमेरिका से पुर्तगालियों द्वारा अन्नानास, पपीता और काजू लाए गये थे। काबुल से चेरी लाई गयी और उसका कलम लगाकर कश्मीर में उसकी खेती शुरू की गई।

1550 ई. में कलम लगाने की पद्धति विकसित हुई। बयाना और सरखेज के नील की माँग सबसे अधिक थी। आगरा के निकट बयाना में उपजाया जाने वाला नील उत्तम कोटी का माना जाता था ओर उसका मूल्य भी ज्यादा होता था। बिहार तथा मालवा में अच्छे प्रकार के अफीम की खेती होती थी। काली मिर्च, लौंग, इलायची, अदरख और हल्दी बड़े पैमाने पर उगाया जाता था।

वाणिज्य ओर व्यापार का मुगल काल में विकास हुआ। इसकी वजह यह थी कि काबुल और कंधार कुषाण काल के बाद पहली बार भारतीय साम्राज्य के अंतर्गत आया। व्यापारिक कारवां कंधार से पश्चिम एशिया के लिए जाते थे। मुल्तान भी व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र था। लाहौर और बुरहानपुर भी व्यापारिक केन्द्र थे। लाहौर एक तरफ काबुल और कंधार से जुड़ा हुआ था तो दूसरी और दिल्ली और आगरा से जुड़ा हुआ था।

संदर्भः

- मध्यकालीन भारतः सतीश चन्द
- S.R. Bakshi and S.K. Sharma: Society, Culture and Administration in Mughal India, Deep & Deep, 2000
- S.P. Verma: Aspects of Mughal Painting, Vol. I. Expressions and Impressions, Abhinav Pub, 2009
- Sanjeev P. Srivastava: Jahangir : A Connoisseur of Mughal Art, Abhinav, 2001
- H.S. Bhatia: Mughal Empire in India : Their Political, Legal, Social, Cultural, Religious and Military Systems, Deep and Deep, 2001
- Susan Stronge: Made for Mughal Emperors : Royal Treasures from Hindustan, Roli Books, 2010

इतिहास

मौर्यकालीन समाज का ऐतिहासिक मूल्यांकन

डॉ॰ अनूप कुमार भारती

प्राचीन भारतीय एवं एशियाई विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

ईसा से पहले की पाँच शताब्दियों में भारतीय इतिहास में जिन प्रमुख व्यक्तियों ने देश की गतिविधि और परिवर्त्तन की विविध धाराओं को सबसे अधिक प्रभावित किया, उनमें सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक का एक विशिष्ट स्थान है। मगध साम्राज्यवाद के उदय ने अंतत: मौर्य साम्राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। मौर्यो ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर राजनीतिक एकता स्थापित की। भारतीय इतिहास में मौर्यकाल का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। मौर्यो ने राजनीतिक एकीकरण के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक और धार्मिक क्षेत्रों के अभ्युदय तथा कला कौशल के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

मौर्य शासकों ने न सिर्फ एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, बल्कि इसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था भी कायम की। इस व्यवस्था में शक्ति का केन्द्रीकरण राजा में हुआ। मौर्य प्रशासन का उद्देश्य राज्य को स्थायित्व प्रदान करना एवं अधिक से अधिक कर वसूल कर एवं लोक कल्याणकारी कार्य करना था। इस प्रशासन की शुरूआत चंद्रगुप्त मौर्य के समय में हुई, परंतु यह व्यवस्था बाद में भी परिवर्त्तित एवं संशोधित रूप में चलती रही। अशोक ने प्रशासन को ज्यादा लोकहितकारी बनाने का प्रयास किया। मौर्य प्रशासन की जानकारी हमें मेगास्थनीज की इंडिका, कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों से मिलती है।

मौर्यो के शासनकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की एवं चक्रवर्त्ती सम्राट का आदर्श चरितार्थ किया। मौर्य युग में राजतंत्र के सिद्धांत की महत्ता थी। इस युग में गणराज्यों का ह्रास होने लगा और शासन सत्ता अत्यधिक केंद्रित हो गई। मौर्यकाल में राजा की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। परंपरागत राजशास्त्र सिद्धांत के अनुसार राजा धर्म का रक्षक है, धर्म का प्रतिपादक नहीं। राजशासन की वैद्यता इस बात पर निर्भर थी कि वह धर्म के अनुकूल हो, किंतु कौटिल्य ने इस दिशा में एक नया प्रतिमान प्रस्तुत किया। कौटिल्य के अनुसार राजशासन धर्म, व्यवहार, और चरित्र (लोकाचार) से ऊपर था। इस प्रकार राजाज्ञा को प्रमुखता दी गई। इस बढ़ती हुई प्रभुसत्ता के कारण ही अशोक के समय राजतंत्र ने पैतृक निरंकुशता का रूप धारण किया। सम्राट अशोक के अभिलेख में वर्णित है कि वे सारी प्रजा को समान मानते थे, उनके ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए स्वयं को उत्तरदायी समझते थे और प्रजा को उचित कार्य करने का उपदेश देते थे।

चूँकि शासन का केन्द्रबिंदु राजा था, अत: इतने बड़े साम्राज्य के शासन संचालन के लिए यह आवश्यक था कि राजा उत्साही, स्फूर्तिवान, उद्यमी और प्रजाहित के कार्यो के लिए सदा तत्पर हो। चन्द्रगुप्त एवं अशोक दोनों मौर्य सम्राटों में ये गुण प्रचुर मात्र में विद्यमान थे। चन्द्रगुप्त की कार्य

तत्परता के संबंध में मेगास्थनीज ने लिखा है कि राजा दरबार में बिना व्यवधान के कार्यरत रहता था। कौटिल्य ने कहा है कि, ''जब राजा दरबार में ही बैठा हो तो उसे प्रजा से बाहर प्रतीक्षा नहीं करवानी चाहिए, क्योंकि जब राजा प्रजा के लिए दुर्लभ हो जाता है और काम अपने मातहत अधिकारियों के भरोसे छोड़ देता है, तो वह प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा करता है। इन परिस्थितियों में राजा के राजनीतिक शत्रुओं के षड्यंत्र का शिकार हो जाने की आशंका पैदा हो जाती है।'' अशोक ने अपने छठे अभिलेख में भी कहा है कि वह प्रजा के कार्य के लिए प्रतिक्षण और प्रत्येक स्थान पर मिल सकते है और प्रजा की भलाई के लिए कार्य करने में उसे बड़ा संतोष मिलता है।

राजा ही राज्य की नीति निर्धारित करता था और अपने अधिकारियों को राजाज्ञाओं द्वारा समय-समय पर निर्देश दिया करता था। चन्द्रगुप्त के समय में गुप्तचरों के माध्यम से दूरस्थ प्रदेशों में शासन कर रहे अधिकारियों पर सम्राट का पूरा नियंत्रण रहता था। अशोक के समय पर्यटक, महामात्रों, राजुको, प्रादेशिकों, पुरुषों तथा अन्य अधिकारियों का सहायता लेते थे। कौटिल्य का दृढ़ मत था कि राजस्व संग्रह बिना योजना के संभव नहीं है, अतः राजा को सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उनसे मंत्रणा लेनी चाहिए। राज्य का सर्वोच्च अधिकारी मंत्री कहलाते थे। इनकी संख्या तीन या चार होती थी। ये मंत्री एक प्रकार से अंतरंग मंत्रिमंडल के सदस्य थे। राज्य के सभी कार्यो पर इस अंतरंग मंत्रिमंडल में विचार-विमर्श होता था और उनके निर्णय के पश्चात् ही कार्यारंभ होता था। मंत्रिमंडल के अतिरिक्त एक मंत्रि-परिषद् भी होती थी। जहाँ तक मंत्रियों और मंत्रि-परिषद् के अधिकार का प्रश्न है, उनका मुख्यकार्य राजा को परामर्श देना था। वे राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखते थे किंतु मंत्रियों का प्रभाव बहुत कुछ उनकी योग्यता और कर्मठता पर निर्भर करता था। भले ही राजा किसी भी कार्य के लिए मंत्री या परिषद् के सदस्यों के परामर्श से काम करता था परंतु अंतिम निर्णय राजा के ही हाथ में था।

शासन कार्य का भार मुख्यतः एक विशाल वर्ग पर था जो साम्राज्य के विभिन्न भागों से शासन का संचालन करते थे। अर्थशास्त्र में ऊँचे स्तर के कर्मचारियों को ''तीर्थ'' कहा गया है। इस समय कुल अठारह तीर्थो का उल्लेख है। इन्हीं में से किसी का कार्य राजस्व एकत्र करना, आय-व्यय का ब्यौरा रखना तथा वार्षिक बजट तैयार करना था, तो किसी का कार्य साम्राज्य में विभिन्न प्रदेशों में कोषगृह और कोष्ठागार बनवाना और नकद तथा अन्न के रूप में प्राप्त होने वाले राजस्व की रक्षा करना था। केन्द्रीय शासन का एक महत्वपूर्ण विभाग सेना विभाग था। इस विभाग का संगठन 6 समितियों के हाथ में था। सेना के यातायात तथा युद्ध सामग्री की व्यवस्था समिति द्वारा की जाती थी।

सम्राट न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिए अनेक न्यायालय थे। इस समय ग्राम संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालय दो प्रकार के थे धर्मस्थीय और कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालय का कार्य न्याय निर्णय देना था। इस न्यायालय को दीवानी अदालते भी कहा जाता था। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार कंटकशोधन न्यायालय एक नए प्रकार के न्यायालय थे, जो मौर्य साम्राज्य की अधिकाधिक जटिल सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए गए थे ताकि एक अत्यंत संगठित शासन तंत्र के विविध विषयों से संबद्ध निर्णयों को कार्यान्वित किया जा सके। ये एक प्रकार के विशेष न्यायालय थे जहाँ अभियोगो पर तुरंत विचार किया जाता था।

मौर्यकाल में शासन करने की सुविधा की दृष्टि से राज्य को कई प्रशासनिक ईकाइयों में बाँटा गया था। सबसे बड़ी प्रशासनिक ईकाई ''प्रांत'' थी। चन्द्रगुप्त के समय इन प्रांतो की संख्या क्या थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु अशोक के समय पाँच प्रांतो का उल्लेख मिलता है। प्रांतों का शासन वाइसराय रूपी अधिकारी द्वारा होता था। केन्द्रीय शासन की ही भाँति प्रांतीय शासन में भी मंत्रिपरिषद् होती थी।

मौर्य साम्राज्य जैसे विस्तृत साम्राज्य के संचालन के लिए धन की आवश्यकता रही होगी, इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं है। वास्तव में इस युग में पहली बार राजस्व प्रणाली की रूपरेखा तैयार की गई और इसके पर्याप्त विवरण कौटिल्य ने भी दिए है। राज्य की आय के प्रमुख स्रोतों में कृषि, व्यापार एवं उद्योग से मिलने वाले कर प्रमुख थे एवं उनके अतिरिक्त अनेक व्यवसाय ऐसे थे जिन पर राज्य का पूर्ण आधिपत्य था और जिसका संचालन कर राज्य का भरण-पोषण किया जाता था। यद्यपि मौर्य साम्राज्य में सैनिकों पर अत्यधिक खर्च किया जाता था, तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस शासन व्यवस्था में कल्याणकारी राज्य की कई विशेषताएँ मौजूद थी, उदाहरण स्वरूप- राजमार्गों के निर्माण, सिंचाई का प्रबंध, पेय जल की व्यवस्था, कृपण, दीन, अनाथो का भरण-पोषण इत्यादि। अशोक के समय में कृपण, दीन, अनाथों का भरण-पोषण जैसे परोपकारी कार्यो की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई।

कौटिल्य के अनुसार वर्ण व्यवस्था ही सामाजिक संगठन का आधार है। मौर्यकाल तक आते-आते वर्णाश्रम व्यवस्था को एक निश्चित आधार प्राप्त हो चुका था। वर्ण कठोर होकर जाति के रूप में बदल गये जिसका आधार जन्म था। प्रत्येक वर्ण की स्थिति और उनके कर्त्तव्यों का ब्योरा अर्थशास्त्र में भी दिया गया है। धर्मशास्त्रों के अनुसार कौटिल्य ने भी चारो वर्णो के व्यवसाय निर्धारित किए, किंतु शुद्र को शिल्पकला और सेवावृति के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से आजीविका चलाने की अनुमति दी है। निश्चित है कि इस व्यवस्था से शुद्र के आर्थिक सुधार का प्रभाव उसकी सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा होगा। वैश्यों के सहायक के रूप में अथवा स्वतंत्र रूप में शुद्र भी कृषि, पशुपालन तथा व्यापार किया करते थे। इस समय वर्ण व्यवस्था की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। वर्ण व्यवस्था भंग होने पर संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जाती, जिसका प्रभाव राज्य के अस्तित्व पर भी पड़ता है, इसलिए राजा को वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की सलाह दी गई और इसके साथ ही साथ चारों वर्णो के व्यवसाय भी निर्धारित किये गये, जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक था।

समाज में अब भी ब्राह्मण विशिष्ट स्थान रखते थे, किंतु मनु तथा पूर्वगामी धर्मसूत्रों की भाँति इस तथ्य को बार-बार दुहराने का प्रयास कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नहीं किया गया है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती है कि ब्राह्मण समाज का बौद्धिक और धार्मिक नेतृत्वकर्त्ता थे, वे ही शिक्षक और पुरोहित भी होते थे। ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ करवाए जाने का उल्लेख मेगास्थनीज ने भी किया है। राजा के पुरोहित और कानून मंत्री अधिकांश इसी वर्ग से नियुक्त किये जाते थे, उन्हें आर्थिक और कानून संबंधी विशेषाधिकार प्राप्त थे। राजा द्वारा शिक्षकों, यज्ञ कराने वाले पुरोहितों तथा वेदपाठी ब्राह्मणों को भूमि दान में दी जाती थी। इसी भूमि को ''ब्रह्मदेय'' कहा जाता था और यह पूर्णत: कर मुक्त थी। इस प्रकार देखते है कि ब्राह्मणों की समाज में बहुत पहले से चली आ रही प्रधानता का इस व्यवस्था में भी कोई विरोध नहीं किया गया।

कौटिल्य ने ब्राह्मणादि चार वर्णो के अतिरिक्त अनेक वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख किया है। जिनकी उत्पत्ति धर्मशास्त्रों की भाँति विभिन्न वर्णो के अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों में बताई गई है। इन जातियों में प्रमुख अम्बष्ट, निषाद, पारशव, रथकार, क्षत्ता, वैदेहक, मागध, सूत, पुल्लकस, वेण, चांडाल, श्वपाक इत्यादि है। चांडाल और श्वपाको को अछूत माना जाता था तथा उन्हें बस्तियों से बाहर श्मशान के निकट रहने को कहा गया था। कौटिल्य ने चांडालो के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णसंकर जातियों को शुद्र माना है। इनके अतिरिक्त तंतुवाय (जुलाहे), रजक (धौबी), दर्जी, सुनार, लुहार, बढ़ई आदि व्यवसाय पर आधारित वर्ग, जाति का रूप धारण कर चुके थे। अशोक के शिलालेखों में दास और कर्मकर का उल्लेख है, जो शुद्र वर्ग के अंदर ही समाविष्ट किए जाते थे।

जातिप्रथा की कुछ विशेषताओं की पुष्टि मेगास्थनीज की इंडिका से होती है। मेगास्थनीज के अनुसार, कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता था और न उससे भिन्न पेशा ही अपना सकता था, परंतु दार्शनिक इसके अपवाद थे। जो किसी भी वर्ग से हो सकते थे। मेगास्थनीज का यह वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर किया गया था। इससे न तो ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित चारों वर्णो का बोध होता है और न तत्कालीन समाज की बहुसंख्यक जातियों की ही सूचना मिलती है। इस तरह से देखते है कि केवल ब्राह्मणों को ही अपनी विशेष स्थिति के कारण किसी भी प्रकार के व्यवसाय में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त था। धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणों को अपातकाल में क्षत्रिय तथा वैश्य का व्यवसाय अपनाने की अनुमति दी गई है।

इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज द्वारा भारतीय समाज का वर्गीकरण, भारतीय ग्रंथों में वर्णित वर्गीकरण से भिन्न है। मेगास्थनीज ने भारतीय समाज को सात जातियों में विभक्त किया है- दार्शनिक, किसान, अहीर, कारीगर या शिल्पी, सैनिक, निरीक्षक, सभासद तथा अन्य शासक वर्ग। मेगास्थनीज का यह वर्णन भारतीय वर्णव्यवस्था या जातिव्यवस्था से मेल नहीं खाता है। दार्शनिकों की जाति को मेगास्थनीज दो श्रेणियों में विभक्त करता है - ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मणों की वृर्ति के संबंध में मेगास्थनीज लिखता है कि यज्ञ, अंत्येष्टि क्रिया तथा अन्य धार्मिक कृत्य करवाने के बदले में उन्हें बहुमूल्य दक्षिणा मिलती थी। श्रमणों को भी दो श्रेणियों में बाँटा गया, एक वे जो वनों में रहते थे और कंद, मूल, फलों पर आजीविका चलाते थे, उन्हें वानप्रस्थ आश्रम से संबंद्ध माना जाता था। दूसरी श्रेणी के श्रमण वे थे, जो आयुर्वेद में कुशल होते थे और समाज में सम्मानित थे। मौर्यकालीन भारतीय समाज का जो सप्तवर्गीय चित्रण मेगास्थनीज ने प्रस्तुत किया है, उनमें जाति, वर्ण और व्यवसाय के अंतर को भुला दिया गया है। संभवत: यह माना जा सकता है कि एक विदेशी होने के कारण मेगास्थनीज भारतीय समाज की जटिलतओं को समझने में असमर्थ था।

इतना ही नहीं मेगास्थनीज ने कहा है कि भारत में कोई दास प्रथा नहीं थी और एरियन तथा स्ट्रेबो दोनो ने भी इस मत का समर्थन किया है। इसके विपरीत बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है ऐसे दास जो अपने पिता से उत्तराधिकार में दासता प्राप्त करते थे, ऐसे दास जो खरीदे जाते थे या उपहार में प्राप्त होते थे तथा ऐसे दास जो दासों के घरों में जन्म लेते थे। इसी प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा गया है कि आर्य अस्थाई विपत्तियों के कारण दास के रूप में कार्य कर सकता है। इस स्थिति के कारण कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्यकालीन वर्ण व्यवस्था दास प्रथा पर निर्भर थी। इन संबंधों के विस्तृत विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दास प्रथा यूनानी गुलाम प्रथा से सर्वथा भिन्न थी और इसी कारण मेगास्थनीज ने भारत में दास प्रथा न होने की बात कही

है। बौद्ध साहित्य के संदर्भो से पता चलता है कि दास का उपयोग घर के कामों के लिए किया जाता था, न कि उसका उपयोग उत्पादक के लिए किया जाता था। उन्हें निष्पादित कार्य के आधार पर मजदूरी दी जाती थी। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि एक दास को डेढ़ पण प्रति महीना दिया जाता था और उसे तथा उसके परिवार को भोजन दिया जाता था। इस प्रकार मौर्यकाल में घरेलू दास प्रथा प्रचलित थी, किन्तु दास प्रथा निश्चय ही मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था का आधार नहीं थी।

मौर्यकाल में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन सुख शांति का था। इस समय समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। सामाजिक नियमों के पालन पर बल दिया जाता था। इस समय समाज में व्याप्त अपराधों, व्याभिचार, अपहरण, बलात्कार इत्यादि को रोकने के लिए अनेक उपाय किये जाते थे और अपराधियों को कड़ी सजाएँ दी जाती थी। परिवार में स्त्रियों की स्थिति स्मृतिकाल की अपेक्षा अब अधिक सुरक्षित थी। उन्हें पुनर्विवाह तथा नियोग की अनुमति थी, किन्तु फिर भी मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति काफी उन्नत नहीं कही जा सकती है। उन्हें बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकती थी। संभ्रांत घर की स्त्रियाँ प्राय: घर के अंदर ही रहती थी। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियों को ''अनिष्कासिनी'' कहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से सती प्रथा के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इस समय धर्मशास्त्र इस प्रथा के विरुद्ध थे। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों में भी इसका उल्लेख नहीं है किन्तु यूनानी लेखको ने उत्तर-पश्चिम में सैनिकों की स्त्रियों के सती होने का उल्लेख किया है। योद्धा वर्ग की स्त्रियों में सती की वह प्रथा प्रचलित रही होगी। मौर्य युग में भी बहुत सी ऐसी स्त्रियाँ थी जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर गणिका या वैश्या के रूप में जीवनयापन करती थी। स्वतंत्ररूप से वेश्यावृति करने वाली स्त्रियाँ ''रूपाजीवा'' कहलाती थी। इनसे राज्य को आय होती थी। इनके कार्यो का निरीक्षण गणिकाध्यक्ष तथा एक राजपुरुष करता था। इस समय स्त्रियों से गुप्तचरी का काम भी लिया जाता था।

संदर्भ:

1. राधा कुमुद मुखर्जी- चंद्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स
2. सत्यकेतु विद्यालंकार - मौर्य साम्राज्य का इतिहास
3. मैक्रिंडिल - एश्येंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज ऐंड एरिअन
4. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
5. हेमचंद्र राम चौधरी - पोलिटिकल हिस्ट्री औव ऐशेंट इंडिया
6. दि एज ऑव इंपीरियल यूनिटी (र.च. मजमूदार एवं अ.द. पुसालकर संपादित)
7. एज ऑव नंदाज ऐंड दि मौर्याज (के.ए. नीलकंठ शास्त्री संपादित)
8. द कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया (ई.आर. रैप्सन संपादित)

विवेकानन्द का मानवीय दृष्टिकोण का वर्तमान संदर्भ में मूल्यांकन

सुनील कुमार पाण्डेय

शोध छात्र, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

विवेकानन्द के लिए समाजवाद, मानव एकता तथा दैविकता के साध्य की प्राप्ति के लिए केवल एक साधन मात्र था। मानव की एकता तथा विकास को सुनिश्चित करने के लिए, उनके लिए वर्ग-एकता तथा प्रेम की बात करना स्वाभाविक था। सभी समाजवादी तथा मानवतावादी विचारकों की मानव समता तथा एकता में आस्था रही है। समाजवादी विचारक मनुष्य को समाज के लिए एक साधन के रूप में देखता है, वहां मानवतावादी विचारक मानव प्रकृति की जगमगाती महिमा का बखान करता है। एक मानवतावादी विचारक के रूप में विवेकानन्द ने मानव को अपने आप में न केवल एक साध्य के रूप में देखा, बल्कि यह भी माना कि वह स्वभाव से ईश्वरीय शक्ति वाला भी है। उनका कहना था कि किसी मानव का आंकलन केवल उसके अभिव्यक्त रूप के संदर्भ में ही न करके उन आदर्शों के संदर्भ से भी किया जाना चाहिए जिनकी प्राप्ति में वह संलग्न रहता है।

मानवतावाद की विभिन्न व्याख्याएं की गई हैं। नेहरू ने भी वैज्ञानिक मानवतावाद की वकालत की। उनका कहना था कि मानवतावाद तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच एक बढ़ता हुआ सामंजस्य है, जिससे वैज्ञानिक-मानवतावाद का उदय होता है। मानवेन्द्र नाथ राय ने नवमानवतावाद अथवा अभिन्न मानवतावाद की वकालत की। उनका कहना था कि मानव तथा ब्रह्माण्ड विधि द्वारा नियंत्रित तथा आत्मनिर्भरता पर आधारित ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के अभिन्न अंग है। उनका नव-मानवतावाद यांत्रिक सृष्टि विज्ञान से मानवतावादी सामाजिक दर्शन तथा अप्रासांगिक सकारात्मक नैतिकता को खोज निकलता है। इसलिए इसे आध्यात्मिक मानवतावाद अथवा अद्वैत मानवतावाद के नाम से भी जाना गया है। विवेकानन्द का मानवीय द्वैत मानवता तथा दैविकता की एकता का बोध कराता है, मानव प्रकृति की पवित्रता का संरक्षण करता है, मनुष्य को ईश्वरीय शक्ति के रूप में देखता है, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों से संघर्ष करता है तथा व्यक्ति की क्षमता में आस्था रखता है। मानव प्रकृति की आध्यात्मिकता उसके मानवतावादी अद्वैत का आधार है।

उपनिषदों से प्रेरित विवेकानन्द ने मानवप्रकृति को पवित्र, स्वतंत्र तथा ईश्वरीय माना। उनका कहना था कि मानव प्रकृति में जो कुछ अच्छा तथा प्रबल है वह उसकी दैविकता का ही परिणाम है क्योंकि मानव प्रकृति अच्छा है, इसलिए मनुष्य नैतिक, सामाजिक तथा परमार्थवादी है। एक मानवतावादी समाज में सब समान व स्वतंत्र होते हैं। एक समान व स्वतंत्र समाज

विवेक को प्रोत्साहित करता है। विवेक के द्वारा मनुष्य अपनी गलतियों को सुधार सकता है तथा सभी प्रकार की अज्ञानता तथा बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्ति को समाज के साथ एकरूप होने के लिए विवश करता है। इस प्रकार, विवेकानन्द की मानव प्रकृति की पवित्रता की अवधारणा उसके विवेक की पवित्रता का बोध कराती है। जब तक व्यक्ति में विवेक पूरी तरह विकसित नहीं होता, तब तक समानता व स्वतंत्रता के आदर्शों का कोई महत्व नहीं होता। उदाहरण के तौर पर, कोई ऐसी स्वतंत्रता के आदर्शों का कोई महत्व नहीं होता। इसलिए, मानव का विवेक ही उसकी समानता व एकता को जोड़ देता है। इस प्रकार, विवेकानन्द की मानव प्रकृति की पवित्रता की अवधारणा में समान, स्वतंत्र तथा विवेकशील समाज का दर्शन है।

विवेकानन्द की मानव प्रकृति की पवित्रता की अवधारणा समाज तथा विश्व में व्यक्ति के स्थान को ऊपर उठाती है। उनका मानना था कि मानव से ऊपर तथा परे कुछ भी तो नहीं है। उनके अनुसार, मानव जो अपने आप में एक साध्य है उसे मानवता की सेवा का साधन भी बनना चाहिए। 'मानवता विवेकानन्द का भगवान है और समाजसेवा उसका धर्म'।

विवेकानन्द ने उन सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों के विरुद्ध क्रांति की, जिनसे व्यक्ति के विकास तथा समाज की सम्पूर्णता में बाधा आती थी। उन्होंने यह भी महसूस किया कि आर्थिक निर्धनता मानवतावाद के रास्ते में आती है। इसलिए उन्होंने निर्धनता के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। वह इसे अनैतिक तथा असामाजिक मानते थे। उनका उद्देश्य था : 'रोटी पहले, धर्म बाद में।'

विवेकानन्द ने तत्कालीन सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। वह उन सामाजिक हालात को बदलना चाहते थे जिनसे मानव के व्यक्तित्व का पतन होता है। उन्होंने वंशानुगत जातिप्रथा तथा उससे उत्पन्न होने वाली छुआछूत, जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों में बाधा बनती है, का खण्डन किया।

छुआछूत से सामाजिक एकता व समागम के विकास को ठेस पहुंचती है। उन्होंने बाल-विवाह की भी निन्दा की, क्योकि वह यह जानते थे कि ऐसी सामाजिक बुराइयों से मानव-विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुंचती है। विवेकानन्द की मानव-विवेक में आस्था थी। उन्होंने वेदों का आंकलन भी व्यक्ति के विवेक तथा औचित्य के आधार पर किया। उनका विचार था कि धर्मग्रन्थों के अध्ययन से हठधर्मिता तथा कट्टरता बढ़ती है तथा व्यक्ति की विवेकशीलता लुप्त हो जाती है। इसलिए उन्होंने धार्मिक प्रभुत्व तथा अंधविश्वासों की खुलकर निन्दा की।

विवेकानन्द उस द्वंद्वात्मक धर्म के आलोचक थे, जो मानव को शाश्वत रूप से ईश्वर पर निर्भर मानता है। ऐसी मान्यता व्यक्ति में पाप की भावना जागृत करती है। एक वेदान्तवादी के नाते, उनका पाप की अवधारणा में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि एक साधु और एक पापी के बीच अन्तर केवल उनकी पारस्परिक आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति के स्तर का है।

वेदान्त में विवेकानन्द की आस्था ने उन्हें मानव समता तथा एकता का प्रवक्ता बना दिया। उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए लोगों की एकता को अनिवार्य माना। लेकिन उनका मानना था कि शोषित लोगों के उत्थान के अभाव में सामाजिक एकता की बात एक कल्पना मात्र होती है। इसलिए उन्होंने एक न्यायोचित समाज की स्थापना के लिए समाजवाद की वकालत की। उनके समाजवाद की अवधारणा वर्ग-सहयोग तथा एकता पर आधारित थी। इसलिए मानव एकता तथा

उत्थान की वकालत करना भी उनके लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार, उनका मानवतावाद, मानव-प्रकृति की पवित्रता की रक्षा करता है, मानव को परमात्मातुल्य मानता है, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों पर प्रहार करता है तथा व्यक्ति में विश्वास व शक्ति की भावना जगाता है। उनकी मानव एकता की अवधारणा, उनके समाजवाद तथा मानवतावाद की आधारशिला थी तथा उनकी सामाजिक व राजनैतिक गतिविधियों में अपना निर्णायक स्थान रखती थी।

हीगल, ग्रीन अथवा बोसान्के की तरह, विवेकानन्द भी राज्य को राष्ट्र के समरूप मानते थे। वह तो भारत के सभी लोगों को एकत्रित करके राष्ट्र की गरिमा का पुनर्निर्माण करना चाहते थे। उनका राज्य का सिद्धान्त वेदान्त का तर्कसंकत उप-सिद्धान्त ही है। वेदान्त के अनुसार, मानव जीवन का उद्देश्य है आनन्दपूर्ण समाज का निर्माण। उनके आदर्श राज्य में व्यक्ति को स्वयं आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग पर चलना होगा। लेकिन, मनुष्य को समाज के सदस्यों के तौर पर वे सारी शर्तें पूरी करनी पड़ेंगी, जिनसे संघर्ष, विवशता, शोषण तथा अन्याय के अवसर कम हों तथा आध्यात्मिक विकास तथा नैतिक मूल्यों को अमल में लाने के अवसर बढ़ें।

उन साधनों में से, जिनका प्रयोग समाज अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है, राज्य सर्वप्रमुख है। राज्य समाज के सामान्य आर्थिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक हितों का पोषण करके समाज की सहायता करता है। इस सन्दर्भ में वह इन पुनीत उद्देश्यों की पूर्ति का एक साधन है। वह समाज में न्याय, न्यायपूर्ण व्यवहार, ईमानदारी तथा शांति की स्थापना कर सकता है। समाज के एक अंग के रूप में राज्य के हित, नागरिकों के हितों सें अलग नहीं हो सकते।

राज्य व्यक्तियों से बनता है। यदि राज्य को सदाचारी बनाना है तो व्यक्तियों में सदाचार की भावना जागृत करनी होगी। इसके अभाव में, राज्य न तो महान ही बन पाएगा और नहीं समृद्ध। किसी भी राष्ट्र का स्तर उसके सदस्यों के चरित्र तथा गुणों पर निर्भर करता है। व्यक्तियों की ताकत में ही राष्ट्र की ताकत है। इसलिए हर व्यक्ति, जो राज्य का भला चाहता है, उसे अपने चरित्र का निर्माण करना चाहिए तथा बहादुरी, शक्ति तथा आत्म-सम्मान जैसे गुणों को ग्रहण करना चाहिए। स्पष्ट है कि विवेकानन्द ने भारतवासियों को आत्मनिर्भरता तथा आत्मविश्वास की वह शिक्षा दी जिसे उन्होंने स्वयं पूर्व तथा पश्चिम दोनों से समान रूप में ग्रहण किया था।

विवेकानन्द का मानना था कि लोग आत्मनिर्भर तभी होंगे जब उनमें आत्मविश्वास जागेगा। नौजवानों को चाहिए कि वे हीनभावना का त्याग करके अपने आत्मविश्वास को जगाएं। विवेकानंद का यह मानना था कि भारत के पतन का एक प्रमुख कारण उस पर थोपा गया वह विदेशी शासन था जिसने भारत के लोगों के देशप्रेम तथा संस्कृति पर कुठाराघात किया। जब तक उनमें अपने राष्ट्र के प्रति गर्व नहीं होगा तब तक उनमें आत्मनिर्भरता तथा आत्मविश्वास की भावना जागृत नहीं होगी। विवेकानन्द को अपने भारतीय होने पर गर्व था और वे चाहते थे कि अन्य भारतीयों के दिल व दिमाग में भी इसी तरह की भावना हो।

अगर स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन के विभिन्न पहलुओं पर गौर करें तो स्पष्ट होता है कि उनके दर्शन में विरोधभास है। वे पश्चिम की आलोचना उसके भौतिकवाद के संदर्भ से करते हैं तथा पूर्व की कट्टरता के आधार पर लेकिन मानवता की उन्नति के लिए इन दोनों के समन्वय की वकालत

भी करते हैं। शायद इसी कारण सामाजिक तथा राजनैतिक उद्धार के लिए वह कोई निश्चित दिशा नहीं दे पाये। उन्होंने विश्व के उस अद्वैतवादी रूप को पेश किया जिसमें चतुर्वर्ण पर आधारित सामाजिक जीवन का बहुलवादी दृष्टिकोण झलकता है। अद्वैतवाद के अनुसार विश्व में सत्य ही एकमात्र मौलिक वास्तविकता है जबकि बहुलवाद के अनुसार विश्व की रचना अनेकानेक बहुलताओं से मिलकर बनी है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि विवेकानन्द न तो सामाजिक बहुलवाद तथा आध्यात्मिक अद्वैतवाद के बीच सामंजस्य स्थापित कर पाये और न जातिप्रथा पर आधारित सामाजिक असमानता का चरम वास्तविकता के साथ समन्वय कर पाये।

संदर्भ:

- स्वामी विवेकानन्द: नरेन्द्र कोहली
- विवेकानन्द-एक जीवनी: स्वामी निखिलानन्द
- विवेकानन्द की जीवनी: रोमां रोलां
- विवेकानन्द चरित: श्री सत्येन्द्र नाथ मजूमदार

भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण और प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ॰ पवन कुमार

एम.ए. पीएच.डी., तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

क्रिप्स मिशन की असफलता एवं द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न गंभीर संकट को देखते हुए कांग्रेस ने अब फैसला किया कि अंग्रेजों से भारतीय स्वाधीनता की माँग मनवाने के लिए सक्रिय उपाय किए जाएं। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटि द्वारा 8 अगस्त, 1942 को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किए जाने के साथ ही इसकी तैयारी पूरी हो गई। 8 अगस्त की रात में कांग्रेसी प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए गाँधी जी ने कहा "अगर हो सके तो तत्काल, इसी रात प्रभात से पहले स्वाधीनता चाहता हूँ .....मैं पूर्ण स्वाधीनता से कम किसी चीज से सन्तुष्ट होने वाला नहीं हूँ। हम या तो भारत को स्वतंत्र करायेंगे या इस प्रयास में मारे जायेंगे, मगर हम अपनी पराधीनता को जारी रहते देखने के लिए जीवित नही रहेंगे।"

लेकिन 9 अगस्त को सुबह ही गाँधी जी और कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को डिफेंस ऑफ इंडिया एक्ट के तहत बंदी बना लिया गया और कांग्रेस को फिर एक बार गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। अपने गिरफ्तारी के समय गाँधी जी ने राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित कर लोगों से अपील की थी कि "लोग अपने को आजाद समझे, पूर्ण हड़ताल तथा अन्य अहिंसात्मक तरीकों से सरकारी प्रशासन को ठप कर दे तथा मर कर भी राष्ट्र को जिंदा रखें।" 1942 की इस अनूठी जनक्रांति के लिए उत्तरदायी शक्तियाँ 1934 के बाद के घटना क्रम में देखी जा सकती है। 1935 में ब्रिटिश सांसद ने संघवाद एवं स्वायतता के सिद्धान्त पर आधारित कानून पारित किया। वायसराय लिनलिथगो के अनुसार इसके तीन मुख्य उद्देश्य थे।–

1. भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व को बनाये रखना।
2. उदारपंथियों को संतुष्ट करना।
3. कांग्रेस के अन्दर मतभेद एवं कलह पैदा करना।

इसका प्रभाव 1937 के चुनाव में दिखायी दिया। जब चुनाव जीतने के बाद सरकार बनाने एवं न बनाने के प्रश्न पर कांग्रेस के वामपंथ एवं दक्षिण पंथ आमने-सामने आ गये। प्रान्तीय गवर्नरों को अत्यधिक शक्तियों से सुशोभित करना, केन्द्र में द्वैध शासन लागू करना, साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को कायम रखना, दोषपूर्ण संघ व्यवस्था एवं मूल अधिकारों का अभाव आदि इस अधिनियम के प्रमुख दोष थे। जिन्होंने भारतीय जन-मानस को उद्वेलित कर दिया।

1940 के मध्य युद्ध में इंगलैंड की स्थिति संकटापन्न हो गयी। परन्तु गाँधी जी व कांग्रेस हाईकमान ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष परेशानियाँ पैदा न करके कोई समझौता करने का प्रयास किया, जिसकी न्यूनतम दो शर्तें थी। –

1. युद्ध के पश्चात् भारत को स्वतंत्र करने का वचन।
2. तात्कालिक तौर पर केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

कांग्रेस के इतना झुक जाने के बावजूद चर्चिल की सरकार टस से मस नहीं हुई। सरकार छोटी-मोटी रियायतें देने के लिए तैयार थी, परन्तु शासन की स्वाधीन सत्ता भारतीयों को सौंपने के लिए तैयार नहीं थी। भारतीय जनमानस में असंतोष की लहर फैल गयी। इसके बावजूद गाँधी जी सरकार से समझौता के पक्षधर थे, क्योंकि गाँधी जी कहना था कि "मैं ब्रिटेन की बर्बादी पर भारत की स्वतंत्रता नही चाहता हूँ।" परन्तु सरकार अपनी शर्तों पर समझौता चाहती थी जो लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव 8 अगस्त 1940 के रूप में सामने आयी। अगस्त प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य नही था, क्योंकि इसमें पूर्ण स्वराज का वचन नही था, तथा बहुसंख्यकों के हितों को अल्पसंख्यकों के इच्छा पर छोड़ दिया गया था। फलतः इसे अस्वीकार कर दिया गया एवं सरकार पर दबाव बनाने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का मार्ग अपनाया गया जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे।–

1. भारतीय जनता की उग्र राजनीतिक चेतना को व्यक्त करना।
2. भारतीयों की मांग मानने के लिए सरकार को एक और अवसर देना ।

मार्च 1942 में संवैधानिक गतिरोध दूर करने के लिए क्रिप्स मिशन भारत भेजा गया जो 23 मार्च 1942 को दिल्ली पहुँचा। मिशन योजना एक मजबूरी थी, जबकि प्रधानमंत्री चर्चिल, विदेश मंत्री एमरी, वायसराय लिनलिथगो, कमांडर-इन-चीफ वेबेल आदि भारतीयों से किसी समझौते के पक्ष में नही थे। इसलिए मिशन के माध्यम से ऐसे प्रस्ताव रखे गए जो भारतीय नेतृत्व को स्वीकार नही थे।

कांग्रेस अंग्रेजों से देश की समस्या का हल चाहती थी और हल था देश की आजादी, परन्तु ब्रिटिश सरकार भारत को तत्काल स्वतंत्र करने के पक्ष में नहीं थी। दूसरी ओर भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापान को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। इसीलिए गाँधी जी ने अंग्रेजों से कहा कि "भारत को जापान के लिए मत छोड़ो, वरन् उसे भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।"

उपर्युक्त कारणों से अतिरिक्त 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के लिए कुछ अन्य कारण भी उत्तरदायी थे जैसे–

1. पूर्वी बंगाल के बिना मुआवजा दिए लोगों को उनकी जमीनों से बेदखल करना।
2. वर्मा पर जापानी अधिकार के बाद वहाँ से भारत आने के लिए अंग्रेजों एवं भारतीयों के लिए अलग-अलग रास्ते निर्धारित करना।
3. देश में आर्थिक असंतोष तथा कीमतों में बेतहाशा वृद्धि।
4. विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की लगातार हार एवं
5. भारत की स्वतंत्रता के प्रति रूजवेल्ट, च्यांगकाई शेक एवं लेबर पार्टी की सहानुभूति।

इन्हीं सब कारणों से 05 जुलाई 1942 को कांग्रेस कार्य समिति की वर्धा में बैठक हुई और कांग्रेस कार्यसमिति ने 14 जुलाई 1942 गाँधी जी के "भारत छोड़ो" प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। आंदोलन की सार्वजनिक घोषणा के पूर्व 01 अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस के अवसर पर पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा "हम आग से खेलने जा रहे हैं, हम दुधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे हैं जिसकी चोट उल्टे हमारे ऊपर भी पड़ सकती है।" सरदार पटेल ने बम्बई से वक्तव्य दिया कि "इस बार का आन्दोलन थोड़े दिनों का किन्तु भयानक होगा।" इस प्रकार कांग्रेस ने जनता को एक भीषण आन्दोलन के लिए तैयार रहने का संकेत दिया।

7 अगस्त 1942 को मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में कांग्रेस महासमिति का बम्बई के ग्वालियर टैंक मैदान में अधिवेशन हुआ, जिस पर समस्त विश्व की आँखे लगी हुई थी। 8 अगस्त को प्रस्ताव पारित होते हुए ही 9 अगस्त को तड़के गाँधी जी एवं कांग्रेस के कार्यसमिति के सदस्यों

को गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधी जी एवं सरोजिनी नायडू को पूना के आगा खाँ पैलेस में, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को पटना के बाँकीपुर तथा जयप्रकाश नारायण को हजारीबाग जेल में रखा गया। शेष नेता अहमदनगर जेल में रखे गये। जयप्रकाश नारायण ने 9 नवम्बर, 1942 को जेल से भाग कर केन्द्रीय एक्शन कमिटि का गठन कर नेपाल को अपना अड्डा बनाया एवं आजाद दस्तों का गठन किया। नेताओं की गिरफ्तारी के औचित्य को सिद्ध करने के लिए सरकार ने कांग्रेस के तथाकथित कार्यों को समाचार पत्रों में छपवाया जिसमें संचार माध्यमों को ध्वस्त करना, ब्रिटिश संस्थाओं पर हमला एवं हिंसक गतिविधियों को कांग्रेस के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का अंग बताया गया था। नेतृत्व विहीन जनता ने इसे ही कांग्रेस का कार्यक्रम समझा एवं स्वत:स्फूर्त आन्दोलन प्रारंभ कर दिया, कुछ स्थानों पर इसका नेतृत्व समाजवादियों द्वारा किया गया। जिसमें– जयप्रकाश नारायण, उषा मेहता, अरुणा आसफ अली एवं राम मनोहर लोहिया आदि प्रमुख थे।

प्रारंभ में यह आन्दोलन शहरों तक ही सीमित रहा परन्तु जैसे ही यह ग्रामीण क्षेत्रों में फैला तो ऐसा जन-विस्फोट हुआ कि उसे देखकर ब्रिटिश सरकार चकित रह गयी एवं यह नही समझ सकी कि किसानों ने क्यों विद्रोह कर दिया। आन्दोलन के दौरान ही तमलुक (मिदनापुर, बिहार), तलचर (उड़ीसा), सतारा (महाराष्ट्र) एवं बलिया (संयुक्त प्रांत) में समानता सरकार का गठन किया गया। जिनमें तमलुक की सरकार सतीश सावंत के नेतृत्व में सर्वाधिक समय तक कार्य करती रही। यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्य प्रांत एवं महाराष्ट्र में चरम सीमा पर रहा। यह आन्दोलन इतना विकराल था कि इसे दबाने के लिए पहली बार सेना का प्रयोग किया गया। जिस अहिंसा के पुजारी ने 1922 में चौरी-चौरा कांड की थोड़ी सी हिंसा के कारण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया था, उसी अहिंसा के पुजारी ने 1942 के आन्दोलन में हुई व्यापक हिंसा को नजरअंदाज कर दिया। एक अहिंसक विचारधारा द्वारा हिंसक विचारधारा को दिए गए इस मूक समर्थन से इस बात का सहज अंदाज लगाया जा सकता था कि भारतीयों का धैर्य एवं असंतोष किस सीमा तक पहुँच गया था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि:

1. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष – विपिन चन्द्र, नई दिल्ली – 2003, P.N. : 366 - 370।
2. वही – पृष्ठ संख्या – 372 – 376
3. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आन्दोलन – बी. एल. ग्रोवर, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली – 2001।
4. आधुनिक भारत (1885-1947) – सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली– 1999, पृष्ठ सं. – 408-414 ।
5. वही – पृष्ठ संख्या – 417-419 ।
6. वही – पृष्ठ संख्या – 426-428।
7. काँग्रेस रिवेलियन इन आजमगढ़, इलाहाबाद एच. आर. निबलेट, – 1957 – पृष्ठ संख्या – 29 – 51।
8. वही – पृष्ठ संख्या – 24, 26, 40
9. The Quit India Movement, 1942 inA centenary History of India national Congress.
10. Spontaneous Revolution - The Quit India Movement, New Delhi, 1973 - Francis Hutchins.
11. Fight for freedom :Autobiography, Delhi - 1968 - N.G. Ranga.
12. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा संवैधानिक विकास – ग्रोवर एवं यशपाल – पृष्ठ संख्या – 283-287
13. वही – पृष्ठ संख्या – 291-293।
14. क्विट इंडिया मूवमेंट – दिल्ली, 1979– वाई. बी. माथुर।
15. क्विट इंडिया मूवमेंट : ब्रिटिश सेक्रेट रिपोर्ट्स (फरीदाबाद – 1976)

वर्ण व्यवस्था का ऐतिहासिक आधार
एक विश्लेषण

डॉ॰ विमल किशोर मिश्र

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

भारतीय समाज व्यवस्था की उत्पत्ति एवं विकास की कहानी को लेकर विद्वानों ने समाज का जो स्वरूप जनमानस के सामने रखा वह बड़ा ही विलक्षण है। यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अभी तक जो लिखा गया है वह सामाजिक जीवन का सैद्धान्तिक रूप हो सकता है, व्यावहारिक जीवन के करीब तो नहीं ही हैं। इतना ही नहीं निश्चित रूप से वह किसी न किसी रूप में समर्थवादी या सामंतवादी व्यवस्था से अलग भी नहीं है। कारण का सच जानते हुए भी ऐसे विद्वानों ने समाज व्यवस्था का व्यवहारीकरण स्वरूप प्रस्तुत करने का साहस नहीं किया। यद्यपि कि डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' में समाज व्यवस्था के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों को उजागर करते हुए सच को सामने लाने का भरसक प्रयास किया।[1] डॉ. अम्बेडकर जैसे विद्वान एवं चिंतक की बात को विद्वानों के एक वर्ग ने केवल यही सोचकर पढ़ा कि उनकी पुस्तक में आयी समाज व्यवस्था को केवल किसी खास वर्ग की उच्चता सिद्ध करने के लिए लिखा गया है।[2]

परिवार की विकसित इकाई के रूप में समाज बना जहां परिवार के सदस्यों की कार्यक्षमतानुसार उन्हें अलग-अलग कार्य सौंपे गये। एक ही परिवार में पिता वैद्य, माता धान्य मर्दन करने वाली एवं पुत्र मंत्रकाल के रूप में ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।[3] ऋग्वेद में ही ब्राह्मण ऋषि भृगु के वंशजों के सदस्यों की चर्चा रथ बनाने में दक्ष रूप में की गयी है।[4] यहां तक तो ठीक-ठाक था कारण कि अन्य संदर्भों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि समाज के विभिन्न वर्गों में परस्पर ऊंच-नीच की भावना का सर्वथा अभाव था। खान-पान, गोत्र प्रथा का भी कोई बंधन नहीं था। स्पष्ट है कि यद्यपि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का अभी तक प्रतिष्ठापन नहीं हो पाया था फिर भी इतना अवश्य था कि आवश्यकता की परिधि में कार्यों के महत्व को सामाजिक स्वीकृति का श्री गणेश हो चुका था।

आगे चलकर काल क्रमानुसार मानव, मानव के बीच सुविधा आकार रूप लिया और पिता के कार्यों के अनुसार ही व्यक्ति की पहचान संभव हुई। बस यहीं से जन्म से जुड़ी जाति व्यवस्था ने जन्म लिया। यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि अगर ब्राह्मण यहीं पर बने तो शूद्र भी बाहर से नहीं आये। डॉ. अम्बेडकर के सुझाव का उल्लेख यहां प्रासंगिक लगता है कि शूद्र भी उसी भण्डार के हैं जिसकी मुख्य शाखा क्षत्रिय जाति के रूप में विकसित हुई। परिवार में चार व्यक्तियों को सौंपे गये अलग-अलग कार्यों के पीछे उनकी योग्यता का आधार रहा है जो अभी भी परिवार एवं समाज में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उल्लिखित वर्णक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कालांतर में भी समाज व्यवस्था का आधार बना रहा। ऐसा कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था को सामाजिक स्वीकृति तो अवश्य मिली लेकिन वर्णों के आपसी संबंध ऊंच-नीच की भावना पर आश्रित नहीं रहे। उपलब्ध संदर्भों से ऐसा इंगित होता है कि सामाजिक स्तरीकरण का

क्रमिक विकास अभी तक पूर्णत: स्थापित नहीं हो सका था। अथर्ववेद में क्रमश: राजन्य, वैश्य, शूद्र एवं आर्यों का उल्लेख इसी का उदाहरण कहा जा सकता है।[6] मैत्रायणी संहिता में वैश्य का उल्लेख राजन्य से पूर्व हुआ है। कहा जा सकता है कि कार्य की सामाजिक महत्ता और आवश्यकता ही वर्गीय प्रधानता का निर्णायक पक्ष था। प्रारंभ में वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में गुष्ट, कर्म, रंग एवं संस्कार को प्रबल पक्ष मिला। ब्राह्मण का श्वेत रंग पवित्रता, क्षत्रिय का लाल रंग शौर्य, वैश्य का पीत रंग सम्पन्नता एवं शूद्र का काला रंग दासत्व का प्रतीक कहा गया। ऐसा आभास होता है कि पुरुष सूक्त में मुख से ब्राह्मण, बाजु से क्षत्रिय, उदर से वैश्य एवं पैर से शूद्र के क्रम के पीछे भी योग्यता एवं कर्म ही आधार रहा होगा। कालांतर में उल्लिखित 'जन्मना जायते शूद्र संस्कारै: द्विज उच्यते एवं चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट: गुण कर्म विभागश:' जैसे संदर्भों से भी वर्ण व्यवस्था में कर्म एवं संस्कार के महत्व की पुष्टि होती है। यहां उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण वर्ण का प्रत्येक सदस्य न तो राजपुरोहित एवं न विद्वान:, न ही क्षत्रिण वर्ण का प्रत्येक सदस्य राजा हो सकता था। सामान्य ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को कुलीन कुल की गरिमा मात्र से ही संतुष्ट होना पड़ता रहा होगा। यही कारण है कि इन वर्णों के सामान्य सदस्य वर्णेत्तर कर्मों का सहारा लेकर अपना जीवनयापन करते रहे होंगे। इतना ही नहीं सूत्र ग्रंथों में आपद्धर्म शब्द का उल्लेख निश्चित रूप से इन्हीं कारणों से हुआ होगा।[7] ऐसी परिस्थिति में वर्णेत्तर कर्म करने वाले ऐसे लोगों को विशेषाधिकार का कोई औचित्य नहीं था। हां, इतना अवश्य था कि प्रभुत्व के इस खेल में उक्त दोनों वर्णों की संतानों का सामाजिक सामंजस्य हो चुका था जिसकी पुष्टि धर्मसूत्रों में आये विविध संदर्भों से होती है। गौतम के इस कथन से कि ब्राह्मण के साथ सहयोग से ही क्षत्रिय का उत्कर्ष संभव है, प्रचलित सैद्धान्तिक मूल्यों की व्यावहारिक परिणति दिखाई देती है।

यद्यपि वैश्य एवं शूद्र के कर्म करीब-करीब समान थे लेकिन सामाजिक जीवन में वैश्य के कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं अन्य आर्थिक कारणों से जुड़ा होने के कारण निश्चित रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं राज्य प्रशासन की निर्भरता उसी के उपर रही होगी, इस कारण वैश्य वर्ण को द्विज की परिधि में रखा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मानव में मुख, बाहु, उरु एवं पैर अंगों का महत्व है उसी प्रकार समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की भी आवश्यकता समाज महत्व रखती है। चूंकि पैरों पर ही जीवनगति की व्यवस्था एवं बोझ निर्भर है। इसलिए आर्थिक साधन के महत्वपूर्ण अंग के रूप में शूद्र भी समाज का आवश्यक वर्ग था, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था का आधार तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता थी न कि वर्णगत स्वार्थ। यह भी कहा जा सकता है कि वर्ण प्रधानता का जो आभास हमें समय-समय पर ग्रंथों में उल्लिखित मिलता है उसके लिए उत्तरदायी उस युग की परिस्थितियां रही होंगी, इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। भद्रशूद्र-अभद्रशूद्र, निरवसित- अनिरवसित शूद्र, एवं भाजान्न एवं अभाजान्न शूद्र जैसे शब्दों के उल्लेख से ऐसे ही कथनों की पुष्टि होती है। गोपालक, आर्थिक नापित्त, कुलाल एवं कुलमित्र जैसे शूद्र प्रतिनिधियों के प्रति समाज का सम्मानभाव निश्चित रूप से इस बात को सिद्ध करता है कि इनको स्वीकार करना समाज की तात्कालिक आवश्यकता रही होगी।[9]

समाज में वर्ण व्यवस्था के स्थापित होने के साथ मानव स्वभाव के अनुरूप सत्ता संघर्ष की शुरूआत हुई जिसके संदर्भ समय-समय पर क्रमानुसार स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। यथा 1. राजर्षि विश्वामित्र एवं ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का चर्चित संघर्ष। 2. तीर्थंकर महावीर के जन्म की जैन कल्पसूत्र में चर्चित कथा व्यावहारिक न होते हुए भी मात्र ब्राह्मण वर्ण को क्षत्रियहीन बनाने का प्रयास कहा जा सकता है। 3. मौर्य संस्थापक चन्द्रगुप्त द्वारा विदेशी सिकंदर को मगध सम्राट धनानन्द के

खिलाफ उकसाना राजलिप्सा की आड़ में किये गये कुत्सित प्रयास का ही उदाहरण है। जस्टिन द्वारा चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त साधारणकुल का उल्लेख महापद्मनन्द के लिए भी होना सामयिक एवं प्रासंगिक होता। वर्ण के स्तरीकरण में शूद्र का स्थान अवश्य निचले सोपान पर था लेकिन उसके प्रशासनिक क्षमता के व्यक्तित्व का निम्नस्तरीय होना कहीं से भी प्रमाणित नहीं होता। शूद्र वर्ण के सदस्य का सैद्धान्तिक रूप से शासक होना वर्जित रहा हो व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव कभी नहीं था और न आज भी है। नन्द नरेशों द्वारा समय-समय पर गरीब एवं साधनहीन लोगों के लिए दान की व्यवस्था एवं उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों सौंपना निश्चित रूप से उनकी योग्यता एवं प्रशासनिक क्षमता का बोध कराता है। हाथी गुम्फां अभिलेख नहर का निर्माण, वर्ण, उपवर्ण, पाणिनि, कात्यायन, वारुचि जैसे वैदिक एवं व्याकरण मर्मज्ञ विद्वानों का उनके साम्राज्य में होना उनके महान व्यक्तित्व का बोध कराता है।[10] 4. पुष्यमित्र शुंग एवं गौतमीपुत्र शातकर्णी के राज्यारोहण को ब्राह्मण-क्षत्रिय के आपसी सत्ता संघर्ष का भी उदाहरण कहा जा सकता है। उपलब्ध संदर्भ के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि प्रारंभ में समाज व्यवस्था को चलाने के लिए वर्णक्रम के निर्धारण के पीछे किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं था। सभी समान रूप से अपने-अपने कर्मों में अपने व्यक्तित्व के अनुसार कार्यरत थे। बुद्ध एवं महावीर ने भी कालांतर में समर्थ लोगों द्वारा अपनी सुविधानुसार व्यवस्थित वर्णक्रम को चुनौती दी। ब्राह्मणत्व से युक्त ब्राह्मण बौद्धों के लिए भी श्रद्धेय थे।[11] कभी भी संघ की सदस्यता का आधार वर्ण एवं जाति नहीं रहा। बौद्ध पालिग्रंथों के वर्ण क्रम में क्षत्रियों की प्रधानता के उल्लेख अवश्य मिलते हैं जो एक वर्ण से दूसरे वर्ण की उच्चता निम्नता सिद्ध करने का मात्र प्रयास कहा जा सकता है। यह भी हो सकता है कि क्षत्रिय वर्ण के कुछ सदस्यों को ब्राह्मणवर्ण के योग्य सदस्यों का समाज में सम्मान एवं आदर अच्छा न लगता रहा हो। चूंकि वैदिक धर्म ब्राह्मण वर्ण के सदस्यों का एकाधिकार सा था अत: जैन-बौद्ध धर्म को क्षत्रिय वर्ण के सदस्यों द्वारा अपनाना एवं राजवंशों द्वारा भी उनके प्रति सम्मान एवं आदर प्रदर्शित करना निश्चित रूप से वर्णक्रम के प्रथम एवं द्वितीय के बीच द्वन्द्व का कारण हो सकता है। यही कारण है कि कहीं भी वैश्य एवं शूद्र की उच्चता एवं निम्नता की बात नहीं कही गयी है।

संदर्भ:

1. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 74
2. रामशरण शर्मा, शूद्रों का इतिहास पृष्ठ 4
3. ऋग्वेद 9.112.3
4. ऋग्वेद 10.39.14
5. Who were the Shudras?
6. अर्थववेद 19.32.8
7. राय शशिकांत प्राचीन भारत में व्यावसायिक समुदाय पृष्ठ
8. धुर्ये पृष्ठ 50
9. शशिकांत राय, प्राचीन भारत में व्यावसायिक समुदाय
10. श्री रामगोयल पृष्ठ 233
11. मदन मोहन सिंह पृष्ठ 15

आज के युग में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान उभरे आर्थिक राष्ट्रवाद का मूल्यांकन

डॉ॰ कंचन माला

सहायक शिक्षिका, राजकीय मध्य विद्यालय, भरथौली, औरंगाबाद, बिहार

1950 के बाद यानी आजादी पश्चात् से 1990 तक भारत के आर्थिक विकास के लिए अपनाई जा रही और विस्तृत पैमाने पर भारतीय आवाम् द्वारा स्वीकार्य 'आत्म निर्भर विकास' की रणनीति को उल्टी दिशा में मोड़ दिए जाने और साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के साथ इसे पूर्णत: आबद्ध कर दिए जाने के बाद एक बार फिर भारत में 'आर्थिक राष्ट्रवाद' बहस में आ गया है। वैश्वीकरण की समर्थक वैचारिकता दलीलें दे रही हैं कि आर्थिक विकास की तेज रफ्तार जिसके साथ भारत आगे बढ़ रहा है, एक खास विकास के बाद अमीरी-गरीबी के बीच के अंतराल को पाट देगी, इस कारण उस उज्जवल भविष्य की प्राप्ति के लिए वर्तमान में उठाई जा रही परेशानियों को लोगों को बर्दाश्त करना चाहिए। दूसरी तरफ, वैश्वीकरण को अपनाए जाने के बाद के करीब 18 साल के अनुभव को आधार बनाकर जिसमें बढ़ती बेरोजगारी, बढ़ती कीमतें, बंद होते भारत के लघु उद्योग, गिरता कृषि उत्पादन, किसानों द्वारा की जा रही आत्म-हत्यायें आदि हकीकतों को सामने रखकर इसका विरोध भी मजबूती के साथ हो रहा है। दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी वैचारिकता के आधार पर समर्थन और विरोध में खड़े हैं।

फिर भी, महज इसी दलील पर कि वैश्वीकरण से भारत को लाभ है या हानि इस समस्या का समाधान ढूंढना समस्या को एक अतिशय संकुचित दायरें में रखकर बहस करना है। इसका संबंध भारतीय 'आर्थिक राष्ट्रवाद' की भारत की परिकल्पना से जुड़ा है जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में ही एक अवधारणा के रूप में विकसित हुई थी और 'स्वावलंबी आर्थिक विकास' की नीति के द्वारा उसे अमली रूप दिए जाने का प्रयास भारत कर रहा था। उस प्रयास को उल्टी दिशा में मोड़ देना 'भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद' की भारत की सर्वमान्य परिकल्पना के कहां तक अनुकूल या प्रतिकूल है-यह प्रश्न ही आज सर्वोपरि महत्व का है क्योंकि इसके साथ भारत की सम्प्रभुता का प्रश्न जुड़ा हुआ है क्योंकि अर्थव्यवस्था ही वह बुनियादी आधार होती है जिसके अनुरूप अन्य बाहरी संरचनाएं स्वरूप ग्रहण करती हैं। आइये, देखा जाए कि भारत में लाया गया यह बुनियादी आर्थिक बदलाव भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद पर क्या प्रभाव डालता है?

1857 के पूर्व ही मार्क्स ने अपने भारत संबंधी लेखों[1] में इस बात को दर्शाया था कि किस तरह औपनिवेशिक शासक भारत से पेंशन, वेतन, गृह चार्ज, नज़राना आदि के रूप में अकूत संपदा को बहा कर इंग्लैण्ड ले जा रहे थे। इसी संपदा-बहाव को दादा भाई नौरोजी ने अपनी प्रमुख किताब

ब्रिटिश मिसरुल इन इंडिया[2] में 'ड्रेन थ्योरी' के रूप में प्रस्तुत किया था। 1851 में ही ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन ने ब्रिटिश संसद को जो स्मार-पत्र दिया था उसमें मालगुजारी द्वारा भारत का शोषण किए जाने और भारत के उद्योगों को हतोत्साहित करने का विरोध किया गया। इस संस्था की परिकल्पना में भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद की अवधारणा एक पूंजीवादी और जमींदार-पक्षी अर्थतंत्र की परिकल्पना सी थी। यही कारण था कि वे भारत के पूंजीपतियों को औद्योगिक विकास में ब्रिटिश पूंजीपतियों के साथ जोड़ना चाहते थे। मगर 1857 में ही सुरेन्द्र नाथ बनर्जी द्वारा गठित इंडियन एसोसिएशन जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग के लोग थे, ने बड़े भू-स्वामियों का विरोध किया। इस तरह कांग्रेस के गठन के पूर्व ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में 'आर्थिक राष्ट्रवाद' प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील वैचारिकता वाली दो धाराएं अपने भ्रूण रूप में उपस्थित हो चुकी थी।

कांग्रेस की स्थापना के बाद करीब 20 वर्षों तक आर्थिक राष्ट्रवाद की जिस अवधारणा को कांग्रेस नेतृत्व आगे बढ़ाता रहा, इसमें उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपना दुश्मन नहीं माना, बल्कि मुख्य दुश्मन के रूप में भारत की जनता की गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास आदि को मानता रहा और यह उम्मीद करता रहा कि भारत के विकास में बाधक इन कठिनाइयों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग कर ही उन पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण कांग्रेस के आरंभिक नेता भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों के साथ अविछिन्न रूप से जोड़कर देख रहे थे। आज का भारत भी वैचारिकता के स्तर पर कांग्रेस के शुरुआती नरमदली नेताओं की वैचारिकता को आगे बढ़ा रहा है और देश की जनता को इस गलत संदेश से गुमराह किया जा रहा है कि भारत आज साम्राज्यवादी मुल्कों के साथ अपना आर्थिक गठजोड़ करके ही गरीबी, निरक्षरता, अंधविश्वास को दूर कर सकता है और एक सुपर पावर बन सकता है। हम यह बात भूल रहे हैं कि जो साम्राज्यवादी देश आज सुपर पावर दिख रहे हैं, उनके विकास का राज है उनके द्वारा अफ्रीका, एशिया और लातिनी अमरिकी देशों का औपनिवेशिक शोषण और उसी शोषण को भिन्न रूप में नव-उपनिवेशवादी तरीके से ये साम्राज्यवादी मुल्क विकासशील देशों पर वैश्वीकरण के द्वारा थोपना चाहते हैं। आज जिस बात को बोला जा रहा है, ठीक इसी तरह की बात 1898 के कांग्रेस महाधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए आनंद मोहन बोस ने कहा था-भारत का शिक्षित वर्ग इंग्लैंड का दुश्मन नहीं दोस्त है। इंग्लैंड के सामने आज जो काम पड़े हैं, उन्हें पूरा करने में भारत का शिक्षित वर्ग इंग्लैंड का सहज और आवश्यक सहयोगी है।[3] 1890 में ही सर फिरोजशाह मेहता ने कहा था मुझे इसमें एकदम संदेह नहीं कि ब्रिटेन के राजनेता समय की पुकार को समझेंगे।[4] दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा था कि इंग्लैंड भारत के शिक्षित वर्ग को अपने पक्ष में करने के बजाय अपना दुश्मन न बनाएं।[5] सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने तो अंग्रेजी राज के साथ अटूट निष्ठा से काम करने की सलाह कांग्रेस को दी और कहा कि कांग्रेस का लक्ष्य भारत में अंग्रेजी राज को समाप्त करना नहीं, बल्कि उसके आधार को और व्यापक बनाना है।[6] आज भी यही ध्वनि सुनाई दे रही है।

इस साम्राज्यवादी-पक्षी भारतीय राष्ट्रवाद की यह धारणा जल्दी ही समाप्त हो गयी, जब गोखले ने कहा- नौकरशाही बहुत साफ तौर पर और तेजी से स्वार्थी होती जा रही है और राष्ट्र की आकांक्षाओं का खुल कर विरोध कर रही है। पहले यह ऐसी नहीं थी।[7] उस जमाने के कांग्रेस का

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग संबंधी मोहभंग जल्दी ही हो गया था। पता नहीं आज के नेतृत्व का साम्राज्यवादी वैश्वीकरण से मोहभंग कब होगा? कांग्रेस का वह तबका जो गरम दल के नाम से जाना गया उसने भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद की अपनी परिकल्पना में साम्राज्यवाद के साथ किसी भी तरह के आर्थिक संबंध को रखे जाने पर वैचारिकता का मुख्य विरोधी था। उस संदर्भ में वह एक क्रांतिकारी वैचारिकता से जुड़ा हुआ था। मगर औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारत में चलाई जा रही आर्थिक नीतियों के विकल्प में जब एक भिन्न आर्थिक नीति का प्रश्न सामने आया, तब गरमदली नेताओं ने भारत की स्वावलंबी ग्राम व्यवस्था वाली उस उत्पादन पद्धति को विकल्प के रूप में खड़ा करना चाहा, जो ऐतिहासिक विकास के क्रम में मशीनी उत्पादन प्रणाली के समक्ष अपनी समीचीनता खो बैठी थी। इस तरह गरम दली नेताओं के आर्थिक राष्ट्रवाद ने एक प्रतिक्रियावादी-दकियानूस वैचारिकता को ग्रहण कर लिया। उसके द्वारा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ एक समझौता-विहीन संघर्ष चलाने का राजनीतिक लक्ष्य आर्थिक राष्ट्रवाद के मामले में एक प्रतिगामी सोच से जा मिला। इस प्रकार उन्होंने एक क्रांतिकारी आंदोलन का आर्थिक राष्ट्रवाद के प्रश्न पर दकियानूस वैचारिकता से मेल करा दिया।

1905 के आते-आते भारत में राजनीतिक और आर्थिक राष्ट्रवाद की जो नई चेतना आई, वह विश्व पटल पर घटित हो रहे क्रांतिकारी बदलावों के कारण जापान के हाथों जारशाही रूस की पराजय और 1905 की रूसी क्रांति के परिणास्वरूप आयी थी। 1906 में ही कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में राष्ट्रीय आंदोलन की जिस दिशा को तय किया गया उसमें स्वराज, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा प्रमुख रूप से शामिल किये गये। इन मांगों में भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद की परिकल्पना एक नये रूप में सामने आई जिसका लक्ष्य रहा साम्राज्यवादी देशों के साथ भारत का आर्थिक विच्छेदन, स्वावलंबी विकास एवं इस स्वावलंबी विकास को अंजाम देने के लिए हर तरह की तकनीक से लेकर समाजशास्त्रीय शिक्षा-दिक्षा के आयोजन का भारत द्वारा स्वयं प्रयास। आजादी पश्चात् भारत ने स्वावलंबी आर्थिक विकास की जिस नीति को चलाया, उसकी नींव यहीं कलकता के कांग्रेस अधिवेशन में ही डाल दी गयी थी।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में गांधी के पदार्पण के बाद के कालों में खास कर प्रथम विश्व युद्ध जनित आर्थिक संकट और 1917 की रूसी क्रांति की सफलता के परिणामस्वरूप जो एक नये किस्म के उत्पादन संबंध के आधार पर रूस में एक नयी सरकार का गठन हुआ, जिसने भारत में आर्थिक राष्टवाद की परिकल्पना को भी प्रभावित किया अब एक समाजवादी अर्थतंत्र की भारत में स्थापना का प्रश्न नये रूप में आकर जुट गया और भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद के संबंध में दो विचारधाराओं-यूरोपीय ढंग से आर्थिक निर्माण और समाजवादी ढंग के आर्थिक निर्माण का परस्पर संघर्ष शुरू हो गया।

फिर भी, भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद की इन दोनों परिकल्पनाओं में एक मूल तत्व ऐसा था जो दोनों को राष्ट्रीय आंदोलन में एकता के सूत्र में बांधे रखा और वह तत्व था-साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध। 1920 के शुरू के महीनों में जब युद्ध-जनित संकट के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का संकट गहराया और मजदूर हड़तालों का सिलसिला शुरू हुआ, तब उसके प्रति राष्ट्रीय आंदोलन के नरम रूख की आलोचना करते हुए कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन, सितंबर 1920 में, अध्यक्ष पद से बोलते हुए लाला लाजपत राय ने आलोचनात्मक टिप्पणी की थी और कहा

था कि – 'हम अपने मूल स्वभाव और परंपरा से क्रांति के खिलाफ हैं।'[8] मगर दिसंबर 1920 में नागपुर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें जिस राजनीतिक लक्ष्य को रखा गया– औपनिवेशिक स्वायत्त सरकार की स्थापना के लक्ष्य को त्यागकर शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना–उसमें आर्थिक राष्ट्रवाद के जो भाव निहित थे उनका संकेत भारत के स्वावलंबी विकास के ही समर्थन में थे।

1922 के असहयोग आंदोलन के क्रम में भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद की ऊपर वर्णित दो वैचारिकताओं का टकराव सामने आया, जब बहिष्कार आंदोलन में जन उभाड़ आया और आंदोलन एक क्रांतिकारी दिशा की तरफ बढ़ रहा था, तब कम्युनिष्ट पार्टी ने राष्ट्रीय कांग्रेस को दिये अपने एक संदेश में कहा था– अगर कांग्रेस उस क्रांति का नेतृत्व करना चाहती है जो भारत को उसकी नींव से हिला रही है..... तो उसे मजदूर संघों की मांगों को अपनी मांग बना लेना चाहिए।[9] स्पष्ट है कि इस संदेश में आर्थिक राष्ट्रवाद की समाजवादी अवधारणा थी–इस आर्थिक संरचना के निर्माण का संदेश था, जो मजदूर–किसानों के नेतृत्व में कायम होता। पूंजीवादी ढंग से आर्थिक विकास और समाजवादी ढंग के आर्थिक विकास की अवधारणा के बीच भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद के संघर्ष का क्रम चलता रहा। मगर, साम्राज्यवाद विरोध के प्रश्न पर दोनों अवधारणाओं के बीच की एकता संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत इस कारण बनी रही, क्योंकि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के कठोरतम शोषण का भारतीय जन–आवाम का अनुभव इन्हें एक किए रहा।

सन्दर्भः

1. कार्ल मार्क्स द्वारा भारत पर लिखे गये लेखों जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून के विभिन्न अंकों 1853 से 1859 तक में छपे थे, देखा जा सकता है।
2. दादा भाई नौरोजी, ब्रिटिश मिसरुल इन इंडिया में भारत सरकार, पब्लिकेशन डिविजन द्वारा प्रकाशित में देखा जा सकता है।
3. 1898 के कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष आनन्द मोहन बोस का भाषण।
4. रजनी पाम दत्त, आज का भारत (दिल्ली, मैकमिलन 1985) पृ. 333.
5. 1886, कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दादा भाई नौरोजी का भाषण
6. रजनी पाम दत्त पूर्वोद्धृत, पृ. 333
7. पट्टाभि सीता रमैया, हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1935, पृ. 151
8. लाला लाजपत राय का अध्यक्षीय भाषण विशेष कांग्रेस अधिवेशन, कलकता, सितंबर 1920
9. कांग्रेस के अहमदाबाद, अधिवेशन के नाम भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणा पत्र, 1921

बुद्धकाल से मौर्यकाल तक सामाजिक संरचना का आधार

धनंजय कुमार सिंह

नेट, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

यह विशेष कालावधि (ई.पू. 600 से ई.पू. 200) क्रान्तिकारी परिवर्तनों की साक्षी रही। तत्कालीन समाज नई चुनौतियों के रू-ब-रू था। प्रतिरोध, परिवर्तन की पहली शर्त होते हैं और एक तरफ जहाँ नवीन अर्थ संयोजन के द्वारा भौतिक जीवन में आए परिवर्तन प्रतिरोध को जन्म दे रहे थे वहीं दूसरी तरफ बौद्ध और जैन विचारधाराओं की प्लेट-विवर्तनिकी भूमिका परिवर्तन की मानसिकता बना रही थी। लौह तकनीक से परिचय, प्रयोग एवं प्रसार ने परिवर्तन के औजार भी थमा दिए। सब कुछ बदल रहा था। पूर्व की सारी मान्यताएँ जाँची-परखी जाने लगी, पारम्परिक भारतीय समाज, दुरूह धार्मिक कर्मकाण्डों, जटिल याज्ञिक क्रियाओं, वर्णों एवं जातियों के आधार पर भेद परक स्तरीकरण, धर्म के आधार पर शोषण की संस्थाओं का पोषण, रूढ़ एवं अप्रासंगिक मान्यताओं के प्रचलन के परिणाम स्वरूप जर्जर हो चला था। वह टूटने के कगार पर था। और टूटा भी। लेकिन आर्थिक क्रिया व्यापारों के दबाव में एक धर्म आधारित समाज की संरचनाओं का टूट जाना या कहें भरभरा जाना एक बड़ी परिघटना तो अवश्य थीं परन्तु रोचक भी कम नहीं थी। रोचक इन सन्दर्भों में कि श्रमजीवी वर्ग पर परजीवी वर्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। उत्पादन वर्ग निम्न वर्णी रहे और उपभोक्ता वर्ग उच्च वर्णी हो गए। औद्योगिक विकास ने नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की तो दूसरी ओर धार्मिक असमानताओं को भी जन्म दिया। एक ऐसे सामाजिक तंत्र का ताना-बाना बुना गया जिसमें आर्थिक विकास के लाभों को उच्च वर्णों के लिए सुरक्षित किया गया[2] क्योंकि भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधनों पर नियंत्रण भी स्वाभाविक रूप से इन्हीं वर्णो का यानी ब्राह्मणों,[3] क्षत्रियों,[4] एवं सेट्ठियों[5] का ही था।

प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण की जटिल प्रक्रियाओं की बेहतर समझ के लिए डॉ. ए. पी. ओझा का वैदुष्य विवेचन काफी सहायक सिद्ध होता है जिसमें उन्होंने शास्त्रीय एवं लौकिक[6] दो प्रकार कें स्तरीकरण की चर्चा की है, जिसमें पहले का आधार था, समाज का परम्परागत चतुर्वर्णीय विभाजन[7] तो दूसरे का आधार बनी राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धि[8]। अधीत कालीन समाज इन दोनों की आधारों पर स्तरीकृत था। इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि प्राचीन भारतीय समाज के स्तरीकरण में शास्त्रीय आदर्शों पर आधृत नियमन ही निर्णायक भूमिका निभाता रहा[9] और लौकिक प्रवृत्ति या तो नेपथ्य में रही या फिर मंच पर कठपुतली बनी रही।

आलोच्य कालावधि में कुछ 'विशिष्ट आर्थिक गतिविधियों के चलते[10] पहली बार स्तरीकरण की लौकिक प्रवृत्ति भी मंच संचालन में सूत्रधार की भूमिका हथियाने की उत्सुकता और दक्षता प्रदर्शित करती है। एक नई व्यवस्था और नया सिद्धान्त विकल्प के रूप में सामने था। अधीत काल की सामाजिक संरचना, उस पर पड़ते दबावों, परिणाम स्वरूप हुए संशोधनों, परिवर्तनों एवं प्रतिरोधों की सही-सही जानकारी के लिए दो उपभागों में, पहला 600 से 322 ई.पू. और दूसरा 322 ई.पू. से 200 ई.पू विभाजन सुविधाजनक प्रतीत होता है दूसरे शब्दों में कहें तो 'मौर्य पूर्व' और 'मौर्य युगीन' विभाजन और विश्लेषण विषय की सटीक एवं बेहतर व्याख्या करता प्रतीत होता है।

अधीतकालीन सामाजिक संरचना, चातुर्वर्ण व्यवस्था के आधार पर विभेदीकृत एवं स्तरीकृत, शोषण एवं दमन की अमानवीय स्थितियों का चरम निदर्शन प्रतीत होती हैं। यहाँ तक कि देवगण भी इस भेदपरक मानसिकता से बचे नहीं रह सके।[11]

वैदिक काल की भाँति वर्ण निर्धारण का आधार कर्म नहीं रह गया था और जन्म के आधार पर वर्ण निर्णयन[12] जाति प्रथा की ओर अग्रसरण का स्वाभाविक साक्ष्य बन बैठता है। तत्कालीन समाज में जातियों के बहुशः उल्लेखों के फलस्वरूप यह अनुमान लगाया आसान हो जाता है कि उस समय जाति व्यवस्था एवं सर्व स्वीकृत संस्था के रूप में विद्यमान थी। धर्मसूत्रों में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न जातियों का उल्लेख है।[13] चारों वर्णों के लिए जाति शब्द ही व्यवहृत होता था।[14] पालि बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न जातियों को मोटै तौर पर दो भागों में विभाजित कर[15] तत्कालीन सामाजिक संगठन को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है-'उक्कट्ठ' उत्कृष्ट तथा हीन। क्षत्रिय और ब्राह्मण जातियाँ उत्कृष्ट जातियों में तथा चाण्डाल, वेण, निषाद, रथकार तथा पुक्कुस इत्यादि जातियाँ हीन जातियों में गिनी गई हैं। एक अन्य प्रमुख विशेषता इस युग में उभर कर सामने आती है कि विभिन्न जातियाँ अलग-अलग ग्रामों में बसने लगी। ब्राह्मण ग्राम[16], क्षत्रिय ग्राम[17], वनिय ग्राम[18], निषाद ग्राम[19], चाण्डाल ग्राम[20] इत्यादि जातिगत आधार पर बने ग्रामों का उल्लेख मिलता है।

तात्पर्य यह कि बुद्ध युग यानी मौर्य पूर्व युग में जातिभेद अपनी पराकष्ठा पर था। इसकी 'आक्टोपसी गिरफ्त' में तत्कालीन जन जीवन की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाएँ घुट रही थीं। सर्वाधिक शोचनीय दशा शूद्रों की थी। द्विजातियों द्वारा मात्र और मात्र अपने लाभ के लिए जो साँठ-गाँठ किया गया था उसके तहत तमाम अशक्तताएँ 'हीन' जातियों पर थोप दी गई। इन्हें भी शूद्र वर्णान्तर्गत ही रखा गया[21]। कतिपय उल्लेखों के अनुशीलन से यह सम्भावना सहज ही अनुमित हो जाती है कि अस्पृश्यता की भावना भी उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में सिर उठाने लगी थी।[22] पाणिनी के द्वारा ('निरवसित') तथा ('अनिरवसित') के रूपों में शूद्रों के वर्गीकरण से भी यह संकेतित होता है कि कुछ जातियाँ विशेष घृणित समझी जाने लगी थीं, इतनी कि, आर्य समाज की सीमा के अंतर्गत उनका निवास सम्भव नहीं रह गया था।[23] बहुत संभव है- चाण्डाल एवं पुक्कुस ऐसी ही जातियाँ रही हों। रीज डेविड्ज का दीघ निकाय के हवाले से यह निष्कर्षण कि चाण्डाल एवं पुक्कुस चारो वर्णों अतएव शूद्रों से भी अलग थे,[24] अस्पृश्यता एवं आर्य आबादी से पृथक्करण से सन्दर्भ में उचित ही प्रतीत होता है।

अधीत कालीन सामाजिक संगठन में अशौच की परिकल्पना, उसका प्रबल प्रचार एवं व्यापक स्वीकृति के साक्ष्य विभिन्न धर्मसूत्रों में बिखरे पड़े हैं।[25] उन्हें कुत्तों और कौवों के साथ जोड़ा गया।[26] चाण्डाल को देखने, उसकी वाँणी सुनने या उसके समीप आ जाने मात्र से भी अशौच के लगने का

उल्लेख देखा जा सकता है, जैसे-उस स्थान पर वेद का पठन-पाठन वर्जित है जहाँ को चाण्डाल ठहरा हुआ हों,[27] या जहाँ से दिखाई पड़ रहा हों,[28] या जहाँ से वेद पाठन की ध्वनि उसके कानों में जा सकती हो।[29]

प्राचीन पालि ग्रन्थों में भी 'हीन जातियों' के रूप में चंडाल, नेषाद, वेण, रथकार और पुक्कुस के अनेकशः उल्लेख मिल जाते हैं।[30] इन हीन जातियों का ब्राह्मण कालीन समाज के अस्पृश्य जातियों से साम्य भी दृष्टिगत होता है[31]। हीन व्यवसायों, कार्यों एवं जातियों की गणना एवं वर्गीकरण प्रो. रामशरण शर्मा के मतानुसार मौर्यपूर्व काल की प्रवृत्ति मानी जा सकती है।[32] अपने निष्कर्षण के पक्ष में उन्होंने विनयपिटक के एक साक्ष्य का हवाला दिया है जिसमें बुद्ध ने निर्देश दिया है कि भिक्षुओं से उनकी जाति इत्यादि पूछ कर अपमानित न करें।[33]

वस्तुतः जन्मना और कर्मणा दोनों ही आधारों पर ये जातियाँ अधम समझी जाने लगी। चाण्डालों के समान निषादों की भी स्थिति अपने कर्म, प्रकृति[34] 'शिकार' के कारण हीन हो गई और ये अपने गावों में निवास करने लगे।[35] फिक ने बड़ी रोचक तुलना करते हुए बताया है कि शिकारियों का स्थान प्राचीन यूनान में भी निचली पायदानों पर ही रहा।[36]

रथकार, जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों में अपेक्षाकृत ऊँचा स्तर हासिल था,[37] जातकों में कुछ हीनतर स्थितियों में प्रतिबिम्बित किया गया है। क्योंकि सम्भवतः उसने चमड़े पर आधारित शिल्प भी अपना लिया था।[38] लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में जिसमें सामान्य रूप से क्षत्रियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, रथकार, जो कि रथ के पहिए भी बनाता था[39] और इसलिए राजा अर्थात् प्रकारान्तर से क्षत्रियों के सहायक का ही काम करता था, उसे अधम जाति का माना जाना, क्या लगभग सर्वस्वीकृत इस मान्यता पर कि बौद्ध धर्म क्षत्रियों की वकालत करता है, हमें सप्रश्न नहीं कर देता? प्रो. शर्मा की यह मान्यता ठीक ही प्रतीत होती है कि चूँकि बौद्ध धर्म में युद्धों के प्रति घृणा का भाव मिलता है और ये आवश्यक रूप से उससे जुड़े हुए थे अतः इनके प्रति भी उनकी दुर्भावना समझी जा सकती है।[40]

वेणों[41] के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही पृच्छा प्रकट होती है कि यदि 'वैण' और 'तक्षक' शब्द एक ही अर्थ अभिव्यंजित करते हैं[42] तो जिस तक्षक को वैदिक समाज में एक सम्माननीय दर्जा हासिल था उसे बौद्ध साहित्य हीन जातियों में परिगगिणत करता है। परवर्ती जातकों में छिटपुट उल्लेखों को छोड़कर चाण्डालों के स्तर तक इनकी हीनावस्था या अस्पृश्यता[43] प्रमाणित करने के साक्ष्य नहीं पाए जाते।

अब अस्पृश्यता एवं हीन जातियों पर बुद्ध के विचारों का परीक्षण अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योंकि तमाम अनुशीलनों के उपरान्त, मेरी ऐसी मान्यता बनी है, कि उन्होंने बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र के लिए सम्मान एवं समता के सिद्धान्तों का परिपोषण किया।

बुद्ध ने कहा कि कोई भी मनुष्य जन्म के आधार पर न तो चाण्डाल होता है और न ही ब्राह्मण।[44] उच्च वर्णों में जन्म लेने वाले मरते नहीं क्या? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी तो मरते हैं।[45] उन्होंने चारों वर्णों के लोगों को भिक्षु बनने की संस्तुति की है[46] एवं चाण्डालों तथा पुक्कुसों को निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा योग्य बताया है।[47]

ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देते हुए यह प्रतिपादित किया कि शिक्षक बनने की योग्यता किसी जाति विशेष की बपौती नहीं। शिक्षक कोई भी हो सकता है और वह चाण्डाल या

पुक्कुस ही क्यों न हो, सर्वथा आदरणीय है।[48] बुद्ध की शिक्षाओं का उद्देश्य क्या था इसका एक उद्धरण विशेष द्रष्टव्य है जिसमें एक ब्राह्मण चाण्डाल से जादू सीखता है परन्तु संकोचवश उसे गुरू की प्रतिष्ठा नहीं दे पाता फलतः अपनी विद्या भूल जाता है।[49] एक अन्य प्रसंग में एक ज्ञानी चाण्डाल द्वारा शास्त्रार्थ में हार जाने के बाद एक ब्राह्मण युवक को उस चाण्डाल के समक्ष नतशीष होना पड़ा था।[50]

संदर्भ संकेतः

1. पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्यः शर्मा रामशरण, शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डियाः, द्वितीय संस्करण, दिल्ली-1980, पृ.-95.98, 315.16
2. शर्मा रामशरण, भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ.-158
3. जातक, 3-293 4-276- ये दो उल्लेख मगध क्षेत्र के है सुत्तनिपात 1-4। यह उल्लेख काशी क्षेत्र का है। यें सभी बड़े प्रक्षेत्रों के उल्लेख हैं जिन पर ब्राह्मणों का स्वामित्व था।
4. रिचई फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम पृ.-314, दत्तः ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट, पृ.-268-69
5. फाइजर, दि प्राब्लम आफ दि सेट्ठि इन बुद्धिस्ट जातकाज, (आर्कीव ओरियण्टलानी, प्राग, 22), पृ.-238-265
6. ओझा आदित्य प्रसाद, 'प्राचीन भारत में पराधीन समुदाय का सामाजिक स्तरीकरण, हिन्दी कलम, सं- नीलकान्त, अंक-2, जनवरी-जून-1995, पृ.-87।
7. वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु- द्र.-वही अध्याय 2।
8. वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु- द्र.-वही अध्याय 2।
9. ओझा, आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद, 1992।
10. विशिष्ट आर्थिक-गतिविधिँ-लौह तकनीक का कृषि एवं दस्तरी में प्रयोग, अधिशेष उत्पादन नगरीकरण, शिलपौद्योगिक अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्यिक गतिविधियों से आशय।
11. काणे.पी.वी., हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि.-2, भाग-1, पृ. 42। अग्नि, बृहस्पति-ब्राह्मण वर्ण के इन्द्र, वरूण, सोम, यम-क्षत्रिय वर्ण के वसु, रूद्र, विश्वे देवा तथा तथा मरूत वैश्य वर्ण के पूषण-शूद्र वर्ण के।
12. पाराजिक, पृ.-306, (ब्राह्मणोनाम् जातिया ब्राह्मणो)
13. गौतम धार्मसूत्र, 21.6-10, 18-24, 4-14, बौधायन धार्मसूत्र, 1.9.3, आपस्तम्ब धार्मसूत्र, 1.24,9,5।
14. फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डियाँ इन बुद्धाज टाइम, पृ.-30.31।
15. पाचित्तिय पृ.-9.10।
16. बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मण ग्रामों का उल्लेख आता है जैसे-खानुमत (दीर्घ निकाय 1, पृ.-127), एक नाल, (बुक आफ सेक्रेड सेइंग्स 1, पृ.-216), सार्लिन्दय, (जाक 3, पृ.-293), जातक 4,पृ.-276, इत्यादि।
17. वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ.-85.86
18. वही।
19. जातक 2, पृ.-36, जातक 4, पृ.-413, जातक 6, पृ.-71।
20. जातक 4, पृ.-200, 376, 390, महावंश 4/41।
21. मिश्र, जी.एस.पी, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ.-137।
22. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2-1,2, 8-9, बौधायन धर्मसूत्र प्रथम, 1,5,9,5, 1.5.11.36, गौतम धार्मसूत्र 14. 30, वशिष्ठ धार्मसूत्र 23.30।
23. अष्टाध्यायी, 2.4.110

24. टी. डब्ल्यू राइज डेविड्ज, डायलाग्स, आफ द बुद्ध भाग 1, पृ.-99.100, अमबट्ठसुत्त की भूमिका।
25. देखें-इसी अध्याय में संदर्भ सं.-221
26. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2,4,9, 9, गौतम धर्मसूत्र, 15.24।
27. आपस्तम्ब धमसूत्र, 1.3.9.15, गौतम धर्मसूत्र 14.19 वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.11
28. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.9.17,
29. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 23,34।
30. मज्झिम निकाय, 3, 169-78, 2
31. शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118।
32. शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118
33. विनय पिटक, 4, 4-11, शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118, सन्दर्भ सं.-342।
34. जातक, 2, पृ.-200, 6, पृ.-71,170
    जातक 5, पृ.-110, 337
    मनुस्मृति, 10/48, इसकी तिथि अपेक्षाकृत बाद की है परन्तु इसमें निषाद के कर्म में मछली मारना बताया गया है।
35. जातक, 6, पृ.-71,
36. फिक रिचर्ड, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ.-322
37. गृह्यसूत्रों में उसके उपनयन सम्बन्धी विधान भी प्राप्त होते हैं जो निश्चित ही उसकी उच्चतर सामाजिक हैसियत का द्योतक हैं। यथा-भारद्वाज गृह्यसूत्र वसन्ते ब्राह्मणमुनीत...वर्षा रथकारं शिशिरे वा, बौधायन गृहासूत्र 5.6, 8.5 जैमिन मीमांसा सूत्र, 1.50.
38. जातक, 51, द्र.-पेतवत्थु अठकथा, 1.13
    बोस सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ.-456
39. अंगुत्तर निकाय, 1पृ.-111.113
40. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-120.
41. बोस, पूर्वोद्धृत, पु.-454.55
    जातक, पृ.-251, इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि 'वेण' जनजाति वॉस के काम एवं शिकार द्वारा जीवनयापन करती थी।
42. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, पृ.-173.
    जातक पृ.-306, वेण जाति ति तक्षक जाति
43. जातक पृ.-306
44. सुत्तनिपात, 1.7.21, 3.9.57,
45. विमानवत्थु, 5.13.15, पेतवत्थु, 2.6.12,
46. मज्झिम निकाय, 1 पृ.-211, पृ.-182.84,
    संयुक्त निकाय 1.99, विनय पिटक पृ.-239
    अंगुत्तर निकाय, पृ.-202, दीघ निकाय, पृ.-8.98
47. जातक, पृ.-194, पृ.-303.
48. जातक, पृ.-200
49. जातक, पृ.-200
50. जातक पृ.-233-35

इतिहास

बौद्धकाल से मौर्यकाल तक सामाजिक प्रतिरोध का प्रभाव का मूल्यांकन

कविता कुमारी

शोध छात्रा, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

इस पेपर में आलोच्य कालावधि की उन तमाम विशिष्टताओं की समीक्षा का एक विनम्र प्रयास किया है जिसके चलते यह विमर्श्य बन बैठी। अपने आने वाले समय को यह किस रूप में प्रभावित करती हैं, इस विशिष्ट कालावधि में जो हुआ वह क्यों हुआ, क्या वह इसी रूप में होने का अभिशप्त था या कोई और भी विकल्प था। ऐसे ही तमाम सवालात हैं जो हमेशा कौंधते रहत हैं। उन सब पर यथासम्भव विचार करने का प्रयास किया गया है। इतिहास के एक अध्येता के रूप में मुझे ऐसा लगता है कि इसके बाद का काल सामाजिक सन्दर्भों में इसके प्रतिरोध का, तो आर्थिक क्षेत्रों में लगभग इसके स्वीकरण एवं सातत्य का काल रहा।

वस्तुत: बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य संघर्ष भारतीय इतिहास की एक सचाई है।[1] मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है।[2] यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राजनैतिक अभिव्यक्ति थी। यह सही है कि वर्णभेद और जातिभेद की व्यवस्था पर निर्णायक चोट तो बौद्ध और जैन आन्दोलन भी नहीं कर पाए परन्तु जन्म आधारित श्रेष्ठतापर सतत् सवाल खड़े करते रहे।[3] जाहिर है कि इससे सर्वाधिक असुविधा ब्राह्मणों को ही हुई। मनुस्मृति को इस युग की रचना माना जा सकता है।[4] इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का उत्कट् निदर्शन है।[5] बौद्धों के द्वारा की गई क्षतिपूर्ति के निमित्त ब्राह्मणो को अपनी विशिष्टताओं को बनाए रखने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास भी करने पड़े जिसके तहत् काफी कठोर आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ।[6] यह कुपित नियमन था एवं स्वाभाविक रूप से इसकी गाज शूद्रों एवं वैश्यों पर ही गिरनी थी। अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर वे इन्हीं का सर्वाधिक शोषण करते थे तो अब और अधिक विशिष्टता के तर्क पर अधिक शोषण होने लगा। बुद्ध के विचार-प्रचार और अशोक के सदाशयी क्रियान्वयन से निम्नवर्णों की बेहतरी की जो कुछ भी थोड़ी सी आस बँधी थी, उसे सिरे से खारिज कर दिया गया।

अशोक की धारणा थी कि धर्म के प्रचार से मानव देवताओं से मिलेगे।[7] इसी धारणा के तहत धर्म महामात्रों ने जनजातीय लोगों के बीच धर्म का प्रचार भी किया। जो धर्म प्रचारित हुआ रहा होगा, शरीर उसका जो भी रहा हो, आत्मा बौद्ध धर्म ही रहा होगा, जिससे प्रभावित होकर विशाल जनजातीय समुदाय सभ्य समाज की ओर प्रस्थान करता है। खाद्य संग्राहक न रह कर करद कृषक बनता है। यह

उत्संस्करण की सुविचारित नीति थी।[8] यानी धन और जन पर सुनियोजित कब्जा। इस तरह अशोक के राजनैतिक प्रभामण्डल के तले बौद्धों की सुविचारित नीति का यह सूत्रपात्र था कि अधिकाधिक लोग भेदभाव रहित धर्म भी स्वीकार करें और राजस्व भी दें ताकि राजनैतिक शक्ति भी बढ़े।

परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही ब्राह्मण समाज शकों एवं यवनों को अपने में समाहित करता है। वे उत्कृष्ट योद्धा थे और विजेता थे। इस आधार पर उनकी सामाजिक और राजनैतिक हैसियत थी। वैसे इस म्लेच्छ वर्ग का स्वाभाविक सम्मिलन तो बौद्धों के साथ होना चाहिए था क्योंकि वहाँ तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच जन्म-कर्म का कोई विचार ही नही था। परन्तु ब्राह्मण धर्म झटपट इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेता है। यहाँ उनके जन्म-कर्म का कोई विचार नहीं किया जाता। तर्क यह है कि विदेशी जातियाँ मूलत: क्षत्रिय ही थी जो क्रियालोप एंव ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।[9] परन्तु पुनश्च सम्पर्क में आने के कारण उनका क्षत्रियत्व वापस लौटा हुआ माना गया एवं उन्हे क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया। पतंजलि ने भी शकों को विदेशी होने के बाद भी अस्पृश्य नहीं माना है।[10] महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है कि युद्ध कर्म करना विदेशी जातियों का मूल कर्म था। अत: उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया।[11] यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि यदि युद्ध कर्म ही क्षत्रियत्व का आधार था तो महान् धनुर्धारी कर्ण जीवन पर्यन्त सूत-पूत क्यों और किस आधार पर बना रहा?

विदेशी जातियों के प्रति यह सदाशयी लचीलापन कहीं आन्तरिक चुनौतियों एवं प्रतिरोधों के परिशमन हेतु बाहरी समर्थन की आवश्यकता के तहत तो नहीं था?

जीवन की व्यवस्था के सन्दर्भ में भी हल्की सी प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। बौद्धों द्वारा श्रमण विचार धारा को पुष्ट किया गया। जैन मत भी इसी विचार धारा का पोषक था।

तत्कालीन समाज में इसका बड़ा असर देखा गया क्योंकि काफी बड़ी आबादी स्त्री-पुरुष श्रमण जीवन की ओर आकर्षित हुई। यह पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तो के प्रतिकूल बैठता था।

बहुत संभव है कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मनु से सुव्यवस्थित गृहस्थ जीवन पर बल दिया हो। उन्होंने प्रतिपादित किया कि गृहस्थ हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर सकता है। अत: गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है।[12] अन्यत्र भी गृहस्थाश्रम की महत्ता के प्रतिपादक साक्ष्य पाये जाते हैं।[13] संन्यास को पापिष्ठा कहा गया है।[14]

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के भिक्षु जीवन के प्रति इस युग में एक नकार का भाव स्वत: ही प्रतिक्रिया का रूप लेकर उभरता है। एक तो पहले से ही ब्राह्मण सन्यासियों की अच्छी-खासी जमात थी। उसपर जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं की बाढ़ तो वास्तव में एक बोझ थी। इसी से सन्दर्भित एक अन्य रोचक तथ्य विमर्श्य हो जाता है कि क्यों तत्कालीन सभी ग्रन्थ चाहे बौद्ध चाहे जैन चाहे ब्राह्मण निरपवाद रूप से दान के सद्गुणों का बखान करते नहीं अघाते।[15] यह परजीवी जमात के पालन पोषण का सुनियोजित अभिमान था, जिसमें आश्चर्य जनक रूप से सभी धर्म सम्प्रदायों में आपसी एका के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिए चयनित काल विशेष में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं समाज की आधार शिला वर्ण व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को लेकर भी कुछ प्रश्न उठ खड़े हुए हैं।

प्रो. शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में इस व्यवस्था के बारे में जो अभिमत दिया है वह ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है। वे किसनों, कारीगरों भाड़े के मजदूरों और खेतिहर गुलामों के द्वारा उत्पन्न सामाजिक अधिशेष के उपभोग के निमित्त वर्णव्यवस्था को आविष्कृत हुआ पाते हैं।[16]

ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर यानी आलोच्य कालावधि की और क्रमिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था विकसित होती है। निर्वाह की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था की ओर प्रयाण करती है। वर्ण व्यवस्था उतनी ही अनुदार, संकीर्ण और जटिल होती गई। दस्तकारी और कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से किसान भरण-पोषण के अतिरिक्त भी पैदा करने लगा। दस्तकारी में विकास ने किसानों को बेहतर औजार तो उपलब्ध कराए ही, उच्च सामाजिक तबके के लिए भोग-विलास के अवयव भी उपलब्ध कराए। यहीं पर ब्राह्मण विचारकों ने एक सर्वथा नवीन सामाजिक तंत्र की नींव डाली, ताकि आलोच्य कालावधि में आर्थिक प्रगति, विकास एवं विस्तार का फल मजदूरों एवं कृषकों को न मिल कर राजाओं और पुरोहितों को मिले।[17] इस अद्‌भुत सामाजिक तंत्र, व्यवस्था और संगठन को वर्णव्यवस्था कहा गया। यह जन्मगत आधारों पर लोगों की स्तरीकृत करने का स्वेच्छात्मक प्रयास था,[18] न कि दैवी विधान। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें मूल उत्पादन कर्ता निम्नतम पायदान पर रहे और अधिशेष के व्यवस्थापक, वितरक एवं उपभोक्ता सामाजिक संगठन के शीर्ष पर विराजमान हुए। वैश्य-शूद्र श्रम पर आधारित इस सामाजिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय किसानों और कारीगरों द्वारा किए गए श्रम एवं धन पर आराम की जिन्दगी जीते थे। चूंकि बौद्ध एवं जैन विचार धाराओं के 'प्रचार-प्रसार' या उस व्यवस्था के पोषकों की भाषा में कहें तो 'उकसावे' के कारण कभी-कभी इस व्यवस्था के गहरे संकट में पड़ जाने की आशंका भी सताती रही होगी। अत: यह व्यवस्था निर्वाध चलती रहे, इसके लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्यूह रचना की गई। गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवन यापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में जन्म लेते हैं, जो सौन्दर्य, दीर्घ जीवन, वेदज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते है। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और पुन: विभिन्न निम्न स्थितियों में जन्म लेते हैं।[19]

संदर्भ संकेत:

1. वी.आर. अम्बेडकर, द अनटचेविल्स, 1969, पृ. 147।
2. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारतीय का सामजिक इतिहास, पृ. 123।
3. सुत्तनिपात, 1.7.21, 3.5.57।
4. व्यूलर ने मनुस्मृति का काल ई.पू. 200 से 200 ई. तक के मध्य में माना है। द्र., सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट 25 प्रस्तावना,
   जायवसवाल ने इसे शुंगवंश में होने वाली ब्राह्मण प्रतिक्रिया का समकालीन माना है। द्र., मनु एवं याज्ञवल्क्य, पृ. 25-32।
5. मनुस्मृति 1.93, उत्तम अंग (मुख) के उत्पन्न होने के कारण, क्षत्रियादि से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों के धारणकर्ता होने के नाते ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।
   उत्मागोंद्‌भा ज्येष्ठ्याद ब्राह्मणश्चैव धारणात्

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो: ब्राह्मण: प्रभु:।
कई अन्य उल्लेख भी दृष्टव्य है, मनुस्मृति 1.95, 1.96, 1.97, 1.98, 1.99 इत्यादि।

6. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.21, इसमें सुमन्त को उद्घृत करते हुए दुराचारी ब्राह्मण प्राणदण्ड अभिहित किया गया है।
बौधायन धर्मसूत्र, 1.10, 18.19 ब्रहम हत्या गुरुतल्प, सुवर्ण स्तेय, सुरापान करने पर तप्त लोहे से दागकर निर्वासित कर देना चाहिए।
7. शर्मा रामशरण, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास पृ. 158।
8. उत्संस्करण की नीति द्र. वही, पृ. 158।
निम्न संस्कृति के लोगों का उच्चतर संस्कृति में विलयन से सम्बन्धित नीति। महाकाव्य 'रामायण' की नर-वानर मैत्री क्या उत्संस्करण की नीति ही थी? या राम के द्वारा अपने हितों के निमित्त वानरों का उपयोग कर लिया गया और उन्हें अपने समाज में अपनी नियति के साथ छोड़ दिया गया। संभव है कि वानर जाति के प्रति राम की सदाशयता रही हो परन्तु इस मात्र से कुछ ठोस होता है? कितने वानरों को सुसंस्कृत बनाया गया। सामाजिक-राजनैतिक संरचना में कोई पद अथवा आधार दिया गया? समय समाज के अनुरूप अनुकूलित किया गया? इसकी तुलना में कम से कम अशोक ने जरूर कुछ सदाशयी क्रियान्वयन भी किया था। भले ही राजनैतिक आर्थिक हितों के लिए ही
9. मनुस्मृति 10 43-44
''शनकैस्तु क्रियालोपादिमा: क्षत्रिय जातय:
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च''।10, 43
''पौण्ड्रकाश्चौण्ड्र द्रविणा कम्बोजा यवना: शका:
पारदापह्ल्वाशचीना किराता: दारदा: खशा:, 10.44।
10. पतंजलि महाभाष्य 2.4.10।
11. महाभारत अनुशासन पर्व, 33.21.23।
12. मनुस्मृति, 3.77
यथा वायु सामश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव: तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।
13. मनुस्मृति 6.10,।
यथा नदी नदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् तथैव: श्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् व्यास स्मृतति, 4, 2-2, 13-14 महाभारत शान्ति पर्व, 12.6।
14. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त पृ. 231।
15. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य।
रामशराण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ.159।
16. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 51।
17. विस्तृत विवरण के लिए देखे रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 158
अन्यत्र भी, रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ. 94-99, 315-316।
18. आर.सी. मजूमदार ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 49।
19. गौतम धर्म सूत्र 5.8.235।

इतिहास

ब्रिटिश काल की शिक्षा नीति का ऐतिहासिक मूल्यांकन

राजू कुमार राजू

शोधप्रज्ञ, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

लॉर्ड मैकाले की योजना

भारत में लॉर्ड मैकाले गवर्नर-जनरल की काउंसिल का कानून-सदस्य (ला मेम्बर) था। इसके पूर्व वह इंगलैंड में लेखक एवं वक्ता के रूप में विख्यात हो चुका था। जब वह भारत पहुँचा तो उस समय आंग्लवादी एवं प्राच्यवादी में बड़ा विवाद छिड़ा हुआ था, उसने आंग्लवादियों का पक्ष ग्रहण किया एवं वह भारत में अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दिये जाने का एवं पाश्चात्य शिक्षा का बड़ा समर्थक बन गया।

लार्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले को सर्वसाधारण शिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। फरवरी, 1835 ई. में लॉर्ड मैकाले के निर्णयात्मक वोट द्वारा यह निश्चित किया गया कि भारतीयों को पाश्चात्य साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा अंग्रेज़ी माध्यम से दी जानी चाहिए। इस प्रकार, भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में 'सर्वसाधारण शिक्षा समिति' का उपर्युक्त निर्णय पूरी अगली शताब्दी के लिए भारत के माथे पर भाग्य की रेखा बन गया। इस नवीन शिक्षा नीति का मुख्य प्रतिपादक लॉर्ड मैकाले था। उसे उन यूरोपीय विद्वानों से घोर असन्तोष था जो भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की प्रशंसा करते थे। उसका विचार था कि एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी की पुस्तकें भारत और अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर हैं–'A Single Shelf of a good Europeon library was worth the whole native literature of India and Arabia.

लॉर्ड मैकाले कहा करता था कि अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से भारतीय अपनी सभ्यता संस्कृति तक भी भूल जाएँगे एवं अंग्रेज़ी खान-पान, वेश-भूषा के पुजारी बन जाएँगे। इसके द्वारा वह भारत में एक ठोस वर्ग को उत्पन्न करना चाहता था जिनका रक्त तो भारतीय हों, परन्तु जो रुचि, रीति-रिवाज, सम्मति और बुद्धि में पूरे अंग्रेज हों। भारतीय प्रशासन में इसके अतिरिक्त अंग्रेज पदाधिकारों की सहायता के लिए लिपिकों की आवश्यकता थी। वस्तुतः लॉर्ड मैकाले की अंग्रेज़ी शिक्षा योजना का प्रमुख उद्देश्य लिपिकों को पैदा करना था।

इस प्रकार, भारत में अंग्रेज़ी भाषा का प्रसार करने में लॉर्ड मैकाले की कोई निस्वार्थ भावना नहीं थी, वरन् अपने देश के हित के लिए ही उसने ऐसा किया। ब्रिटिश सरकार ने 1835 ई. में शिक्षा-सम्बन्धी नियम भी लागू कर दिया, जिसके द्वारा भारतीयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी घोषित कर दिया गया।

1835 ई. के बाद शिक्षा की प्रगति–भारत में 1835 ई. के बाद अंग्रेज़ी शिक्षा का तेजी से प्रचार-प्रसार होने लगा।

23 सरकारी विद्यालयों की स्थापना 1839 ई. तक की गयी। 1842 ई. में इनकी संख्या बढ़कर 51 हो गयी। कमिटी ऑफ इंस्ट्रक्शन के स्थान पर काउंसिल ऑफ एजुकेशन की स्थापना की गयी। 1844 ई. में कम्पनी सरकार ने इस बात की घोषणा कर दी कि सरकारी नौकरियाँ देते समय अंग्रेज़ी जानने वालों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाएगा। इससे अंग्रेज़ी शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

उत्तर-प्रदेश में 1843-54 ई. में थामसन योजना चलाई गयी। इसके अनुसार कई गाँवों की एक सर्किल बनाई गयी एवं प्रत्येक सर्किल के जमींदारों से लगान का एक प्रतिशत अपने सर्किल में स्थित स्कूलों की सहायता हेतु देने के लिए कहा गया। यह योजना 1853 ई. में कई अन्य जिलों में तथा बम्बई एवं मद्रास की प्रेसीडेंसियों में भी लागू कर दी गयी।

बेंटिक ने 1835 ई. में कलकत्ते में मेडिकल कॉलेज की और रुड़की में थामसन इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की। 1834 ई. में बम्बई में एल्फिस्टन कॉलेज की स्थापना की गयी। 1836 ई. में एक कॉलेज हुगली में तथा अन्य कॉलेज ढाका, पटना तथा नागपुर में स्थापित किये गये। मद्रास यूनिवर्सिटी 1852 ई. में आरम्भ की गयी। सरकारी विद्यालयों में कुछ छात्रवृत्ति भी देने की व्यवस्था की गयी एवं भारतीय भाषाओं को समुन्नत बनाने में धन व्यय किया गया।

शिक्षा प्रसार में ईसाई मिशनरियों ने भी बहुत योग दिया। किन्तु इनका प्रधान लक्ष्य शिक्षा का प्रसार न होकर अपने धर्म का प्रचार था।

वुड्स डिस्पैच

कंपनी में सर चार्ल्स वुड बोर्ड ऑफ कंट्रोल का प्रेसीडेंट था। उसने भारत में शिक्षा-प्रसार हेतु एक योजना बनाई, जिसे भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का महान्-पत्र (मैग्नाकार्टा) कहा जाता था। यह 1853 ई. के वुड्स डिस्पैच के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस पत्र में निम्नलिखित सिफारिशें की गयी थीं–

(i) सरकारी शिक्षा के प्रयत्न का उद्देश्य शिक्षा को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाना है।

(ii) शिक्षा सरकारी साधनों द्वारा दी जाए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अनिवार्य कर लगाया जाए। इस पद्धति को ऊपर की ओर विस्तृत करने के लिए नमूने के रूप में सरकारी स्कूल स्थापित किये जायें, जिनका स्थान क्रमशः ऐसे स्कूल थे, जिन्हें सरकारी सहायता के सिद्धान्त पर खोला जाय।

(iii) शिक्षा-पद्धति पूर्णतः धार्मिक तटस्थता पर निर्धारित की जाए।

(iv) शिक्षकों की प्राप्ति के लिए प्रान्तों में ट्रेनिंग कॉलेज खोले जाएं।

(v) शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं हों जिनमें अंग्रेज़ी की सर्वोत्तम प्रारम्भिक पुस्तकों का अनुवाद किया जाए। इस प्रकार, भारतीय भाषाओं का पूरा ध्यान रखा जाय तथा जहाँ अंग्रेज़ी भाषा के लिए माँग हो वहाँ उसके शिक्षण की भी समुचित व्यवस्था की जाए।

(vi) संस्कृत व अरबी की शिक्षा के लिए वर्त्तमान संस्थाओं को बनाये रखा जाए।

(vii) स्त्री-शिक्षा पर भी समुचित ध्यान दिया जाए।

(viii) सरकारी सहायता प्राप्त कॉलेजों एवं स्कूलों जिनमें साधारण शिक्षा दी जाए के अतिरिक्त कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कला एवं कृषि आदि की विशेष शिक्षा के लिए भी संस्थाएं खोली जाएं।

(xi) इस शिक्षा-पद्धति के संचालन के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक विभाग खोला जाए जिसके अन्तर्गत एक संचालक एवं अनेक निरीक्षक नियुक्त किये जाएँ।

(x) प्रत्येक प्रेसीडेंसी में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर एक-एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए।

शिक्षा-प्रचार के लिए वूड्स डिस्पैच की सिफारिशों के आधारों पर विभिन्न कदम उठाये गये। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा विभाग खोला गया। 1857 ई. में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। 1882 ई. में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1887 ई. में खोला गया। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षाएँ लेते थे जबकि अध्ययन कार्य इससे सम्बन्धित कॉलेजों में होता था। प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या में भी वृद्धि की गयी। भारतीय भाषाओं को कम प्रोत्साहन दिया गया जबकि अंग्रेजी भाषा को विशेष प्रोत्साहन दिया गया।

हंटर कमीशन

शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम 1882 ई. में हंटर कमीशन की नियुक्ति था। इसने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें पेश कीं–

1. सरकार उच्च शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध तथा प्रत्यक्ष रूप में सहायता करने से धीरे-धीरे अपना हाथ खींच ले। यदि संभव हो सके तो इसे भारतीयों के हाथ हस्तान्तरित कर दिया जाएँ।
2. कॉलेजों की सामान्य तथा विशेष अनुदान देने की व्यवस्था की जाए। कॉलेज में शुल्क तथा नि:शुल्क शिक्षा देने के संबंध में कुछ साधारण सिद्धान्तों का अनुसरण होना चाहिए। छात्रवृत्ति के सम्बन्ध में नये नियमों के बनाने की व्यवस्था की गयी। बड़े-बड़े कॉलेजों में वैकल्पिक विषयों को रखने की व्यवस्था की जाए। एक नमूने की पाठ्य-पुस्तक बनाने का प्रयत्न किया जाए, जो स्वाभाविक धर्म के आधार पर बनी हो एवं जो सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में पढ़ाई जाए।
3. शिक्षा को मुसलमानों में प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जाए।
4. सभी प्राइमरी स्कूलों का निरीक्षण शिक्षा-विभाग के सरकारी अफसरों द्वारा होगा और उन पर उनका नियंत्रण रहेगा।
5. विद्यार्थियों के शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार के विकास की ओर ध्यान दिया जाय। इसके लिए अपनी आय का एक भाग अलग कर देना चाहिए एवं यह शिक्षा राज्य जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं द्वारा दी जानी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा स्थानीय अथवा प्राइवेट संस्थाओं द्वारा दी जानी चाहिए। यथासंभव माध्यमिक स्कूलों को गैर-सरकारी प्रबन्ध को सौंप देना चाहिए।

हंटर कमिटी की कई सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया। फलत: अगले दस वर्षों में विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हो गयी।

रैले कमीशन

लॉर्ड कर्जन का शासनकाल (1899-1905) भारतीय शिक्षा के विकास के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। कर्जन एक घोर साम्राज्यवादी था और भारतीय-शिक्षा पद्धति पर वह पूर्ण सरकारी नियंत्रण रखना चाहता था।

शिक्षा विभाग में उसने केन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया एवं शिक्षा-व्यवस्था पर नियंत्रण तथा निरीक्षण स्थापित करने का प्रयत्न किया। जनवरी, 1902 ई. में लॉर्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों के संगठन तथा कार्य पर रिपोर्ट देने, शिक्षा-स्तर को उठाने तथा नियुक्त शिक्षा को उन्नत बनाने के लिए सिफारिशें करने के लिए रैले की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं–

1. विश्वविद्यालयों के प्रशासन का पुनर्गठन किया जाए।
2. विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कॉलेजों पर कड़ी देख-रेख तथा उन्हें सम्बद्ध करने के लिए कठोर शर्तें रखी जाए।
3. विद्यार्थियों के आवास-स्थल तथा कार्य की दिशाओं पर अधिक ध्यान दिया जाए।
4. निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षण का प्रबन्ध किया जाए।
5. पाठ्य-क्रम तथा परीक्षा-पद्धति में सारभूत परिवर्तन न हो।

शिक्षा पर पूर्ण सरकारी नियंत्रण कायम करना उपर्युक्त रैले कमीशन की सिफरिशों का मुख्य उद्देश्य था। अतः भारतीयों ने इसका विरोध किया। लेकिन लॉर्ड कर्जन ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उन सिफारिशों के आधार पर 1904 ई. में 'विश्वविद्यालय अधिनियम' पास करवाया। इस एक्ट से विश्वविद्यालयों की प्रबन्धक संस्थाओं का पुनर्निमाण ने किया। विश्वविद्यालय के सिनेट में कम-से-कम 50 और अधिक-से-अधिक 100 सदस्य हो सकते थे। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के लिए निर्वाचित सदस्यों की संख्या 20 और शेष दो विश्वविद्यालयों के लिए 15 रखी गयी। सिंडीकेटों को कानूनी-मान्यता दे दी गयी और उसमें अध्यापकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया गया। कॉलेजों पर सरकारी नियन्त्रण रखने का निश्चय किया गया तथा कॉलेजों को किसी विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित करने या न करने का अंतिम निर्णय भी भारत सरकार के हाथ था। विश्वविद्यालय अभी तक परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ ही थीं। इस कानून द्वारा उन्हें शिक्षण-कार्य के योग्य बनाने की व्यवस्था की गयी।

इस एक्ट ने विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को समाप्त कर दिया। अतः भारतीयों ने इसका बड़ा विरोध किया। लेकिन कर्जन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया एवं अपनी उच्च शिक्षा-सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। उसने प्रारम्भिक शिक्षा-क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय सुधार किया, तथा प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए दो लाख तीस हजार पौंड वार्षिक धन-राशि स्थाई रूप से स्वीकृत की तथा अध्यापकों के वेतन-वृद्धि का आदेश दिया। उसने कृषि-शिक्षा, औद्योगिक-शिक्षा और सामान्य शिक्षा के विकास के लिए भी प्रयत्न किये। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप जमशेद जी. टाटा ने भारी धनराशि उदारतापूर्वक बंगलौर की विज्ञान-संस्था की स्थापना में व्यय की।

संदर्भः

K V Singh: *Adult Education in India : Historical Perspective*, Vista International, Delhi, 2007.

Jagdish Chand: *Education in India During British Period*, Anshah Pub, Delhi, 2007.

Alok Mukherjee: *This Gift of English : English Education and the Formation of Alternative Hegemonies in India*, Orient Blackswan, Delhi, 2009.

Yogesh Kumar Singh and Ruchika Nath: *History of Indian Education System*, APH, Delhi, 2005.

S. Ram Sharma: *Womens Education in Ancient and Muslim Period*, Discovery, Delhi, 1996.

Amiya P. Sen: *Social and Religious Reform : The Hindus of British India*, Oxford University Press, Delhi, 2003.

इतिहास

हिन्द स्वराज का ऐतिहासिक विश्लेषण
आज के संदर्भ में

रमेश कुमार गुप्ता

शोधप्रज्ञ, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

गाँधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में द्वेष के स्थान पर प्रेम, हिंसा की जगह बलिदान और पशुबल की बजाय आत्मबल की तार्किक वकालत के साथ आधुनिक मानवीय सभ्य के विकास को वैकल्पिक दिशा देने की कोशिश की। प्राचीन काल से दुनिया में धर्मपरायण और नीति प्रधान सभ्यता आचरण का जोर और प्रसार रहा है।

नए दौर में अमेरिका और यूरोप की हिंसक विकास और भौतिकवादी समृद्धि और चिंतन का अकर्षण पूरी दुनिया में बढ़ा। गाँधीजी इस विरोधाभासी स्थिति को समझ रहे थे। उन्हें लगा कि जो लोग आस्थावान हैं और धर्म के साथ नीति प्रधान आचरण के हिमायती हैं, उनको नए समय की द्वंद्वात्मक स्थिति में आत्मशक्ति का प्रयोग करना सिखाया जाए। स्वराजशास्त्र इसी विचार को तार्किक कसौटी प्रदान करता है। गाँधीजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में 'स्वराज' को परिभाषित किया है। उनकी नजर में स्वराज का अर्थ था–मनुष्य की और समाज की किसी के प्रति पराधीनता नहीं हो, किसी की अधीनता नहीं हो, लेकिन साथ ही अपने ऊपर भी आत्मनियंत्रण हो। आजादी और आत्मनियंत्रण यानी आत्मसंयम, यही गाँधीजी के स्वराज का अर्थ था। इसलिए वह अंग्रेजी राज्य के विकल्प के तौर पर भारतीय विशिष्टजनों का राज्य, भारतीय राजा-महाराजाओं का राज्य या देशी धार्मिक गुरुओं और संतों का नियंत्रण, इनमें से किसी को भी वे अंग्रेजी गुलामी के समान ही खतरनाक समझते थे। उनकी राज्य-संस्था की समाज को दिशा देने के बारे में कोई खास आस्था नहीं थी और वह बाजार को भी मूलतः लोभ और विषमता का स्रोत मानते थे।

इसलिए वह सामुदायिक स्वावलंबन, सामुदायिक सहयोग और सर्वोदय के दर्शन के आधार पर मनुष्य को स्वाधीनता की कल्पना करने के लिए और स्वाधीन समाज की संरचना करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे। गांधीजी ने हमेशा धर्म और आध्यात्मिकता के संदर्भ में यह लगातार समझाने का प्रयास किया कि मनुष्य का जीवन सिर्फ भौतिक जगत का परिणाम नहीं है।

इसमें उससे ऊपर भी, उससे अलग भी, उससे ज्यादा गहरा और एक व्यापक पहलू है और इसे उन्होंने धर्म को भारतीय दर्शन परंपरा के द्वारा दी गई परिभाषा के आधार पर माना, जिसमें धर्म नैतिकता और सदाचार का स्रोत माना गया है । इसलिए वे अंततः आध्यात्मिकता का श्रेष्ठतम आधार सर्वधर्म समभाव को मानते थे।

इसके अलावा भारत की गुलामी के जो कारण थे, इस बारे में हिन्द स्वराज एक मौलिक दृष्टि देती है। गाँधीजी के अनुसार दुनिया का कोई भी देश तभी किसी और देश द्वारा पराधीन और पराजित किया जा सकता है, जब वह देश अपनी विरासत और अपनी परंपरा के जो श्रेष्ठ तत्व हैं उनसे विचलित हो, स्खलित हो और किसी दूसरी संस्कृति के विधि-विधान और भौतिक ढांचे के प्रति आकर्षित हो । उनका ये मानना था चूँकि भारत में पश्चिम के प्रति लालच पैदा हुआ, अपनी जड़ों के प्रति नासमझी पैदा हुई और बहुत गहराई तक सामाजिक विषमता फैली।

इसलिए भारत पश्चिम के भौतिकवादी आकर्षण और अपनी अंदरुनी सामाजिक अराजकता या विचलन के संयोग से अंग्रेजों का गुलाम हुआ। उन्होंने माना कि भारत की आजादी के लिए अंग्रेजों की हत्या करना उतना जरूरी नहीं है, जितना अंग्रेजीयत के प्रति या पश्चिमी सभ्यता के प्रति सारे मध्यवर्ग समेत देश के बड़े हिस्से में जो आकर्षण फैला हुआ है, उसको दूर किया जाए। इसलिए असहयोग से शुरू होकर स्वदेशी तक जाना ही हमारी स्वतंत्रता को साकर करने का सीधा रास्ता है। स्वदेशी को बहुत से लोग समझते हैं कि गाँधीजी ने बैलगाड़ी युग की तरफ जाने का रास्ता दिखाया। जबकि सच्चाई ठीक इसके उलट है।

स्वदेशी की अवधारणा को गाँधीजी कुछ इस तरह कहते थे कि मेरी भौतिक जरूरतों के लिए मेरा गांव मेरी दुनिया है और मेरी आध्यात्मिक जरूरतों के लिए समूची दुनिया मेरा गांव है। उनके स्वदेशी का अर्थ अपने पड़ोस से उत्पन्न संसाधनों के आधार पर जीवनशैली बनाने की रणनीति है। गाँधीजी के मन में सभ्यता विकास के भौतिकवादी, यांत्रिक और हिंसक विकल्प को लेकर बढ़े आकर्षण का खतरा सबसे ज्यादा था। इसके प्रति वह प्रखर और विरोधी युवा भारतीय मन के साथ पूरी दुनिया को भी आगाह करना चाहते थे। उन्होंने लिखा, 'यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है और महापाप है। अगर इस समय नहीं चेते तो चारों ओर से घिरकर बर्बाद हो जायेंगे।' उन्होंने सख्ती के साथ कहा, 'हिन्दुस्तान को रेलों ने, वकीलों ने और डॉक्टरों ने कंगाल बना दिया है।'

गाँधीजी के यंत्र विरोध की बात देश-विदेश के विचारकों के गले नहीं उतरी। मिल्टन मरी ने कहा कि चरखा भी इंसान की बनाई हुई कृत्रिम चीज है। इसी तरह डिलाइल बर्न ने हल, सिंचाई के साधनों आदि की मिसाल देते हुए कहा कि ये मनुष्य के हजारों सालों के प्रयत्न और परिश्रम से बने हैं। नीतिहीनता यंत्रों में नहीं, उसके इस्तेमाल करने वालों में होती है। ऐसा नहीं है कि गाँधीजी इन विचारों से सहमत नहीं थे। जब उनसे इस बाबत पूछा गया तो वे मुस्कुराते हुए बोले, 'यह शरीर भी एक नाजुक यंत्र ही है। चरखा और दांत की छोटी कुरेदनी भी यंत्र ही है। मेरा विरोध यंत्रों से नहीं बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है, उससे है। यंत्र से मेहनत जरूर बचती है, पर लाखों लोग बेकार होकर भूखों मरने लगते हैं। यंत्र के पीछे प्रेरणा मेहनत बचाने की नहीं, धन कमाने का लोभ है।

गाँधीजी के रेलगाड़ियों का विरोध तो आज तक लोगों के गले नहीं उतरा है। स्थान और दूरी को आपस में जोड़ने में रेलगाड़ियों की भूमिका क्रांतिकारी है। देश में रेल की पटरियां बिछाने वाले अंग्रेजों ने तो यहां तक दावेदारी की कि रेलगाड़ियों ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में जोड़ा है, पर शायद गाँधीजी की चिन्ता का स्तर कुछ और था। वे देख रहे थे कि रेल से कच्चा माल और सस्ता श्रम शहरों में पहुंच रहा है। इस दोहन में गांव के हिस्से से जितना कुछ जा रहा है, उतना लौटकर नहीं

आ रहा है। इससे गांवों की अपनी ताकत, उसकी श्रम शक्ति और हुनरमंदी छिन रही है और उसकी जगह चंद लोगों की समृद्धि और कुछेक शहरों का चमकीला विकास आकार ले रहा है। शायद रेल विरोध से असहमत होने वाले भी गाँधीजी की इस चिन्ता को सीधे खारिज न कर सके।

'हिन्द स्वराज' को लेकर एक बड़ी गलतफहमी इसमें डॉक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों और शिक्षकों आदि के पेशे पर की गई टिप्पणियों को लेकर है। वे इन पेशों को धनार्जन से सीधे जोड़ने के विरोधी थे। उनके मुताबिक, सेवा और कर्तव्य को पेशा और धंधा बनाना मानव सभ्यता के लिए कदापि मंगलकारी नहीं हो सकता। पिछले कई दशकों में इन पेशों से जुड़े लोगों और उनके कृत्य को लेकर कई शर्मनाक अनुभव हमारे सामने हैं। विकास को पेशेवर नजरिये से देखने वाले भी शायद ही यह वकालत करें कि मानव सेवा और विकास से जुड़े ये पेशे सीधे-सीधे काले मन और काले धन से जुड़ जाएँ।

गाँधीजी की सामाजिक-आर्थिक संरचना का मुख्य आधार नैतिक था। यह दृष्टि 'हिन्द स्वराज' में मिलती है। इसकी मुख्य विशेषता है कि गाँधी ने पाश्चात्य सभ्यता को एक सिरे से नकार दिया है। हिन्द स्वराज में गाँधी ने कहा कि लोग अच्छे घरों में रहना और अच्छे कपड़े पहनने को सभ्यता समझते हैं; शारीरिक सुख को सभ्यता से जोड़ते हैं। इसने इंग्लैण्ड के लोगों को आधा पागल बना दिया है। भारत को अपरिवर्तनशील होने के कारण पिछड़ा माना जाता है। लेकिन यही भारत की शक्ति है। सुधार या आधुनिकीकरण लोगों को अपने कर्तव्यों को भली-भांति करना सिखाता है। यह लोगों को आत्मानुशासित रखता है। यह वास्तविक आधुनिकीकरण है।

शरीर को तो जितना आराम दीजिये उसे उतना ही और चाहिये। भारत के पूर्वजों ने इसे समझ लिया था। सुख या दु:ख मस्तिष्क की अवस्थायें हैं। इसका गरीबी या अमीरी से कोई सम्बन्ध नहीं है। गाँधी राज्य की न्यूनतम भूमिका के पक्ष में थे। यह तभी संभव है जब व्यक्ति स्वानुशासित हो। गाँधी की दृष्टि में नैतिक उन्नति ही वास्तविक विकास है न कि भौतिक उन्नति। भौतिक उन्नति वाला समाज अन्तत: नैतिक रूप से गिर जाता है। एक गरीब व्यक्ति जितना नैतिक होता है उतना अमीर नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने अपरिग्रह का सिद्धान्त दिया।

भारत के संतों, ऋषियों ने उच्च नैतिक आदर्शों के लिये सादा जीवन स्वीकार किया। भौतिक उन्नति केवल अति निर्धनता के कष्ट के निवारण की सीमा तक होनी चाहिए। गाँधी के अनुसार व्यक्ति के लिये निर्धारित मानदंड ही समाज के ऊपर भी लागू होते हैं। इस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना ही एक स्थिर समाज दे सकती है। आज पूंजीवाद ने पूरी दुनिया को जिस तरह अपनी चपेट में लिया है और उसके क्या परिणाम आ रहे हैं, यह बताने की जरूरत नहीं है। अमीर को और अमीर बनाया तथा गरीब को मजबूर और मजदूर। अमीरी का ढिंढ़ोरा पीटा जा रहा है। गरीबी देखकर राजनेताओं को न शर्म आ रही है और न करुणा। किसान आत्महत्या कर रहे हैं, कितनों को इसकी फिक्र है?

रोजगार की तलाश में गांवों के लोग शहर की ओर पलायन कर रहे हैं। इसलिए कि गांवों में पेट भरना भी समस्या बन गया है। पूंजीवाद के कारण आई आर्थिक मंदी रोजगार में लगे लोगों को भी सड़क पर ढकेले जा रही है। बैंको के ईएमआई नहीं भरने की वजह से लोग फांसी पर लटक रहे हैं। सब तरफ अराजकता है। गाँधीजी ने सौ साल पहले इस भयावह भविष्य को देखकर ही

समानता, घरेलू उद्योग, पारंपरिक बातों की ओर ध्यान दिलाया था। गाँधीजी ने मशीन का विरोध नहीं किया, उसे सेवा से जोड़ने का विचार दिया। खादी के प्रचार-प्रसार में इसलिए अपनी ताकत झोंक दी क्योंकि उससे असमानता मिटती और करोड़ों लोगों को रोजगार मिलता।

गाँधीजी का संकेत था कि जब तक जन और समाज लोगों की आँखों में नहीं होगा तब तक राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था मजबूत नहीं होगी। संसद के चुनाव हो रहे हैं, उसमें किस तरह का माहौल है, क्या कभी किसी ने गाँधी मार्ग को समझने की कोशिश की?

गाँधीजी के स्वराज का मतलब है, स्वयं के अन्दर पहले व्यवस्था तैयार करो यानी निज पर शासन। अगर ऐसा हो पाए तो देश की आधी समस्याएँ वैसे भी दूर हो जायेगी। गाँधीजी ने पश्चिमी सभ्यता के अवगुणों को दिखाया था। उन्होंने उसे देखा था, अनुभव किया था। आज वही पश्चिमी मुल्क गाँधी यानी भारत (पूरब) के दर्शन को अपनाने के लिए परेशान है। पूरब की संस्कृति में उन्हें सुख, शांति, आनंद के संपूर्ण भाव दिखाई दे रहे हैं।

इसलिए आज की सबसे बड़ी जरूरत है कि 'हिन्द स्वराज' के बारे में आज की पीढ़ी को बताया जाए ताकि उन्हें पता चल पाए कि भारतीय किस तरह अपने जीवन, दर्शन, परंपरा और लौकिक संस्कृति को छोड़ते जा रहे हैं और फिर वहीं लौटने की कितनी जरूरत है।

संदर्भ:

1. एंथोनी गिडन्स, 'द थर्ड वे : द रिनिवल ऑफ सोशल डेमोक्रेसी', पोलिटी प्रेस, यू०के०, 2005
2. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, पब्लिकेशन डिवीजन, भारत सरकार, 2000
3. जूलियन एल० साइमन एण्ड हरमन कॉन, 'द रिसोर्सफुल अर्थ', ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड, 1984
4. जे० पटेल एन्थेनी (सम्पा०), 'गांधी : हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स', फाउंडेशन बुक्स, नई दिल्ली, 1997
5. मोहनदास करमचंद गांधी, 'माई एक्सपेरिमेन्ट्स विद् ट्रूथ' (अनुवादक : महादेव देसाई), नवजीवन पब्लिकेशन हाउस, अहमदाबाद, (1927), 2006 पुनर्मुद्रण
6. राजमोहन, 'द गुड बोट मैन', पेंगुइन बुक्स इंडिया, 1995
7. लायड रुडाल्फ एण्ड सुजन रुडाल्फ, 'पोस्ट माडर्न गांधी एण्ड अदर एसेज', आक्सफार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2006

इतिहास

बलबन के राजस्व सिद्धान्त के ऐतिहासिक पहलू

मो॰ गुलाम रहवर

शोध छात्र, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

दिल्ली सल्तनत के प्रारंभिक शासकों में बलबन का स्थान विशिष्ट है। उसने न केवल दिल्ली सल्तनत को पूर्ण रूप से सुदृढ़ता प्रदान की बल्कि राजत्व की संस्था को भी शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्रदान की। इस कार्य के लिए बलबन ने राजत्व का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया।

बलबन का राज्यारोहण कठिन परिस्थितियों के बीच हुआ था। पिछले 30 वर्षों के शासन काल में इल्तुतमिश के कमजोर उत्तराधिकारी सुल्तान के पद के गौरव को बनाये रखने में असमर्थ रहे थे। सुल्तान की शक्ति एवं प्रतिष्ठा दोनों में ही कमी आयी थी। इसके फलस्वरूप एक ओर सामन्त वर्ग अनुशासनहीन एवं उदण्ड हो गया था तो दूसरी ओर सामान्य प्रशासन ढीला पड़ गया था और सारे राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति गंभीर हो गई थी।

विद्रोह और उपद्रव सामान्य रूप से हो रहे थे। राजधानी दिल्ली भी लुटेरों के कारण असुरक्षित हो गई थी। दूसरी ओर पश्चिमोत्तर भारत में मंगोलों के आक्रमण की समस्या भीषण हो गयी थी और मंगोलो ने विशाल भाग पर अधिकार कर लिया था।

इन तमाम समस्याओं का समाधान तभी संभव था जब एक शक्तिशाली शासक दिल्ली की गद्दी पर प्रतिष्ठित होता क्योंकि सुल्तान की कमजोरी एवं शक्ति से ही प्रशासन की कार्यकुशलता जुड़ी हुई थी। अत: बलबन के लिए सुल्तान के पद को शक्तिशाली और गौरवशाली बनाना अनिवार्य था इसके लिए राजत्व का एक नया सिद्धांत अत्यंत आवश्यक था। हबीबुल्ला के शब्दों में बलबन को दिल्ली की गद्दी पर उत्तराधिकार प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं था और नासिरूद्दीन की हत्या का संदेह भी व्यक्त किया जा रहा था। अत: अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए बलबन ने राजत्व का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत करना आवश्यक समझा।

बलबन का यह सिद्धांत प्राचीन इरान के शाहसानी शासकों के सिद्धांत पर आधारित था। बलबन ने राजत्व को 'नयाबते खुदाई' अर्थात् ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में माना और अपने लिए 'जिल्ले अल्लाह' अर्थात् ईश्वर का प्रतिबिंब है और उसका हृदय दैवी-प्रेरणा व कांति का भंडार है। बलबन के अनुसार शासक कोई साधारण मनुष्य नहीं है बल्कि ईश्वर के द्वारा चुना गया प्रतिनिधि है, जिसकी आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा के पालन के समान है और अवज्ञा मात्र अपराध ही नहीं बल्कि पापा है। इस प्रकार बलबन के धर्म का सहारा लेकर शासक की सत्ता को सुदृढ़ करने का प्रयास किया।

बलबन के राजत्व सिद्धांत की दूसरी विशेषता निरंकुशता है। बलबन के विचारानुसार सुल्तान असीम शक्तियों का मालिक था। उसकी शक्तियों पर किसी प्रकार का नियंत्रण या अंकुश लगाने की क्षमता न तो उलेमा को प्राप्त थी और न ही सामंत वर्ग को। चूंकि सुल्तान ईश्वर का प्रतिनिधि था इसलिए स्वाभाविक रूप से मनुष्य के प्रति सुल्तान उत्तरदायी नहीं था। बलबन ने इस प्रकार प्रशासनिक मामलों में सुल्तान की सार्वभौम सत्ता को बनाये रखने और उलेमा वर्ग एवं सामंत वर्ग के राजनीतिक हस्तक्षेप के अधिकार को समाप्त करने का प्रयास किया।

बलबन ने शासक की निरंकुश और दैवी प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुति द्वारा सुल्तान पद की शक्ति एवं गौरव की पुर्नस्थापना में सफलता प्राप्त की। निरंकुश राजतंत्र की कल्पना शासक की शक्ति में वृद्धि का कारण सिद्ध हुई जबकि अर्ध दैवी स्वरूप के कारण राजस्व की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी। बलबन ने प्रजा को आश्वासन भी देना चाहा कि शासक की निरंकुश शक्तियां दुरुपयोग के लिए नहीं है बल्कि इससे समस्त प्रजा को, चाहे वह उच्च वर्ग से संबंधित हो चाहे निम्न वर्ग से, समान रूप से संरक्षण प्राप्त होगा। कोई सामंत या प्रतिष्ठित व्यक्ति भी साधारण प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सके। इसका आश्वासन बलबन ने निष्पक्ष न्याय की कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया। उसने व्यावहारिक रूप से भी ऐसे उपया किये जिससे आम प्रजा को सुरक्षा का आश्वासन और अत्याचार के विरुद्ध न्याय का विश्वास प्राप्त हो सके। संभवत: यही कारण है कि बलबन की निरंकुश व्यवस्था आम प्रजा के बीच लोकप्रिय हो सकी और उसकी व्यवस्था को आम समर्थन प्राप्त हो सका।

परंतु यह धारणा गलत होगी कि बलबन प्रजा के साथ घनिष्ठ संपर्क बनाना चाहता था। उसकी नीति उसके विपरीत थी उसका विश्वास था कि प्रजा से दूरी बनाये रखना शासक के लिए अनिवार्य है अन्यथा प्रजा के मन में शासक के लिए न तो भय होगा न तो भक्ति। बलबन कूलीन वाद का समर्थक था। उसमें अपने सामंतों, मंत्रियों एवं अधिकारियों के बीच किसी निम्न वर्गीय व्यक्ति को प्रतिनिधित्व नहीं दिया था। उसके सभी सामंत ऊंचे कुल के सदस्य थे और रक्त एवं कुल की शुद्धता उसके राजत्व सिद्धांत की प्रमुख विशेषता थी।

बलबन वंशानुगत अधिकार के महत्व को समझकर अपने को विद्वान फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के शूरवीर पात्र 'अफ्रीसीयाब' का वंशज बताया जो कि तुर्क शासकों में महानतम समझा जाता था। सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुकूल उसने अपने व्यवहार को अत्यंत गंभीर एवं एकाकी बना दिया। उसने अधिकांशतया एकान्त में रहना आरंभ कर दिया, शराब पीना बन्द कर दिया, विनोद प्रिय व्यक्तियों के साथ बैठना बन्द कर दिया और साधारण व्यक्तियों के साथ तो क्या छोटे अमीरों एवं सरदारों से भी मिलना बन्द कर दिया। कुछ इतिहासकार के अनुसार बलबन एक भूतपूर्व दास होने के कारण समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए ऐसा प्रयास कर रहा था और अपने को एक कुलीन व्यक्ति सिद्ध करना चाह रहा था।

बलबन ने राजत्व सिद्धांत को कार्यरूप देने के लिए भी उपाय किये। उसने दरबार का पुनर्गठन किया ताकि शासक की शक्ति और उसके गौरव की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सके। उसने दरबार को इरानी परंपराओं के अनुसार सुसज्जित किया। उसने 'सिजदा' और 'पायबोस' का प्रचलन किया जिसके अनुसार सामंतों को दरबार में सुल्तान के आगे माथा टेकना और पैर चूमना अनिवार्य हो गया। उसने ऊंचे और भयानक व्यक्तियों को अंगरक्षक बनाया जो उसके सिंहासन के दोनों तरफ चमकती

हुई नंगी तलवारें लेकर खड़े रहते थे और बड़े-बड़े सरदारों के अतिरिक्त बाकी सभी व्यक्तियों को अपने दरबार में खड़े रहने के आदेश दिये। हंसी मजाक की मनाही कर दी गयी। बलबन ने कठोरतापूर्वक अपने व्यक्तित्व को अपने राजत्व के लिए बलिदान किया। अपने निजी सेवकों के समक्ष भी वह अपनी भावनाएं व्यक्त नहीं करता था। उसके बड़े पुत्र की मृत्यु ने उसका हृदय तोड़ दिया परंतु उसने किसी के समक्ष अपनी दुर्बलता को प्रकट नहीं किया। केवल रात के एकांत में वह फूट-फूट कर रोता था।

उसने दरबार में प्रत्येक वर्ष इरानी त्यौहार 'नौरोज' उत्सव मनाने की परंपरा शुरू की जो इरानी परंपरा के अनुसार थी। जिसमें सम्राट पूजन का प्रचलन था। सामंतों पर अपनी सैनिक निर्भरता को समाप्त करने के लिए बलबन ने केंद्रीय सैन्य विभाग की स्थापना की जिसे 'दिवान-ए-अर्ज' कहा जाता था। सुल्तान के पास अब अपनी सेना थी जिसकी आवश्यकता पड़ने पर उपयोग तत्कालीन सामंतों के उच्छृखल व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए किया। उसने गुप्तचरों तथा बरीदों के नियुक्तियों के द्वारा वह सल्तनत की प्रत्येक गतिविधियों पर नियंत्रण रखता था।

1287 ई. में बलबन की मृत्यु हो गयी। बरनी लिखता है ''बलबन की मृत्यु से दुखी हुई मालिकों ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और सुल्तान के शव को नंगे पैरों दारूल-अमन के कब्रिस्तान को ले जाते हुए उन्होंने अपने-अपने सिरो पर धूल फेंकी। उन्होंने चालीस दिन तक उसकी मृत्यु का शोक मनाया और भूमि पर सोए'' यह बात कम आश्चर्यजनक नहीं है कि कठोर शासक अपने सरदारों के प्रिय हो और उसकी मृत्यु पर इस प्रकार का दुख प्रकट किया जाए। बलबन के राजत्व की सबसे प्रमुख विशेषता यही थी कि उसने जनहित को शासक का मुख्य कर्तव्य समझा था। शांति व्यवस्था उसके राजत्व के मूल मंत्र थे। इस प्रकार बलबन ने एक अत्यंत शक्तिशाली शासक की कल्पना सर्वप्रथम दिल्ली सल्तनत के इतिहास में प्रस्तुत की और इसे प्रभावशाली ढंग से लागू किया। बलबन को सल्तनत में निरंकुश राजतंत्र का जन्मदाता कहा जाता है। इस प्रकार इसके द्वारा निर्धारित सिद्धांत को ही खलजी वंश के शासकों ने अपनाया और इसे अधिक विकसित रूप प्रदान किया।

संदर्भ ग्रंथों की सूची:

1. मध्यकालीन भारत-(भाग एक) : हरिश्चन्द्र वर्मा
2. मध्यकालीन भारत : इरफान हबीब
3. मध्यकालीन भारत : एन. सी. ई. आर. टी.
4. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) के नोट्स
5. मध्यकालीन भारत : एल. पी. शर्मा

गुप्तकालीन कला के विकास का ऐतिहासिक मूल्यांकन

डॉ॰ बाबूलाल बादल

ग्राम-मालती, जिला- बांका (बिहार)

भारतीय इतिहास का गुप्त काल (319-550 ई.) 'स्वर्ण युग' (गोल्डेन पीरियड) कहलाता है। इतिहासकारों ने इसे 'क्लासिकल युग' भी कहा है। इस युग में साहित्य और कला का अप्रतिम विकास हुआ। यहां हम कला और साहित्य के विकास के मुख्य पक्षों से अवगत होने का प्रयास करेंगे।

स्तूप तथा गुहा स्थापत्य: स्तूप तथा गुहा स्थापत्य का गुप्त सम्राटों के काल में अच्छा विकास हुआ। जहां तक स्तूपों का प्रश्न है उस में दो युग-प्रसिद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। ये स्तूप है–सारनाथ का धम्मेख स्तूप तथा राजगृह स्थित जरासंघ की बैठक।

धमेख स्तूप 128 फुट ऊंचा है, जिसका निर्माण बिना किसी चबूतरे के समतल धरातल पर किया गया है। इसके चारों कोने पर बौद्ध मूर्तियां रखने के लिए ताख बनाये गये हैं।

जहां तक गुहा स्थापत्य का प्रश्न है। परंपरागत गुहा वास्तु के चरम विकास का यह युग द्योतक है। पांचवीं शताब्दी ईसवी से लेकर 750 ई. तक, ईसा पूर्व की अंतिम सदियों की अपेक्षा अधिक संख्या में गुहाओं का निर्माण हुआ। महायान युग में निर्मित गुहाएं अधिक विशाल, विस्तृत अलंकृत तथा संख्या में अधिक हैं। इस काल में चैत्य गृहों की अपेक्षा विहार निर्माण पर अधिक जोर दिया गया है। इस समय की बौद्ध गुहाएं अजंता, एलोरा, औरंगाबाद एवं बाघ की पहाड़ियों में निर्मित हुईं। अजंता गुहा वास्तु का विकास-क्रम सर्वाधिक लम्बा है। यहां ईसा की प्रारम्भिक सदियों से 750 ई. तक लगभग 30 गुहाओं का निर्माण हुआ, जिनमें 3 चैत्य गृह एवं शेष विहार है। अजंता की लगभग 29-30 गुहाओं में से पांच प्रारंभिक काल की है। तीन चैत्यगृहों में से 2 चैत्य गृह (नौ एवं दस) हीनयान युग में उत्कीर्ण किये गये। विद्वानों की मांयता है कि 20 विहार एवं एक चैत्यगृह पांचवीं सदी ई. से सातवीं सदी ई. के मध्य निर्मित हुए। गुहा संख्या 19 एवं 26 चैत्य हैं अन्य विहार हैं। हीनयान चैत्य के साथ जो विहार बने थे, उनकी उपयोगिता कालांतर में समाप्त हो गयी। महायान युग के चैत्य तथा विहार मिश्रित तैयार हुए, जिनका क्षेत्रफल पहले से बड़ा था। इनका आकार-प्रकार बढ़ाया गया। विहार संख्या 7, 11, 6 का निर्माण दूसरे क्रम में हुआ था। संख्या 15 से 20 तक के विहार बनावट में सर्वोत्तम माने जाते हैं। सोलह एवं सत्रह भित्तिचित्र के लिए सुप्रसिद्ध हैं, जिन्हेदेखने के लिए संसार के लोग आते हैं। अजंता गुहाएं अपनी विशिष्टता के कारण बरबस लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।

अजंता एवं अन्य स्थलों की गुहाओं को भीतर से चट्टान खंड को काटकर स्तूप निर्माण किये गये हैं, स्तूप हर्मिका एवं छत्रयुक्त है। महायान काल में निर्मित गुहाओं में महात्मा बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का अंकन मिलता है। गुप्त काल से पूर्व की हीनयान गुहाओं में बुद्ध मूर्तियों का अंकन नहीं देखा जाता। बुद्ध को प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया। महायान गुहाओं में बुद्ध एवं बोधिसत्वों के अतिरिक्त यक्ष, यक्षिणी, विविध देवताओं एवं नाग प्रतिमाओं का उत्कीर्णन हुआ है।

प्रारंभिक गुहाओं के स्थापत्य में जहां सादगी देखी जाती है, वहीं गुप्तकालीन गुहा मंदिरों के निर्माण में अलंकरण एवं सजावट की प्रमुखता है। हीनयान विहार चैत्य के साथ संबद्ध होने से छोटे होते थे, किंतु महायान विहारों की विशालता के कारण स्तंभों का निर्माण आवश्यक हो गया। महायान विहारों में भिक्षुओं के निवास का प्रावधान था। अत: तीन ओर कोठरियां निर्मित की गयीं, जिनमें भिक्षुओं के शयन हेतु प्रस्तर चौकियां बनायी गयीं। तदनुसार विहार के प्रारूप में परिवर्तन किये गये। भिक्षुओं के लिए कोठरियों से बाहर पूजा की व्यवस्था भी जरूरी थी। इसलिये केंद्रीय कमरे में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गयी। इसके अतिरिक्त दीवारों को भी विविध अलंकरणों द्वारा अलंकृत किया गया। भस्मपात्र की पूजा का समापन हो गया एवं ब्राह्मण मत की भक्ति भावना का बौद्ध मत में प्रवेश हुआ।

विहार: महायान गुहाएं वास्तुकला की दृष्टि से विशिष्ट हैं, जिन्हेविहार या संघाराम की संज्ञा दी गयी। अजंता, एलोरा, बाघ एवं औरंगाबाद आदि के विहार इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, जिनका निर्माण भिक्षुओं के निवास के लिए किया गया। गुप्तकाल में विहार योजना में सतत् परिवर्तन एवं परिष्कार लक्षित होता है। केवल आकृति में ही नहीं, बल्कि तल विंयास की दृष्टि से इस युग में दो या तीन तल के विहारों का निर्माण किया गया। एक पहाड़ी में दो या तीन तले गुहाओं का निर्माण तकनीकी दृष्टि से अपने आप में एक उपलब्धि है। तिथिक्रम की दृष्टि से प्राचीनतम विहार अजंता की पहाड़ी में निर्मित किये गये। बौद्ध गुहा स्थापत्य के अतिरिक्त ब्राह्मण परंपरा में भी स्थापत्य की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। विदिशा के पास उदयगिरि की कुछ गुफाओं का निर्माण भी इस युग में हुआ। यहां की गुफाएं भागवत तथा शैव धर्मों से संबंधित हैं। उदयगिरि पहाड़ी से चंद्रगुप्त द्वितीय के विदेश सचिव वीरसेन का एक लेख मिलता है। जिससे विदित होता है कि उसने यहां एक शैव गुहा का निर्माण करवाया था। यहां की सबसे प्रसिद्ध वाराह-गुहा है, जिसका निर्माण भगवान विष्णु के सम्मान में किया गया था। गुहा के द्वार-स्तंभों को देवी-देवताओं तथा द्वारपालों की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है।

मंदिर निर्माण कला

मंदिर वास्तु के गुप्तकाल से पूर्व अवशेष नहीं मिलते। मंदिर-निर्माण का प्रारंभ इस युग की महत्वपूर्ण देन कही जा सकती है। इस काल में मंदिर वास्तु का विकास ही नहीं हुआ, बल्कि इसके शास्त्रीय नियम भी निर्धारित हुए। मंदिर निर्माण के उद्भव का संबंध व्यक्तिगत देवता की अवधारणा से है। भारत में देवपूजा की परंपरा बहुत प्राचीन रही है। प्राय: इसके उद्भव को प्रागार्थ (अनार्य) परंपरा में खोजने का प्रयत्न किया गया है। इत्सिंग ने श्रीगुप्त द्वारा 'मि-लि-क्या-सी-क्या-पोनो' (सारनाथ) में चीनी यात्रियों के लिए मंदिर बनाये जाने का उल्लेख किया है। इसी तरह चंद्रगुप्त द्वितीय के मंत्री शाब (वीरसेन) द्वारा उदयगिरि गुहा में भगवान शिव के लिए गुहा मंदिर बनवाये जाने का विवेचन आया है। कुमारगुप्त के विल्सड अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कार्तिकेय के मंदिर

का निर्माण करवाया। उसके मंदसौर अभिलेख से भी सूर्यमंदिर का निर्माण करवाये जाने एवं मंदिरों के जीर्णोद्धार की जानकारी मिलती है।

गुप्तकालीन मंदिरों के अवशेष अनेक स्थानों से प्राप्त हुये हैं, जैसे–सांची, उदयगिरि, नचनाकुठार, गुना, देवगढ़, भूमरा, एरण, झांसी, बेसनगर, मुकुंददर्रा, शंकरमढ़ दहपर्वतया (आसाम), भीतरी गांव, अहिच्छत्र, गढ़वा, सारनाथ, बौद्धगया आदि। इन मंदिरों को गुप्तकालीन स्वीकार किये जाने का एक आधार तो कुछ मंदिर स्थलों से अभिलेखों की प्राप्ति रहा है। प्रारूप की दृष्टि से एक गर्भ के मंदिर धीरे-धीरे पंचायतन शैली में परिवर्तित हुये अर्थात् इस प्रक्रिया में पांच देवों के गृह की स्थापना की गयी। साधारणत: मंदिर वर्गाकार है। इस विकास प्रक्रिया के प्रमाण भूमरा एवं देवगढ़ के मंदिर हैं।

आयताकार योजना वाले मंदिर अवश्य ही दक्षिण के चैत्य गुहाओं से संबद्ध रहे होंगे। वस्तुत: पंचायतन योजना वर्गाकार मंदिर का विकसित रूप है। इस प्रक्रिया में गर्भगृह के चारों ओर चार अतिरिक्त देवालय बनाये गये। भूमरा के गर्भगृह के सामने चबूतरों के दोनों कोनों पर देवालय बने हैं। पृष्ठ भाग में गर्भगृह हैं, तथापि इन्हें इसी शैली में रखा जाता है। यह मंदिर देवगढ़ से पूर्ववर्ती है। प्रारंभिक मंदिर शिखर-रहित अर्थात् सपाट छत से आवृत्त थे, किंतु सपाट छत क्रमश: ऊंची उठती गयी और गर्भगृह के ऊपर पिरामिडाकार स्वरूप बनता गया। इस प्रक्रिया में कई तल वाले शिखर का विकास हुआ। इस तरह मंदिर का स्वरूप सप्त एवं नवप्रासाद के रूप में परिवर्तित हुआ। शिखर मूलत: गर्भ पर बनी ऐसी वास्तुरचना है जो क्रमश: कई तल, गवाक्ष, कर्णशृंग, शुकनाशा, आमलक, कलश, बीजपूरक, ध्वजा से युक्त होता है। इन तत्वों के साथ शिखर की रचना पीठायुक्त अथवा ऊपर की ओर क्रमश: तनु होते हुये भी कोणाकार हो सकती है।

संभवत: शिखर का विकास मानव निर्मित कई मंजिलों के प्रासादों के अनुकरण पर हुआ होगा। शिखर प्रसाद के विभिन्न तल ऊपर की ओर छोटे होते गये। इसका सर्वोत्तम उदाहरण नचनाकुठार का मंदिर है, जिसमें प्रथम कक्ष पर दूसरे एवं तीसरे कक्ष (या खंड) दिखायी देते हैं। संभवत: इसी से आगे शिखर विकास का प्रारंभ हुआ और आगे जाकर शिखर की बनावट में अनेक तत्व जुड़ते गये।

शंकरगढ़: जबलपुर में तिगवां से तीन मील पूर्व में कुंडाग्राम में लाल पत्थर का एक छोटा शिव मंदिर प्राप्त हुआ है।

मुकुंददर्रा: राजस्थान के कोटा जिले में एक पहाड़ी दर्रे, जिसे मुकुंददर्रा कहा जाता है, में एक छोटे सपाट छतयुक्त स्तंभों पर खड़ा मंदिर अवस्थित है।

तिगवा: पत्थर से निर्मित एक वर्गाकार सपाट छत का मंदिर है, जिसके सामने चार स्तंभों पर मंडप स्थित है।

भूमरा: सतना (मध्य प्रदेश) में भूमरा नामक स्थान में शिवमंदिर का निर्माण पांचवीं शताब्दी के मध्य में हुआ माना जाता है।

नचना कुठार: भूमरा के निकट अजयगढ़ के पास नचना कुठार में पार्वती मंदिर स्थित है।

देवगढ़: देवगढ़ (ललितपुर) झांसी के पास गुप्तकाल के बचे हुए उत्कृष्ट मंदिर में से है, जिसका विस्मयकारी अलंकरण मन मोह लेता है।

भीतरगांव–कानपुर के निकट दक्षिण में भीतरगांव का विष्णुमंदिर ईंटों से निर्मित किया गया है। इसका महत्व ईंट का प्राचीनतम मंदिर होने में ही नहीं है, वरन् इस बात में भी है कि उसमें शिखर है।

मूर्तिकला

इस काल में मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। गुप्तकाल में तीन प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया गया–पत्थर, धातु एवं मिट्टी। इस काल में मूर्तिकला के दो महत्वपूर्ण केंद्र थे। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि गुप्त साम्राज्य के विकास के आरंभिक दिनों में मथुरा मूर्ति-कला का प्रमुख केंद्र था। यह एक मांय तथ्य है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में बनी बुद्ध की मूर्ति, जो मानकुंवर से प्राप्त हुयी है, मथुरा से निर्यात की हुयी है। मथुरा के बाद काशी-सारनाथ गुप्तकला का केंद्र रहा है और साथ ही यह भी कहा जाता है कि मथुरा कला की ही एक धारा नयी ताजगी लेकर यहां फूटी है। वस्तुतः मथुरा कला शैली के विकास से बहुत पहले से ही काशी प्रदेश इस कला का केंद्र रहा है। सारनाथ में प्राप्त मूर्तियों में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन प्रतिमाएं सम्मिलित की जाती हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या बौद्ध मूर्तियों की है। संख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं और सबसे कम जैन मूर्तियां प्राप्त हुयी हैं। गुप्तकालीन मूर्तियों का विशेष महत्व मथुरा, सारनाथ, सुल्तानगंज और अनेक अन्य स्थलों से अनंत मात्रा में उपलब्ध गुप्त भारतीय शैली में निर्मित नमूनों से है। इस काल से पूर्व, अर्थात् कुषाणकालीन मूर्तियों में विदेशी आदर्शों का प्रभाव देखा जाता है। कहा गया है कि संघटी की चुंनटें गांधार-शैली ने उन्हें दी थीं। उन्होंने उसे स्वीकार किया पर इस रूप से उन्होंने नये सिरे से उन्हें साधा कि चुंनटें तो गायब हो गयीं पर उनकी लहरियां शरीर से एकाकार होकर उसमें समा गयीं और लगने लगा कि तन उनके भीतर से झलक रहा है, परिधान का मात्र आभास रह गया। अब तन परिधान से अधिक महत्व का हो गया। ध्यातव्य है कि मथुरा केंद्र की बनी हुयी मूर्तियों को छोड़कर गुप्तकालीन किसी बुद्ध प्रतिमा में वस्त्रों में चुंनटें नहीं देखी जातीं। यह भी देखा गया है कि इस काल की मूर्तियों की भौंहे तिरछी न होकर सीधी प्रदर्शित की गयी हैं। कलाकारों ने विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न मुद्राओं का सहारा लिया है। प्रतिभा-निर्माण के शास्त्रीय नियमों का निर्धारण किया गया। तदनुरूप मूर्तियों के वक्षस्थल विकसित बनाये गये और सुदृढ़ कंधों को प्रमुखता से उभारा गया। मूर्ति निर्माण हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले पत्थरों के विषय में जैसा पहले उल्लेख किया गया कि मथुरा कला की अभिव्यक्ति बलुआ लाल पत्थर द्वारा की गयी गुप्तकाल तक भी इसी पत्थर का उपयोग स्थानीय कलाकारों द्वारा किया जाता रहा, किंतु सारनाथ में मूर्ति निर्माण हेतु चुनार के सफेद बालूदार पत्थर का प्रयोग किया गया।

सुल्तानगंज से प्राप्त अन्य बुद्ध की एक खड़ी मूर्ति तांबे की है, जिसकी लम्बाई 7ऋ फीट है। महात्मा बुद्ध के शीश पर कुंचित केश हैं; परंतु उसके चारों ओर प्रभामंडल नहीं है। बुद्ध पारदर्शक वस्त्र से आवृत हैं तथा दायां हाथ अभयमुद्रा में, बायां हाथ आधा नीचे की ओर झुका हुआ है। अंगुलियों के बीच कुछ वस्तुएं दिखायी देती हैं। मथुरा से प्राप्त विष्णु मूर्ति अपनी स्वाभाविकता और भावुकता में सारनाथ के महात्मा बुद्ध की मूर्ति से समता रखती है। भगवान विष्णु रत्नजड़ित मुकुट पहने, कानों में आभूषण पहने हैं। उनके सुगठित शरीर में पूरा अनुपात है और मुख पर आध्यात्मिक आभा और शांति विद्यमान है।

चित्रकला

इस काल में प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त पकी हुयी मिट्टी की भी छोटी-छोटी मूर्तियां बनायी गयीं। इस प्रकार की मूर्तियां विष्णु, कार्त्तिकेय, दुर्गा, गंगा, यमुना आदि की हैं। ये भृण्मूत्तियां पहाड़पुर, राजघाट, मीटा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, अहिच्छत्र, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त हुयी हैं। ये मूर्तियां सुडौल,

सुंदर और आकर्षक हैं। मानवजाति के इतिहास में संभवतः कला की दृष्टि से अभिव्यक्ति की यह परंपरा सबसे प्राचीन है। चित्रकला के द्वारा एकतलीय द्विपक्षों में भावों की अभिव्यक्ति होती है। चित्र लिखना मानव स्वाभाव का स्वभाविक परिणाम है। इस दृष्टि से चित्र मनुष्य के भावों की चित्रात्मक परिणति हैं। प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि शुंग सातवाहन युग में इस कला का विकास हुआ, जिसकी चरम परिणति गुप्त काल में हुई। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, 'गुप्त युग में चित्र-कला अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी।' अजंता की गुहा संख्या 9-10 में लिखे चित्र संभवतः पुरातात्विक दृष्टि से ऐतिहासिक काल में प्राचीनतम हैं। समय के परिप्रेक्ष्य में अजंता की गुहा संख्या 16 में अंकित वाकाटक शासक हरिषेण का अभिलेख महत्वपूर्ण है। बौद्ध चैत्य एवं विहारों में आलेखित चित्रों का मुख्य विषय बौद्धधर्म से संबद्ध है। भगवान बुद्ध को बोधिसत्व या उनके पिछले जन्म की घटनाओं अथवा उन्हें उपदेश देते हुए अंकित किया है।

अनेक जातक कथाओं के आख्यानों का भी चित्रण किया गया जैसे शिवविजातक, हस्ति, महाजनक, विधुर, हंस, महिषि, मृग, श्याम आदि। बुद्ध जन्म से पूर्व माया देवी का स्वप्न, बुद्ध जन्म, सुजाता द्वारा क्षीर (खीर) दान, उपदेश राहुल का यशोधरा द्वारा समर्पण आदि बुद्ध के जीवन से संबद्ध चित्रों का विशेष रूप से आलेखन किया गया। अजंता में पहले सभी गुफाओं में चित्र बनाये गये थे। समुचित संरक्षण के अभाव में अधिकांश चित्र नष्ट हो गये तथा अब केवल छः गुफाओं (1-2, 9-10 तथा 16-17) के चित्र बचे हुए हैं। इनमें से सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी के भित्ति-चित्र गुप्तकालीन हैं। सामान्यतः अजंता चित्रों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–कथाचित्र, प्रतिकृतियां (या छवि चित्र) एवं अलंकरण के लिए प्रयुक्त चित्र। गुप्तकालीन चित्रों में कुछ चित्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

A Critical Appreciation of Austerity in Ancient Indian Literature : Yajanveer Dahiya, Eastern Book Linkers, 2003.

Ancient India : History and Culture : Balkrishna Govind Gokhale, Popular, 1995.

Ancient India : New Research : Upinder Singh and Nayanjot Lahiri, Oxford University Press, 2009.

Ancient India as Described by Ptolemy : John W. McCrindle, Munshiram, 2000.

Ancient Indian and Iranian Art : A Comparative Study : Sabir Hussain Khan, Janaki Prakashan, 2008.

Ancient Indian Bricks and Brick Remains : T.N. Mishra, Harman, 1997.

Ancient Indian Economic Thought : Relevance for Today : Ratan Lal Basu and Raj Kumar Sen, Rawat Pub, 2008.

Ancient Indian Education : A Plea of Reintroduction to Arrest the Social Decadence of Modern Times : Nrisinha Prasad Mukhopadhyay, Shipra, 2004.

Ancient Indian Historiography : Sources and Interpretations : G.P. Singh, D K Printworld, 2003.

Ancient Indian History : Sangh Mittra and S.R. Bakshi, Commonwealth, 2003.

Ancient Indian History and Civilization: Trends and Perspectives : N.N. Bhattacharyya, Manohar, 1988.

Ancient Indian Inscriptions : Recent Finds and New Interpretations : S.R. Goyal, Kusumanjali Book World, 2005.

Ancient Indian Society : Continuity and Change : Vijay Kumar, Snajay Prakashan, 2002.

इतिहास

बिटिश भारत में उच्च शिक्षा के विकास का मूल्यांकन

दिव्य कांत झा

नेट उतीर्ण, श्रीकृष्ण नगर कॉलोनी, इशाकचक, भागलपुर

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विकसित होने का अधिकार और इसके लिए शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। उसमें भी उच्च शिक्षा व्यक्ति का समाज से जुड़ाव का मुख्य साधन है इस रूप में राष्ट्र या समाज के सर्वागीण विकास में इसका अहम योगदान है। परंतु हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था में क्रमिक विकास के बावजूद अनेक खामियां है यदि इन खामियों पर ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही भारत में कुशल मानव-संसाधन का विकास होगा जो वैश्विक स्तर पर नेतृत्व करने में सक्षम होगा।

मूल रूप से शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं पहला वह व्यक्ति को शिष्ट, सभ्य एवं सामाजिक नागरिक बनने में मदद करता है और दूसरा वह आजीविका का साधन होता है। महत्वपूर्ण शिक्षाविदों ने इसकी व्याख्या में कई परिभाषाएं दी हैं पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने कहा था कि ज्ञान ही अच्छाई है, जिसकी शक्ति का स्रोत शिक्षा ही है। फ्रेडरिक हेयाक के अनुसार, शिक्षा भौतिकता भी प्रदान करती है तो भी उसका आधार सामाजिक एवं आध्यात्मिक होता है। प्रसिद्ध भारतीय चिंतक राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का संग-उनात्मक प्रयास है उनका मानना था कि हरेक व्यक्ति में दैवीय गुण होता है और शिक्षा के माध्यम से इसका विकास विवेकपूर्ण ढंग से होता है जिससे दैविक एवं मानवीय संगति आय की खोज, पूर्णता की प्राप्ति, सौंदर्य बोध तथा आदर्श एवं प्रेरणा का विकास बोध तथा आदर्श एवं प्रेरणा का विकास होता है।[1] गांधीजी ने भी शिक्षा के माध्यम से मनुष्य एवं बच्चों के शरीर एवं मन (आध्यात्मिक) के विकास की बात की है।[2] अत: उच्च शिक्षा के बारे में कहा जा सकता है कि अंधकार को कोसने से अच्छा है कि एक दीपक जला दिया जाए जिससे अज्ञानता रूपी अंधकार को दूर किया जा सके। भारत में शिक्षा के विकास का इतिहास वैदिक काल से प्रारंभ होकर वर्तमान तक निरंतर क्रमिक रूप से हुआ है। हालांकि निरंतरता एवं आधुनिकता का शिक्षा में समावेश ब्रिटिश काल की महत्वपूर्ण देन है। क्योंकि 18वीं सदी तक भारत में शिक्षा की स्थिति दयनीय हो गई थी जिसका प्रमाण 21 फरवरी 1784 के वारेन हेस्टिंग्स के पत्र में दिखता है इसके अनुसार उत्तर एवं दक्षिण के सभी प्रमुख नगरों में विद्यालय धन, जन एवं भवन से क्षीण अवस्था में है। 1765-1813 के मध्य शिक्षा निजी प्रयासों से ही चलती रही 1813 के चार्टर एक्ट (धारा 43) में ''साहित्य के पुनरुद्धार एवं उन्नति के लिए, विद्वानों को प्रोत्साहन के लिए और अंग्रेजी प्रदेश के वासियों में विज्ञान के आरंभ एवं उन्नति के लिए एक लाख रुपया दिया गया।

इसी के साथ शिक्षा के स्वरूप को लेकर आंग्ल-प्राच्य विवाद प्रारंभ हो गया जहां प्राच्य समर्थक पारंपरिक शिक्षा को बनाए रखने के समर्थक थे वहीं मैकाले जैसे लोग आंग्ल शिक्षा को व्यापक रूप से महत्व देते थे यहां तक कि मैकाले ने अपने स्मरण-पत्र (Minute) में लिखा कि यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक आलमारी का एक कक्ष भारत एवं अरब के समस्त साहित्य से मूल्यवान हैं।[3] इसी दृष्टिकोण को गर्वनर जनरल बेटिक की सरकार ने 7 मार्च 1835 के प्रस्ताव द्वारा अपना लिया''। भविष्य में कंपनी की सरकार यूरोपीय साहित्य को अंग्रेजी माध्यम द्वारा उन्नत करने का प्रयत्न करे और सभी धनराशि इसी से निमित दी जानी चाहिए।[4] आगे चलकर उच्च शिक्षा के विकास की संस्तुति 1854 में शिक्षा पर 'वुडस डिस्पैच' में की गई जिसके अंतर्गत लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता मद्रास एवं बंबई में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। साथ ही पंथनिरपेक्ष शिक्षा, प्रशिक्षित शिक्षक एवं अच्छी पुस्तकें सभी के लिए उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई, स्त्री शिक्षा के लिए स्वस्थ व नैतिक वातावरण उपलब्ध करवाना तथा तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की भी बात की गई।[5] 1882 में हंटर शिक्षा आयोग का गठन किया गया जिसका क्षेत्र मुख्यत: प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक सीमिति था परंतु इसने विश्वविद्यालयी शिक्षा को निजी प्रयास से विकसित करने का समर्थन किया। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप सदी के अंत तक 191 कॉलेज विकसित हुए जिसमें प्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज एवं रिपन कॉलेज कलकत्ता भी शामिल है। हंटर आयोग के सुझावों के बीस वर्षों (1882-1902) के बीच अंग्रेजी प्रशासित छ: भारतीय प्रांतों में उच्च शिक्षा पाने वालों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जो निम्न आंकड़ों से स्पष्ट है।[6]

	1881-82	1901-02
1. उच्च शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों	5,403	191
2. व्यावसायिक व प्राविधिक कॉलेज	72	191
3. महाविद्यालय जिन्हें सरकारी अनुदान	11	53
4. उपयुक्त महाविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या	716	5,803

(1-3 तक के आंकड़े जे.पी. गायक एवं नुरुल्ला के भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं 4 के अर्पणा वस्तु-ग्रोथ ऑफ एजुकेशन एंड पॉलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया से लिये गये हैं।

1882 में भारत की उच्च शिक्षा पर टिप्पणी करते हुए रिचर्ड टेंपुल ने लिखा–उच्च शिक्षा में भौतिक विज्ञानों एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण की समान शाखाओं की तुलना में साहित्य एवं दर्शन पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया गया है परिणामस्वरूप कानूनी, न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यावसायों में बहुत भीड़ हो गई है। जबकि इंजीनियरिंग, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान एवं कृषि से संबंधित व्यवसाय की अवहेलना होती है और इसमें प्रशिक्षण का अभाव है।[7]

इसके बाद 1902 में लार्ड कर्जन ने रैले की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालय की स्थिति का अनुमान लगाना एवं उनके संविधान तथा कार्यक्षमता के विषय सुझाव देना था। जिससे अध्ययन एवं शोध के लिए प्राध्यापकों एवं व्याख्याताओं की व्यवस्था हो सके, उचित मात्रा में प्रयोगशाला एवं पुस्तकालय स्थपित की जा सके। विश्वविद्यालयों पर सरकार का नियंत्रण पढ़ा दिया गया तथा सरकार को सीनेट द्वारा पारित प्रस्ताव पर निषेधाधिकार दिया गया। इसके तुरंत बाद के वर्षों में संबद्ध महाविद्यालयों की संख्या घटी थी। निम्न आंकड़े इसका प्रमाण हैं[8]–

वर्ष	1902	1907	1912	1922
संब महाविद्यालयों की संख्या	192	174	170	207

परंतु कर्जन की नीति का परिणाम यह हुआ कि 1902 से पांच लाख रुपया वार्षिक पांच वर्षों के लिए विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए निश्चित किया गया और सरकारी अनुदान सरकारी नीति का अंग बन गई।

1917 में सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की संभावनाओं के अध्ययन के लिए सैडलर आयोग की नियुक्ति की जिसके अनुसार उत्तर माध्यमिक शिक्षा चरण के पश्चात् स्नातक की उपाधि के लिए शिक्षा तीन वर्ष की होनी चाहिए और प्रावीण्य (Hunours) एवं साधारण पाठ्यक्रम में अंतर होना चाहिए। इसके अलावा पुराने संबंधी विश्वविद्यालय (Affliating Universities) के स्थान पर केंद्रित, एकांकी, आवासिक अध्यापन (Unitary, Residential Teaching and Aotonomous) संस्था बननी चाहिए विश्वविद्यालयों के अधीन डिप्लोमा डिग्री एवं व्यावसायिक कॉलेज खोलना चाहिए।

इस प्रकार, 1855-1921 के बीच भारत में उच्च शिक्षा की ऐसी व्यवस्था विकसित हुई जो कॉलेज व्यवस्था पर आधारित थी और ये कॉलेज एक विश्वविद्यालय से संबद्ध थे। औपनिवेशिक शासनकाल में विकसित होने वाले विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में शिक्षाविद एरिक एश्वी का का कहना है–विकास निस्संदेह शानदर था, किन्तु शुरू से ही विकृति और कमी का तत्त्व विद्यमान था, बहुत सीमा तक अपने वर्ग की सामाजिक परंपरा के कारण एवं उपलब्ध सुविधाओं के कारण भी अधिकांश विद्यार्थी साहित्य या कानून का प्रशिक्षण ही चुनते थे। आरंभ में डॉक्टरी की पढ़ाई अधिक लोकप्रिय नहीं थी, इंजीनियरिंग तो और भी कम लोकप्रिय थी। कला और विधि संकाय इन दोनों की तुलना में अधिक विकसित हो गए और विश्वविद्यालय के गठन में यह असंतुलन स्पष्ट लक्षित होता था।[9]

1921 के बाद हार्टोग समिति (1929), वर्धा योजना (1935) एवं सार्जेन्ट योजना (1944) में मूलत: प्राथमिक एवं माध्यमिक के लिए प्रयास किए गए यहां पर उच्च शिक्षा महत्वपूर्ण प्रयासों से वंचित रही। 1946-47 तक के उच्च शिक्षा के संदर्भ में घोष[10] के आंकड़े महत्वपूर्ण हैं–20 से कम विश्वविद्यालय थे जिनमें छात्रों की संख्या 16,000 थी। 297 कला एवं विज्ञान के कॉलेजों में 96,000 छात्र थे। विश्वविद्यालयों पर कुल खर्च 2.03 करोड़ था, 16 अभियांत्रिकी कॉलेज थे, व्यावसायिक शिक्षा में छात्रों की संख्या 71,897 थी तथा इन पर खर्च 2.75 करोड़ था। स्वतंत्र भारत में पहली बार उच्च शिक्षा में सुधार के लिए राधाकृष्णन आयोग (1948-49) का गठन किया गया जिनकी प्रमुख संस्तुतियों में विश्वविद्यालय पूर्व बारह वर्ष का अध्ययन परीक्षा दिनों के अतिरिक्त कम से कम 180 दिन की पढ़ाई (11-11 सप्ताह के तीन सत्रों में), उच्च शिक्षा के तीन लक्ष्य-सामान्य शिक्षा, संस्कारी शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षण निर्धारित किए गए। साथ ही कृषि, वाणिज्य शिक्षा, अभियांत्रिकी तकनीकी, विधि तथा आयुर्विज्ञान पर अधिक बल देना चाहिए, शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल करना चाहिए एवं उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया जना चाहिए।[11]

इसी के परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन 1953 में किया गया।

शिक्षा पर अभी तक बने आयोगों में कोठारी आयोग ने सबसे ज्यादा व्यापक एवं विस्तृत अनुशंसा की। उच्च शिक्षा के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण अनुशंकाएं थी नैतिक शिक्षा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व पर बल दिया गया, उन्नत अध्ययन केंद्रों को अधिक सुदृढ़ बनाया जाए तथा विश्वविद्यालयों में एक

छोटी सी संस्था ऐसी बनाई जाए जो उच्चतम राष्ट्रीय मानकों को प्राप्त करने का उद्देश्य रखे, शिक्षा के पुनर्निर्माण में कृषि में अनुसंधान तथा इससे संबंधित प्रावधानों को उच्च प्राथमिकता दी जाए।[12] मुख्यत: कोठारी आयोग की सिफारिशों पर आधारित करके 1968 में सरकार ने शिक्षा पर एक प्रस्ताव पारित किया जिसकी प्रमुख संस्तुतियां थी–राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत की शिक्षा का सामान्यीकरण कृषि एवं उद्योग के लिए शिक्षा का विकास महत्वपूर्ण था।

1986 में आई नवीन शिक्षा नीति वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की रीढ़ है। जिसमें गतिहीन समाज को गतिशील बनाने के लिए शिक्षा की वृद्धि और विकास पर जोर दिया गया। अभी हाल ही में फरवरी 2008 में प्रोफेसर यशपाल की अध्यक्षता में उच्च शिक्षा में सुधार के लिए 24 सदस्यीय समिति का गठन किया गया जिसकी कुछ प्रमुख अनुशंसाएं हैं–रिपोर्ट में यूजीसी (UGC), एआईसीटीई (AICTE) और एमसीआई (MCI) जैसे संस्थाओं को समाप्त कर चुनाव आयोग की तरह एक सर्वसमाहित राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान आयोग का गठन किया जाना चाहिए।

डीम्ड विश्वविद्यालयों की बेहहाशा बढ़ोतरी पर रोक लगनी चाहिए, देश के उत्कृष्ट 1500 कॉलेजों का दर्जा बढ़ाकर उन्हें विश्वविद्यालय बनाने का सुझाव दिया। देश में सभी विश्वविद्यालयों में समान परीक्षा प्रणाली लागू करने के मद्देनजर ग्रेजुएट रिकॉर्ड एग्जामिनेशन की तर्ज पर एक राष्ट्रीय परीक्षा आयोजन का प्रस्ताव रखा है जो कि पूरे देश में परीक्षा का संचालन करेगा शैक्षणिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों को नौकरशाहों के नियंत्रण से मुक्त कर अकादमिक स्वायत्तता एवं जबावदेही विकसित करने पर बल दिया। बाहर के निकृष्ट संस्थानों के स्थान पर उत्कृष्ट विश्वविद्यालयों एवं शिक्षाविदों को भारत में लाने का प्रयास किया जाएगा।[13]

इस प्रकार उच्च शिक्षा के विकास की प्रक्रिया क्रमिक रूप से जारी है, यद्यपि इसमें कुछ खामियां भी मौजूद हैं और इन खामियों के मद्देनजर सुधार कार्यों की आवश्यकता है ताकि उच्च शिक्षा के माध्यम से सामाजिक जुड़ाव को और अधिक विस्तृत किया जा सके, बौद्धिक चिंतकों के एक वर्ग का निर्माण किया जा सके जो भारत को भविष्य में मार्गदर्शन दे सके ताकि बुद्ध की भूमि पुन: विश्व को शांति एवं विकास का पाठ पढ़ा सके।

संदर्भ:

1. Ramachandran, Padma and Vasantha, Ramkumar Education in India, NBT publication, P.-120-121
2. Ibid, P.-9
3. Grover, B.L. and Yashpal-Adhunik Bharat ka Itihash, P.-255
4. Ghosh, Suresh Chandra, History of Education in Modern India 1757-1986, P.-33
5. Ibid, P.-77
6. Shukla, R.L., Adhunik Bharat ka Itihash, P.-314
7. Ibid, P.-327
8. Basu, Aparna-Growth of Education and Political Development in India.
9. Shukla, R.L. Adhunik Bharat ka Itihash, P.-328.
10. Ghosh-Ibid, P.-173.
11. Grover, Ibid, P. 261.
12. Report of the Kothari Commission, 1966.
13. Yogana-September-2009, P.-9.

इतिहास

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
वैज्ञानिक इतिहास लेखन के संदर्भ में

डॉ॰ मनोज कुमार साह

शिव पहाड़ चौक, दुमका, झारखंड

18वीं सदी में जिस वैज्ञानिक इतिहास की तलाश प्रारम्भ हुई, जिसमें ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता के आधार पर मानव समाज के प्रगति के नियमों और परिवर्तनों, सिद्धांतों को चिन्हित करने की कोशिश हो रही थी। उस दिशा में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगेल्स के द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या एक महान उपलब्धि थी। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के द्वारा जहां एक ओर दुनिया के श्रमिकों को शोषित, पीड़ित सर्वहारा वर्ग को मुक्ति का एक सशक्त हथियार प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर अतीत को समझने की वैज्ञानिक सोच, वर्तमान को बदलने के कारगर उपाय और भविष्य को संवारने की प्रेरणा देकर इतिहास के क्षितिज को असीम विस्तार दिया और इसे परिवर्तन का संवाहक बना दिया। वस्तुत: 18वीं सदी से ही यूरोप में इतिहास के अध्ययन की नवीन पद्धतियों का अवलम्वन किया जाने लगा था। इतिहास की व्याख्या के आधार पर इसी समय सामाजिक विकास के नियमों की खोज आरम्भ हुई और इतिहास का लक्ष्य निर्धारित किया जाने लगा। मार्क्स ने दावा किया कि उसने मानव समाज के विकास के रहस्य को जान लिया है। उसकी मान्यता थी कि संपूर्ण विकास की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक होती है और यह विकास आर्थिक शक्तियों के परस्पर संघर्ष का प्रतिफल होता है। मार्क्स के अनुसार विश्व का मूल स्वरूप भौतिक है और यह भौतिकता शोषक तथा उत्पादक शक्तियों के सतत् संघर्ष से धीरे-धीरे अपनी समृद्धि और सम्पन्नता के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। मार्क्स के अनुसार इतिहास का लक्ष्य उत्पादन के समुन्नत एवं प्रचुर साधनों से युक्त एक ऐसे राज्यविहीन, वर्ग विहीन, शोषणमुक्त, समता पर आधारित समृद्ध साम्यवादी समाज की स्थापना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकतानुसार दाम मिलेगा।

Dialectical Materialism: मार्क्स के संपूर्ण राजनीतिक चिंतन का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स ने मानव समाज के विकास अथवा उसमें होने वाले परिवर्तन के जिस रहस्य को जान लेने का दावा किया वह और कुछ नहीं बल्कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही है। अत: इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को समझना आवश्यक है यद्यपि मार्क्स अथवा एंलेग्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आधारशीला पर ही अपनी विचारधारा को खरा किया था।

Materialistic Interpretation of History: इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का आरम्भ यह अभिधरणा है कि सामाजिक संरचना का मूल आधार जीवन क्रम को बनाये रखने के लिए किया गया है। प्रत्येक समाज में संपत्ति का वितरण और समाज का वर्गो में विभाजन इस बात पर निर्भर रहता है कि उत्पादन क्या और कैसे होता है और उत्पाद का वितरण किस प्रकार होता है। इतिहास

की भौतिकवादी धारणा के अनुसार प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन या राजनैतिक कारण के मूलभूत कारण मनुष्य के मस्तिष्क में था। अंतिम सत्य और न्याय के प्रति मनुष्य की अर्न्तदृष्टि में अथवा ईश्वरेच्छा में नहीं बल्कि उत्पादन और विनिमय के साधनों में हुए परिवर्तन में निहित होता है। उनकी तलाश दर्शन, विचारधारा या विश्वात्मा की यात्रा में नहीं, आर्थिक स्थितियों में करनी पड़ती है। यद्यपि कभी-कभी सामाजिक, आर्थिक अधिरचना के विभिन्न तत्व जैसे धर्म, राजनीति, संस्कृति, भूगोल आदि भी इतिहास के विकास के प्रभावशाली भूमिका निर्वाह करते दिखलाई परते है, परन्तु भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार आर्थिक तत्वों की भूमिका ही निर्णायक होती है।

वस्तुतः मनुष्य जैसा होता है वैसा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है और वह कैसा है इसका सीधा संबन्ध उसके उत्पादन स्तर से जुड़ा होता है। मनुष्य का स्वभाव उसकी भौतिक स्थितियों पर निर्भर करता है, जो निश्चित ही उत्पादन प्रणाली पर आधरित होती है। इसलिए मनुष्य का इतिहास में अध्ययन मनुष्य के कथन, कल्पना या अभिधारणाओं से नहीं प्राप्त होता न ही इस आधार पर कि मनुष्य के संबंध में मनुष्य ने क्या सोचा, क्या परिकल्पना की अथवा क्या धरणा बनायी, बल्कि मनुष्य का अध्ययन उन प्राकृतिक आधारों से आरम्भ होता है जिनका निर्माण स्वयं मनुष्य करता है। अतः मार्क्सवादी दर्शन वास्तविक क्रियाशील मनुष्य के जीवन से प्रारंभ होता है और उसके वास्तविक जीवनक्रम का अध्ययन करता है। हेगल की धारणा के ठीक प्रतिकूल मार्क्स का मानना है कि जीवन चेतना से निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन से निर्धारित होती है और जीवन का तात्पर्य होता है- भौतिक परिस्थितियों को बेहतर बनाने में लगा हुआ मनुष्य। जाहिर है कि मनुष्य परिस्थिति को भले पैदा करता हो वह स्वयं परिस्थितिजन्य भी होता है। मार्क्स के अनुसार इतिहास मृत तथ्यों का संग्रह नहीं है और नहीं मनमाने ढंग से देखे गए अतीत के प्रमाणों का जमघट, बल्कि वर्ग संघर्ष के माध्यम से निरंतर विकासोन्मुख मानव समाज के अध्ययन का आधार ही इतिहास है। इस प्रकार मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने एक ऐसी पद्वति प्रदान की है जिसके माध्यम से मनुष्य के ज्ञान द्वारा उसके अस्तित्व को समझने के स्थान पर उसके अस्तित्व के माध्यम से उसके ज्ञान को समझा जा सकता है। उल्लेखनीय तथ्य है कि मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य का अस्त्वि निर्भर करता है उन भौतिक परिस्थितियों पर जिनका निर्माण स्वयं मनुष्य के द्वारा होता है।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की धरणा के अनुसार मानव समाज की प्रगति खास नियमों के आधार पर होती है और प्रगति का तात्पर्य होता है भौतिक स्थितियों में द्वंद्वात्मक के कारण होने वाला परिवर्तन उत्पादन स्तर एवं विनिमय के स्वरूप के आधार पर मार्क्स ने यह बताया कि समाज अपनी वर्तमान स्थिति में पहुंचने के लिए कई स्थितियों से गुजर चुका है और इसे अपने विकास के पूर्णत्व की अवस्था में पहुंचने हेतु कुछ और अवस्थाओं से गुजरना होगा। उत्पादन के साधनों और मानव समाज की संरचना के बीच सम्बंध दिखलाते हुए मार्क्स में इतिहास का युग विभाजन किया। जब मनुष्य के पास उत्पादन के साधनों के नाम पर उसके दो हाथ और पत्थर के कुछ अनगढ़ हथियार थे तब अतिरिक्त उत्पादन कुछ भी नहीं होता था।

यह समाज आदिम साम्यवादी समाज था जिसमें विभेद तथा शोषण की कोई संभावना नहीं थी। इस आदिम साम्यवादी समाज में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं थी। उन्होंने अपने भौतिक जीवन को बेहतर बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। पशुओं को पालतु बनाया छोटे पैमाने पर कृषि कार्य प्रारंभ किया। स्पष्ट है कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हुआ व अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन ने स्वामित्व की प्रथा को जन्म दिया। निजी स्वामित्व से ही जुड़ी

हुई संस्था विवाह की शुरुआत हुई। आदिम साम्यवादी समाज में परिवार का जन्म हुआ। समाज स्पष्टत: दो वर्गो में विभाजित हो गया–एक वर्ग भू-स्वामी वर्ग था और दूसरा वर्ग खेतों पर काम करनेवाला दासों का वर्ग था। मार्क्स ने इस बदले हुए समाज को भू-स्वामी और दास-प्रथा वाला समाज कहा है। धीरे-धीरे कृषि के साथ विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का प्रादुर्भाव हुआ। समाज में शिल्पियों और कारीगरों के वर्ग बने। वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने लिया और भू-स्वामियों द्वारा अपने-अपने परिवार तथा निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य तथा पुलिसतंत्र का निर्माण किया। सम्पत्ति के अधिकार को दैवी अधिकार माना जाने लगा। व्यवसाय तथा व्यापार के विकास में समाज ने विचौलियों को भी जन्म दिया इस तरह उत्पादन के साधनों और वितरण प्रणाली में आमूल परिवर्तन कुटीर उद्योगों के विकास के साथ हुआ। समाज ने कई आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ के दिग्दर्शन किए। मार्क्स ने इस समाज को सामंतवादी समाज कहा है। सामंतवादी समाज में भी अर्धदासों और सामंतो के बीच और फिर सामंतो तथा मध्यमवर्ग के बीच संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती थी औद्योगिक क्रांति ने सशक्त मध्यम वर्ग को जन्म दिया। जिसके विकास के मार्ग में सामंती विशेषाधिकार एक बहुत बड़ी बाधा थी। यही कारण है कि औद्योगिक क्रांति के बाद राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय सरकारें बनी ताकि नवीन आर्थिक व्यवस्था तेजी से विकसित हो सके। यह अर्थिक व्यवस्था मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था थी। अपने ''दास कैपिटल'' में मार्क्स ने पूंजीवाद के अंतर्विरोधों को उद्धरित किया है।

मार्क्स की समकालीन व्यवस्था में पूंजीपति राजनीतिक सत्ता का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करते हैं, राज्य के संविधान, सरकार, प्रशासन, पुलिसतंत्र आदि राज्य के विभिन्न अवयवों का उपयोग पूंजीपतियों की रक्षा के लिए किया जाता है। लेकिन बदली हुई भौतिक परिस्थितियों में विशाल कारखानों के निर्माण के कारण मजदूरों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है। वे संगठित होते हैं और संगठित होकर क्रांति करते हैं ताकि राज्य सत्ता पर अधिकार कर उत्पादन के समस्त साधनों को और वितरण प्रणाली को राज्य के अधीन कर दिया जाय। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन का कार्य एक मात्र पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रखकर ही बाजार में उत्पादों का वितरण होता है। सर्वहारा के द्वारा राजसत्ता पर अधिकार कर लिए जाने के बाद उत्पादन और वितरण पूरे समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर होता है। सर्वहारा वर्ग राजसत्ता का उपयोग पूंजीवाद के अवशेषों को विनष्ट करने में करता है। मार्क्स के अनुसार यह समाजवादी व्यवस्था होती है जिसे लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकवाद की संज्ञा दी। जिस प्रकार पूंजीवादी अवस्था में पूंजीपति राजसत्ता का उपयोग शोषण बनाये रखने, अपने मुनाफे के लिए, अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त श्रम पर अधिकार बनाये रखने हेतु करते हैं, उसी प्रकार सर्वहारा के अधिनायकवाद में राजसत्ता का उपयोग वर्ग विभेद तथा शोषण को समाप्त करने के लिए किया जाता है। धीरे-धीरे जब वर्गों के अस्तित्व समाप्त हो जाते है, पूंजीवाद के अवशेषों को विनष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार मार्क्स ने एक ऐसे समाज की परिकल्पना की। जो उत्पादन का सर्वोच्च स्तर होगा। उत्पादन की प्रचुरता सभी प्रकारा के अभाव को समाप्त कर देगी और ऐसा समाज राज्यविहीन और वर्ग विहीन समाज होगा।

दरअसल मार्क्स इसी साम्यवादी समाज के तार्किक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए भौतिकवाद का सहारा लेते हैं। परिवर्तन तथा विकास के एकमात्र नियामक तत्व के रूप में आर्थिक पक्ष को ही प्रमुखता देने के कारण इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की आलोचना की जाती है। दरअसल भौतिक तत्व इतिहास के निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण तो अवश्य होते हैं लेकिन एकमात्र

निर्णायक तत्व नहीं। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत की भी आलोचना इस आधार पर की जाती है- इससे आवश्यक वर्ग विद्वेष, पारस्परिक घृणा और प्रतिस्पर्धा पैदा होती है। लेकिन इन आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास को मानव समुदायों के द्वारा समवेत रूप में किए गए कृत्यों का लेखा-जोखा बनाया। इतिहास से न केवल धर्म, अध्यात्म, प्रजाति, संस्कृति आदि के अनावश्यक महत्व को कम किया बल्कि उसने इतिहास के क्षेत्र में मानव समुदाय के खासकर उत्पादक वर्गों के कार्य-कलापों तक विस्तृत किया। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या स्पष्ट रूप में इसका इजहार करती है कि इतिहास निर्माण किसी नायक अथवा ईश्वर के द्वारा नहीं हुआ है बल्कि इतिहास के वास्तविक निर्माता वे उत्पादक वर्ग हैं, जिनसे उत्पादन का स्तर और उसकी शक्तियों का निर्धारण होता है। मार्क्सवादी इतिहास की व्याख्या ने यह स्पष्ट किया कि यदि समाज का विकास कुछ नियमों के आधार पर होता है तो मनुष्य यत्नपूर्वक उन नियमों में अनुकूल परिवर्तन कर परिस्थिति को अपने अनुकूल ढ़ाल सकता था। इस प्रकार मार्क्स ने इतिहास में व्यक्ति के महत्व को सुस्थापित कर उसे समष्टी से जोड़ा और प्रतिपादित किया कि भौतिक परिस्थितियां ही इतिहास की मुख्य नियन्ता हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इतिहास दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सीमा चिन्ह मानी जाती है। इससे इतिहास अध्ययन की पद्धति और क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का काम किया। अब इतिहास सही अर्थों में वैज्ञानिक हुआ सार्वभौमिक बना और यह वर्तमान को सुखद भविष्य में बदलने का हथियार भी बना।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या आर्थिक तत्वों पर अत्यधिक जोर देने के कारण आलोचना का पात्र तो बनी लेकिन इतिहास को वैज्ञानिक पद्धति और दृष्टिकोण को समुन्नत बनाने का श्रेय भी इसे दिया जाता है। यदि इतिहास की इस पद्धति में आर्थिक तत्वों का सामंजस्य उन तत्वों के साथ बढ़ाया जाय तो इतिहास के निर्माण में कमोबेश भूमिका का निर्वाह करते हैं, तो निःसंदेह इसे इतिहास की सर्वोत्तम वैज्ञानिक व्याख्या माना जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. रजनी पाम दत्त: ''इण्डिया टूडे''।
2. रंजीत गुहा: ''सब्अल्र्टन स्टडीज''।
3. एलन मिकसिनन्स बुड, जॉन बेलमि: ''इन डिफेन्स ऑफ हिस्ट्री: मार्क्विसज्म एण्ड पोस्ट मोडरनिज्म एजेण्डा''।
4. नरहरि कवि राज: ''वाट इज पोस्ट मोडरनिज्म''।
5. मृदुला मुखर्जी (पुस्तक समीक्षा) ''स्टडीज इन हिस्ट्री'' नई दिल्ली खण्ड.ए जनवरी-जून 1979।
6. विपिन चंद्र: ''भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'' नई दिल्ली
7. शेक असी बी.: ''हिस्ट्री इटस थ्योरी एण्ड मेथड'' 1978।
8. बुद्ध प्रकाश: ''इतिहास दर्शन'' 1968
9. गोविन्द चंद्र पांडे: ''इतिहास: स्वरूप एवं दर्शन'' 1973।
10. सुमित सरकार: ''आधुनिक भारत'' नई दिल्ली।
11. काल मार्क्स: ''ए कन्ट्रीब्यूशन टू द फास्टर क्रिटिक एण्ड पॉलिटिकल इकोनामी।''

इतिहास

वैदिक काल का ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ॰ संतोष कुमार साह

हबीबपुर, साहेबगंज (झारखंड)

सार

सिंघु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हमे सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम वैदिक काल के नाम से जानते है। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी आर्य सभ्यता का नाम भी दिया जाता है। वैदिक साहित्य का अर्थ उस विपुल साहित्य से है, जिसके अर्न्तगत चारों वेदों ऋक्, साम, यर्जु एवं अथर्व की संहिताएँ अर्थात मंत्र खंड ही नहीं अपितु गधा एंव दार्शनिक खंड अर्थात विभिन्न ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषद भी आते है। हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बडा श्रोत वैदिक साहित्य है। यह माना जाता है, कि वेंदों का कोई रचयिता नहीं था। अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभुति ऋषियों को हुई थी, जिसको उन्होनें शब्दों में लिख लिया था। वैदिक साहित्य के आधाार इस काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार थी, उसकी जानकारी प्राप्त होती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में यह दर्शाया गया है कि वैदिक युग के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति क्या थी। दूसरी ओर वैदिक साहित्य में प्रतिविम्बित भारत पर प्रकाश डाला गया है और अंत मे यह भी दर्शाया गया है कि वैदिक युग में विभिन्न आचार्यो की क्या भूमिका थी।

परिचय

वैदिक युग (1500 ई. पू. से 600ई. पू.) भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग है। हमारे वर्तमान संस्कृति की शुरूआत इसी युग से होती हैं और हमारी बहुत सारी परम्पराएं भी इसी युग से प्रारम्भ होती हैं। वैदिक साहित्य के आधार पर हम इस युग को दो भागों में बांटते हैं। -

(1) ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता और

(2) उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता।

ऋग्वैदिक सभ्यता का काल 1500 ई0 पू0 से 1000 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में मुख्यत: ऋग्वेद की रचना हुई। उत्तर वैदिक काल 1000 ई. पू. से 600 ई. पू. के बीच माना जाता है और इस काल में तीन वेदों-यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रंथों एवं उपनिषद की रचना हुई। ऋगवैदिक काल में जहाँ एक ओर राज्य संस्थान का विकास नहीं हुआ था, समाज का स्वरूप कबीलाई किस्म का था, कृषि से अधिक महत्वपूर्ण पशुपालन था तथा धर्म में सरलता थी, वहीं दूसरी ओर उत्तर वैदिक काल में राज्य संस्थान का विकास हुआ, वर्ण विभाजित समाज का गठन हुआ, कृषि की महत्ता बढ़ी एवं धार्मिक क्षेत्र में कर्मकाण्ड की जटिलता उत्पन्न हुई।

अध्ययन उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन ''वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन: विश्लेषणात्मक अध्ययन'' को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है :-

1. भारत शब्द का आशय किस भौगोलिक क्षेत्र से है।
2. वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी।
3. वैदिक कालीन सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था कैसी थी।
4. वैदिक कालीन राजनीतिक जीवन किस प्रकार की थी।
5. वैदिक काल एवं उत्तर-वैदिक काल में तुलनात्मक अध्ययन।
6. वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की विशेषताओं को आज के संदर्भ में प्रतिबिम्बित करना।
7. वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की कमियों पर प्रकाश डालना। आदि।

अध्ययन पद्धति

(1) प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक श्रोतों के तहत विभिन्न पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से संबंधित विभिन्न मानक पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं एवं आलेखों का सहारा लिया गया है।

(2) प्रस्तुत शोध-अध्ययन में प्रमुख इतिहासविद् से इस विषय पर परिचर्चा कि गयी है तथा उससे प्राप्त तथ्यों को प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

विश्लेषण

सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हमें सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम "वैदिक काल'' के नाम से जानते है। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी "आर्य सभ्यता'' का नाम भी दिया जाता है। वैदिक सभ्यता का निर्माण आर्यों ने किया। इन आर्यों के मूल निवास स्थान का प्रश्न विवादास्पद है। अभी तक इस विषय में कोई सर्वस्वीकृत धारणा नहीं है। इतिहास, भाषा विज्ञान नस्ल, पुरातत्व संबंधी खोंजों आदि के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने भारत, मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि को आर्यो का मूल निवास स्थान बताया है।

ऋगवेद में जिस भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन है उसे सप्त सिन्धव कहते है। इसमें सिन्धु नदी तथा उसकी पश्चिमी सहायक नदियों एवं सरस्वती आदि बहती थी। सहायक नदियों में गोमती, क्रुमु (कुर्रम), कुंभा (काबुल), सुवास्तु, यदु, सतुद्री इत्यादि का उल्लेख है। ऋगवेद में गंगा और यमुना की भी चर्चा है, किन्तु इनका उल्लेख प्राय: नगन्य है। उत्तर-वैदिक काल में भौगोलिक क्षितिज का विस्तार हो गया था और उस समय सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र गंगा-यमुना का दोआब तथा कुरू-पंचाल जनपद का क्षेत्र बन गया था। कुछ पूर्वी क्षेत्रों जैसे कि कोशल काशी विदेह इत्यादि की भी चर्चा उत्तर-वैदिक साहित्य में मिलती है।

वैदिक साहित्य

हमारी सभ्यता संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बड़ा श्रोत वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद का अर्थ है ज्ञान। यह माना जाता है कि वेदों का कोई रचयिता नहीं था, अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभूति ऋषियों को हुई

थी, जिसको उन्होने शब्दों में लिख लिया था। भारतीय विद्वानों का मत है कि इन संहिताओं में जो मंत्र किया गया है, उनकी अनुभूति ऋषियों को स्वंय ईश्वर से हुई थी, परंतु जिन शब्दों में प्राप्त ज्ञान को व्यक्त किया गया वे अवश्य आर्यो ने अपने प्रारंभ के जीवन में किस प्रकार समाज का विकास किया (धर्म, दर्शन ज्ञान, विज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्रों में क्या प्रगति की इस सब की जानकारी हमें ऋगवेद से मिलती है। सांस्कृतिक दृष्टि से ऋगवेद का बड़ा महत्व है।

इस ग्रंथ से उस समय के लोगों के आचार विचार, रहन-सहन, नीति, सदाचार तथा सामाजिक जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म, और उपासना ये तीन सीढियाँ है। यजुर्वेद में यज्ञीय कर्मकाण्ड और विधि-विधान का उल्लेख है। मानव मात्र के कल्याण का रहस्य यजुर्वेद् के मंत्रों में निहित है। सामवेद में यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले मंत्रों का संग्रह है। इसमें कुल 1549 ऋचायें है जिनमें 78 ही नई हैं, शेष ऋगवेद से ली गई है। वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से अथवर्वेद को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अथर्वेद में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र , स्तुति, औषधि आदि अनेक विषयों का समावेश है।

वैदिक कालिन साहित्य

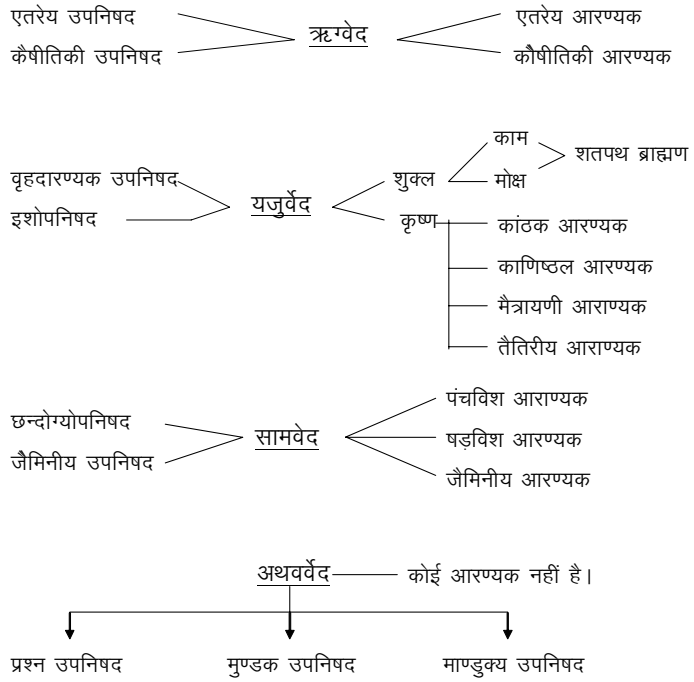

वैदिक काल (सामाजिक जीवन)

प्रारंभ आर्य लोग तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे - योद्धा, पुरोहित एवं सर्व-साधारण बाद में शुद्र मिलाकर इनकी संख्या चार हो गई। आर्य भारत आने के पहले से ही वर्ण व्यवस्था से परिचित

थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य किसी जाति विशेष से नहीं जुड़ा था। परिवार का ही कोई वरिष्ठ पुरुष देवताओं की प्रार्थना के लिए नियत होता था। परिवार समाज की प्रमुख इकाई थी परिवार का मुखिया पिता होता था। अत: पितृसत्तात्मक परिवार की अवधारणा थी। व्यक्ति की पहचान कुल या गोत्र से होती थी। अपने जन के प्रति लोगों की असीम आस्था होती थी। आर्य परिवार में पुत्र जन्म का स्वागत किया जाता था, परन्तु समाज में नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। धार्मिक कृत्यों, सामाजिक उत्सवों एवं समारोंहों में तथा सभा और समिति मे वे भाग ले सकती थी। घोषा, लोपामुद्रा आदि उस काल की विदुषी स्त्रियां थी, जिन्होंने ऋृगवेद की मंत्र रचना में अपना योगदान दिया था।

बाल-विवाह का चलन नहीं था तथा अपना वर चुनने का स्त्रियों को अधिकार था। दहेज और वधू-मूल्य दोनों प्रथाएँ प्रचलित थी। विधवा विवाह पर प्रतिबंध नहीं था। पर्दा का चलन तथा सतीप्रथा की कोई चर्चा नहीं मिलती है। कुल मिलाकर इस काल के नारी की स्थिति अत्यंत संतोषजनक थी। उतर-वैदिक युग में ही आर्यो ने अपने जीवन को आश्रमों मे विभक्त किया ये चार थे। ब्राह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमों का मूलाधार था। प्रारंभिक आर्यों के धार्मिक विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर केन्द्रित थें अत: प्राकृतिक धटनाओं के लिए उन्होंने अलग-अलग देवताओं की कल्पना की। इस तरह वे अनेक देवताओं और देवियों की उपासना करने लगें।

सामाजिक विभाजन

1 प्रथम विभाजन –

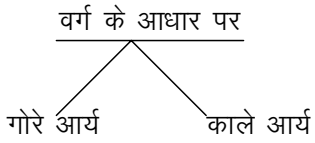

2 द्वितीय विभाजन –

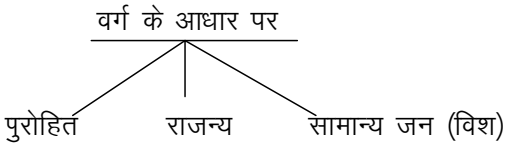

अन्त में चार वर्ग आए (जावालिपनिपद् 10वे मण्डल के 90वाँ पुरुष सुक्त में)

1. ब्राह्मण
2. क्षत्रीय
3. वैश्य
4. शुद्र।

वैदिक काल (आर्थिक जीवन)

ऋग्वैदिक काल में कृषि एवं पशुपालन जीवन के महत्वपूर्ण आधार थे। गाय, बैल, धोड़ें, खच्चर, भेड़, कुत्ते आदि पालतू जानवर थे। ऋग्वेद के मंत्रों में जौ और 'घोडों' को धन कहा गया है, और इस धन के लिए बार-बार प्रार्थना की गई है। ऋग्वैदिक आर्य पशुपालक मात्र नहीं थे, उन्हें खेती

कि भी जानकारी थी। वर्षा से सिचाई तो होती थी, कुओं और नदी नालों से भी सिचाई के प्रमाण मिले है। वे लोग खाद के महत्व से भी परिचित थे।

उत्तर–वैदिक काल में आर्यो के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। आर्थिक विकास की प्रकिया को प्रभावित करने वाले तत्वों मे लोहे का प्रयोग इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं। लोहा, तांबा और कांसा से अधिक कठोर धातु है इसलिए लोहे के हथियार और औजारों का उपयोगिता अधिक थी। श्रम करना गलत नहीं समझा जाता था। प्राचीन आख्यानों में इस बात की चर्चा हैं कि राजा जनक ने खुद हल चलाया था।

ऋग्वेद में केवल एक ही अनाज जौ और गेहूं की चर्चा है। परन्तु उत्तर–वैदिक साहित्य मे अनाज के अधिक किस्मों का उल्लेख है। इस समय तक आर्य चावल, गेहूं और जौ उपजाने लगें थे। यजुर्वेद में शिल्पों और धंधों की एक लंबी सूची दी गई है। इसमें लोहार, बढई, बुनकर, चर्मकार, रंगसाज, कुम्हार आदि के नामों का उल्लेख है। तॉबा, कांसा और लोहा के बर्तन बनाए जाते थे। 'शतमान' और 'निष्क' संभवत: निश्चित मानवाली मुद्राओं के रूप मे प्रचलित थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. A History of India, volum one Pengum books Great Britain, 1981-Romila Thapar.
2. Ancient India an introductory outline, Peoples publishing house, New Delhi July - 1990-D.N Jha.
3. The Gazitteer of India (History and culture) volume II Publication Division. Government of the India New Delhi -1988.
4. TheAge of the Imperial unite – R.C. Majumdar.
5. The History and culture of the Indian people (the vedic age) - R.C.Majumdar.
6. History ofAncient India –R.S. Tripathi.
7. Indian Historical Review – R.S. Sharma.
8. प्राचीन भारत (कथा –11)–एन. सी. ई. आर. टी.
9. प्राचीन भारत का इतिहास –द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली।
10. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास –डा. शिवस्वरूप सहाय।
11. अदभूत भारत – ए. एल. बाशम।
12. प्राचीन भारत का इतिहास –डा. सत्यनारायण।
13. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति :– के. सी. श्रीवास्तव।
14. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास :– डा. जयशंकर मिश्रा।
15. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था –डा. ओम प्रकाश प्रसाद।
16. ऋग्वेद, 10/61/10/62, वही ऋग्वेद 3/4/8–11
17. ऋग्वेद, 1/164/45 – चत्वारि वाक्परिमिता पदनितानि विदुब्राह्मण मनीषिण: वदन्ति।
18. अर्थवेद, 5/18 , 5/19।
19. शतपथ ब्रह्मण, 4/3/9 – यौ वै ज्ञातो* स ऋषि:

वेदों के काल में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति एवं उसका क्रमबद्ध विकास

डॉ॰ रूपक कुमार शर्मा

ज्योति विहार कॉलोनी, जीरो माईल, भागलपुर

संपूर्ण भारत में उत्तर वैदिक काल में जीवन के विभिन्न पक्षों में एक निश्चित दिशा की ओर परिवर्तन हुए। इस युग में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से एक ऐसे ढाँचे का आविर्भाव हुआ, जो सामान्य परिवर्तनों के साथ लम्बे काल तक चलता रहा। इस युग की प्रमुख विशेषतायें थीं–कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था, कबायली संरचना में विघटन, वर्ण व्यवस्था का जन्म और क्षेत्रगत साम्राज्यों का उदय। उत्तर वैदिक काल में आर्यों के सामाजिक जीवन में स्थायित्व ही नहीं देखा जाता है, बल्कि पूर्वकाल की तुलना में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि आर्य ग्रामों में निवास करते थे, किंतु इस युग में बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ। इस काल तक आते-आते वर्ण का अभिप्राय भी परिवर्तित हुआ। शूद्र को सम्मिलित करते हुए चार वर्णों की परिकल्पना की गयी। रक्त संबंध समाज का आधार था। समाज की महत्वपूर्ण इकाई कुल था। अब चारों वर्णों के बीच भेद-भाव उत्पन्न होने लगे थे।

चारों वर्णों के संबोधन की दृष्टि से चार शब्द आये हैं। ब्राह्मण के लिए 'ऐहि', क्षत्रिय के लिए 'आगच्छ', वैश्य के लिए 'आद्रव' (जल्दी आओ) और शूद्र के लिए 'आधाव' (दौड़कर आओ) शब्द प्रयुक्त होते थे। ऊपर के तीन वर्णों को द्विज की स्थिति प्राप्त हुई। द्विज का शाब्दिक अर्थ है–दुबारा जन्म लेना। तैतिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। ब्राह्मणों का उपनयन संस्कार वसंत में, क्षत्रियों का ग्रीष्म में और वैश्यों का शीत ऋतु में होता था। सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद काल में किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपनी इच्छा तथा क्षमता के अनुसार किसी भी वर्ण का कार्य अपना सकता था। वर्ण व्यवस्था में उत्तर वैदिक काल में पूर्ववत् लचीलापन नहीं देखा जाता। प्रत्येक वर्ण में परस्पर पृथकता दर्शाने की दृष्टि से नियम एवं विधान बना दिये गये थे। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि गायत्री मंत्र का प्रारंभ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अलग-अलग ढंग से करें। शूद्रों को सामान्यतः धार्मिक कृत्यों के अधिकार से वंचित रखा गया। इस प्रकार परवर्ती संहिताओं के काल में वर्ण शब्द प्रयोग निश्चित रूप से 'जाति' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इस जाति व्यवस्था का विकास होता हुआ दिखायी देता है। जिसमें समाज के चार वर्णों के अस्तित्व को विराट पुरुष के विविध अंगों से संबद्ध कर दिया गया, जिसकी चर्चा पूर्व में की गयी है।

अनेक कारणों से उपरोक्त चार जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों एवं उपजातियों का विकास संभव हुआ। कामगारों की विविध संस्थाओं ने जातियों के विभिन्न रूप को विकसित होने के लिए प्रेरित किया और किसी एक जाति द्वारा अपनाया गया व्यवसाय पैतृक बनता गया। धीरे-धीरे इन्हीं पैतृक व्यवसायों ने एक जाति का स्वरूप ग्रहण कर लिया। जातियों के विकास के साथ गोत्र परंपरा विकसित हुयी, जिसके अंतर्गत अपने गोत्र से बाहर विवाह करने की परंपरा चल पड़ी। विवाह अपनी जाति में ही किये जाने लगे, किंतु समान गोत्र में नहीं। जाति प्रथा को यह परंपरा अधिक कठोर बनाने में सहायक बनी। अथर्ववेद में व्रात्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ होता था–वह आर्य जो अपनी धर्मनिष्ठा से च्युत हो चुका है और जिसकी वेदों पर कोई श्रद्धा नहीं रही है। व्रात्य लोग खेती नहीं करते थे।

ब्राह्मण भी प्रारंभ में 16 पुरोहितों में एक पुरोहित था, किंतु कालांतर में यज्ञ की विधि द्वारा उसने समाज में प्रतिष्ठा स्थापित कर ली। वैदिक ग्रंथों में ब्राह्मण को 'अदायी' (दान लेने वाला) और सोमपायी (भ्रमण करने वाला) कहा गया है। ब्राह्मण अपना राजा सोम को मानते थे। ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य संहिताओं के विवरण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के कर्त्तव्यों में विभाजक रेखायें स्पष्ट हो गयी थीं। तैतिरीय संहिता में विवेचन मिलता है कि ब्राह्मण ऐसे देवता हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। देवता के दो प्रकार हैं– देवता जो देवता ही हैं और ब्राह्मण भी जो पवित्र ज्ञान अर्जन करते हैं, और उसे अन्य को प्रदान करते हैं अत: मानव देवता हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि जब वरुण से कहा गया कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र के स्थान पर ब्राह्मण पुत्र की बलि दी जायेगी तो वरुण ने कहा कि ब्राह्मण तो क्षत्रिय से उत्तम समझा ही जाता है। ब्राह्मण को दिव्यवर्ण कहा गया और उसमें समस्त देवताओं का निवास माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मणों के चार विलक्षण गुण हैं–ब्राह्मण (ब्राह्मण के रूप में पवित्र पैतृकता), प्रतिरूपचर्या (पवित्राचरण), यश (महत्ता) एवं लोकपंक्ति (लोगों को पढ़ाना या पूर्ण करना)।

ब्राह्मण से जन-सामान्य द्वारा ज्ञान अर्जित किये जाने पर उसे चार विशेषाधिकार मिलते थे–अर्चा (आदर), दान, अज्येयता (कोई कष्ट न देना) एवं अवध्यता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'राजा पर निर्भर होने पर भी ब्राह्मण राजा से श्रेष्ठ है, वाजसनेयी संहिता में ब्राह्मणों को राजा से उत्तम कहा गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि समाज में ब्राह्मण को कष्ट मिलने पर जल में टूटी हुयी नाव की तरह राजा नष्ट हो जाता है। अत: शतपथ ब्राह्मण भी राजा की शक्ति का आधार ब्राह्मण को ही मानता है। किंतु दूसरी ओर काठक संहिता में ब्राह्मण के ऊपर क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी एक स्थान पर ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचा कहा गया है।

क्षत्रिय का शाब्दिक अर्थ होता है–क्षेत्र पर अधिकार करने वाला। उत्तर वैदिक काल में लोहे के युद्धास्त्रों के कारण क्षत्रियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। क्षत्रिय पर समाज की सुरक्षा का अधिभार था। ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच आपसी प्रतिस्पर्द्धा थी। शतपथ ब्राह्मण में एक जगह पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण कुछ क्षत्रिय विद्वान दार्शनिक राजा बन गये। श्वेतकेतु आरुणि ने उपनिषद् काल में प्रवाहण जाबालि से शिक्षा पायी थी। राजपद को इस काल में नयी शक्ति एवं अधिकार मिलने के फलस्वरूप क्षत्रिय वर्ण को नया स्वरूप प्राप्त होता है। राजा को सभी वर्गों से श्रेष्ठ माना गया। राजा को इस युग में ब्राह्मण को निष्कासित करने, वैश्य से कर वसूल करने तथा शूद्र को दण्डित करने के अधिकार प्राप्त थे। राजन्य वर्ग में यह धारणा बन गयी थी कि

वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों के माध्यम से राजा की महिमा में अभिवृद्धि होती है और इन यज्ञों का संपादन ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा किया जाता था।

राज्याभिषेक के अवसर पर जब राजा को मुकुट पहनाया जाता था तो यह समझा जाता था कि, ''एक सबका अधिपति एवं ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करने वाला उत्पन्न किया गया है।'' कोई कार्य प्रारंभ करने से पूर्व क्षत्रिय को ब्राह्मण के पास जाना चाहिए, ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के सहयोग से यश मिलता है। एक ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता है, किंतु एक राजा बिना पुरोहित के नहीं रह सकता। यहाँ तक कि देवताओं के लिए भी पुरोहित की आवश्यकता बतायी गयी है। देवताओं के पुरोहित त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप थे। शतपथ ब्राह्मण में अन्य राजा के समक्ष बलशाली होने के लिए राजा को ब्राह्मण के प्रति नम्रता पूर्ण व्यवहार करने का निर्देश मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि यदि राजा ब्राह्मण के निर्देशन में कार्य करता है, तो राष्ट्र समृद्ध बनता है। इससे परिलक्षित होता है कि तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के मध्य एक घनिष्ठ संबंध की परिकल्पना की गयी एवं राष्ट्र के लिए दोनों के एकत्व पर जोर दिया गया।

ब्राह्मण एवं राजन्य वर्ग की तुलना में उत्तर वैदिक काल में वैश्य वर्ग की सामाजिक स्थिति निम्नतर देखी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में उसे 'अनस्य बलिकृत' कहा है। वैश्य वर्ग का सहयोग याजक क्रियाओं में भी अपेक्षित माना गया था। कहा गया है कि जब देवता लोग पराजित हुए तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हो गये। राजा के लिए 'विशमत्ता' अथवा 'विश' (जनता) का भक्षक पद उसकी निम्न स्थिति को इंगित करता है। मनुष्यों में वैश्य तथा पशुओं में गायें अन्य लोगों के उपभोग की वस्तुएँ कही गयी हैं। यह वर्ण आर्थिक दृष्टि से संपन्न था, क्योंकि महत्वपूर्ण व्यवसायों पर इस वर्ण का आधिपत्य था। फलस्वरूप इसे अन्य दो वर्णों के समकक्ष ही रखा जाता था। कृषि कार्य, पशुपालन, विविध उद्योग एवं वाणिज्य व्यापार में यह वर्ण संलग्न था। बहुसंख्यक पशुओं का स्वामी होना विशेष गर्व की बात मानी जाती थी। वैश्य को न केवल यज्ञादि कर्म करने का अधिकार प्राप्त था, बल्कि उपनयन एवं वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार भी थे। ऐतरेय ब्राह्मण में यह प्रसंग मिलता है कि वैश्य अन्य लोगों के लिए अन्न उत्पादित करते थे एवं कर देते थे। स्पष्ट है कि वैश्य अन्य दोनों उच्च वर्णों की तुलना में अधिक संख्या में थे एवं कृषि, पशुपालन एवं व्यापार करते थे। वे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से दूर रहते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त में पहली बार शूद्रों की चर्चा हुई। इन्हें 'अन्य का भृत्य' कहा जाता था, अर्थात् तीनों वर्णों का सेवक। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों द्वारा सोम यज्ञ में भाग लेने की बात की गयी है। मैत्रायणी (मैत्रायण) संहिता में धनी शूद्रों का जिक्र है। उनकी स्थिति अभी उतनी गिरी नहीं थी, क्योंकि राज्याभिषेक के समय शूद्र भी हिस्सा लेते थे। अभी छुआछूत की अवधारणा विकसित नहीं हुयी थी। विभिन्न शिल्पियों में रथकार की स्थिति संभवत: अच्छी थी। उन्हें उपनयन का अधिकार था। बच्चे, विधवा स्त्री एवं संन्यासी वर्ण व्यवस्था से बाहर थे। परिचारक के कार्य करने वाले शूद्रों का समाज में चौथा स्थान था।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि शूद्रों में दास तथा ऐसे व्यक्ति हो सकते थे, जिनका जन्म आर्यों एवं दासों के मिश्रण से हुआ था। चौथे वर्ण में मिश्रण एवं परिवर्तन अवश्यंभावी था और इसकी व्याख्या वर्ण संकरत्व के मूल रूप में की जाती थी। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि चौथे वर्ण का आधार जाति एवं व्यवसाय दोनों ही थे। शूद्रों को धर्म सूत्रों में काले वर्ण का कहा गया है। तैतिरीय संहिता

में शूद्रों को यज्ञाधिकार से वंचित किया गया है। उत्तर वैदिक काल में शूद्र वर्ण में दो प्रकार की जातियों का आविर्भाव हुआ। कुछ व्यवसाय संबंधी जातियाँ थीं, जो व्यवस्थित एवं धनी थीं। दूसरी अन्त्यज जातियाँ थीं, जिनका समाज में अति निम्न स्थान था।

चांडाल का उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य (लगभग 1000-600 ई.पू.) में छः स्थलों पर हुआ है। वाजसनेयी संहिता के एक उत्तरवर्ती अंश में इसका सबसे पहले उल्लेख पुरुषमेध (प्रतीकात्मक मानव बलि) की एक सौ चौरासी बलियों के बीच हुआ है और उसे वायुदेव को अर्पित बताया गया है। लगता है इस दौर में वह उन देशी जातियों में से एक था, जिनसे आर्यों का परिचय था और ये जनजातियाँ अप्रवासी आर्य बस्तियों की सीमाओं पर रहती थीं तथा आर्यों के साथ इनके पचने-खपने और आर्य संस्कृति में रंगने की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी। इस प्रकार की अन्य जातियाँ निषाद, पर्णक, किरात और पौल्कस थी। ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र तथा कई अन्यों के साथ पुरुषमेध में चंडाल के उल्लेख से उसके अशौच का कोई संकेत नहीं मिलता। किसी को प्राचीन भारत में अपना उच्छिष्ट देने के बड़े कठोर नियम थे और चंडाल को सामान्यतः उसके लिए अनर्ह अर्थात् अयोग्य समझा जाता था। अग्निहोत्र करने वालों को इसका अपवाद रखा गया था।

पहली बार गोत्र की अवधारणा उत्तर वैदिक काल में आयी। गोत्र का शाब्दिक अर्थ है- गोष्ठ अर्थात् वह स्थान, जहाँ पूरे गोत्र का गोधन रखा जाता था। कुछ समय के बाद गोत्र का यह अर्थ बदल गया। अब एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न व्यक्ति एक गोत्र के कहे जाने लगे। प्रारंभ में गोत्र की अवधारणा ब्राह्मणों के लिए थी। क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मणों के द्वारा ही गोत्र प्रदान किये गये। मौलिक रूप में सात गोत्र हैं, जो ऋषियों के नाम पर हैं। यथा, कश्यप, वशिष्ठ, भृगु, गौतम, भारद्वाज अत्रि, तथा विश्वामित्र। आठवां गोत्र अगत्स्य ऋषि का माना जाता है। वे अनार्यों के ऋषि भी माने जाते हैं।

कालांतर में आगे चलकर केवल एक मूल पुरुष से उत्पन्न व्यक्ति की ही गणना नहीं की जाती थी, वरन् उस मूल पुरुष के पूर्वजों को भी ध्यान में रखा जाता था। सपिंड, सगोत्र आदि शब्दों पर विचार सूत्रकाल में होने लगा और इसी के साथ गोत्र बर्हिगमन की परिकल्पना आयी। इसे विवाह में ध्यान रखा जाता था।

References

- The Vedic Harappans/Bhagwan Singh
- Vedic Management : The Dharmic and Yogic Way/Krishan Saigal
- Philosophy, Religion and Vedic Education/Acharya Phool Singh

मगध साम्राज्य का राजनीतिक एवं आर्थिक विश्लेषण

डॉ॰ नारायण दास

प्राचार्य, जे.एस. कॉलेज, चन्दौली, सीतामढ़ी (बिहार)

बुद्धकाल से पूर्व की शताब्दी राजनीतिक अंतर्विरोधों का युग रही थी। जब जनजातीय संगठन का एक नयी राजनीतिक संस्था राजतंत्र से संघर्ष हुआ। किसी विशेष क्षेत्र में स्थायी रूप से बस जाने से किसी जन अथवा जनों के समूह को एक भौगोलिक अभिज्ञता मिल गयी और बाद में उस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करके इस अभिज्ञता को ठोस रूप दिया गया। इस अधिकार को बनाये रखने के लिए या तो प्रजातंत्र के रूप में या राजतंत्र के रूप में एक राजनीतिक संस्था आवश्यक थी। इस काल में राजत्व के सिद्धांत में भी बहुत से परिवर्तन हुये। इस काल में जनपद का स्थान महाजनपद ले रहा था तथा राज्य के अंतर्गत बहुत-सी गैर आर्य जनजातियाँ भी शामिल हो रही थीं।

कर का भुगतान करने वाले अब नये आर्थिक समूहों का निर्माण हो रहा था। अत: करारोपण प्रणाली नियमित हो गयी एवं बलि, शुल्क और भाग नामक कर पूरी तरह स्थापित हो गये। इसके साथ राजा की शक्ति में वृद्धि हुयी, क्योंकि स्थायी सेना एवं रक्त संबंध से पृथक् नौकरशाही की स्थापना हुई। इस काल में सर्वप्रथम स्थायी सेना का गठन हुआ। इसके प्रमाण हैं कि बिंबिसार अपने को क्षत्रीय बिंबिसार कहता है जिसका अर्थ है सेना का बिम्बिसार।

कोशल का शासक उसी तरह अपने को अधिकारमदमर्त्त कहता था। राजा की शक्ति में वृद्धि हुयी और उसे 'ब्राह्मण और सेठी' को भूमि अनुदान देने में समुदाय की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं थी। रक्त संबंध से पृथक् नौकरशाही स्थापित हुई। पुरोहित वर्ग से अधिकतर अधिकारी चुने जाते थे। नये अधिकारियों में आयुक्त एवं महामन्त की चर्चा मिलती है। उत्तर वैदिक काल में हम करारोपण से जुड़े 'भागदुध' नामक अधिकारी की चर्चा सुनते थे। किंतु इस युग में करारोपण से जुड़े आधे दर्जन अधिकारियों की चर्चा सुनते हैं।

बलिसाधक: यह बलि वसूल करने वाला अधिकारी था।

शौल्किक: यह शुल्काध्यक्ष था, जिसका कार्य शुल्क वसूलना था।

रज्जुग्राहक: यह भूमि की माप करने वाला अधिकारी था।

द्रोणमापक: यह अनाज के तौल का निरीक्षण करने वाला अधिकारी था। जातक कथाओं में हमें कुछ दमनात्मक कार्यवाही की चर्चा भी मिलती है। दो अधिकारी तुन्दिया एवं अकाशिया बलपूर्वक कर की वसूली करते थे।

इसी के साथ सभा एवं समिति जैसी आदिम संस्थाओं का अंत हो गया और उनका स्थान परिषद् ने ले लिया। राजकीय मुहर का प्रथम प्रयोग इसी युग में आरंभ हुआ। इसी तरह राजकीय दस्तावेज की परंपरा भी यहीं से शुरू हुई। 'अक्षपटलाधिकृत' नामक अधिकारी की नियुक्ति हुई। कौटिल्य राज्य के लोक कल्याणकारी रूप पर बल देता है। कानून एवं अदालत का प्रथम विकास इसी युग में हुआ। प्रशासन में लेखन कला के विकास के साथ दक्षता आयी। जाति विभाजित समाज में पुराने समतावादी कानून बाधक सिद्ध हो रहे थे। अतः कबिलायी कानून का स्थान जाति कानूनों ने ले लिया। प्रशासन की छोटी इकाई के रूप में कुल के स्थान पर ग्राम स्थापित हुआ। ग्राम और उससे ऊपर की इकाइयों की चर्चा समकालीन ग्रंथों में की गयी है। ये इकाइयाँ इस प्रकार हैं–

1. ग्राम
2. खर्वटक–200 ग्रामों का संघ
3. द्रोणमुख–400 ग्रामों का संघ
4. पतन–व्यापार या खानों का केंद्र
5. मंतभ–दस हजार ग्रामों और दुर्गों का संघ
6. नगर
7. निगम–व्यापारियों की बस्ती।
8. राजधानी

इस युग में प्रथम बार निवास की भूमि और कृषि की भूमि अलग-अलग हुई। राजा की शक्ति में विकास के परिणामस्वरूप राजस्व से संबंधित दो अवधारणाएँ विकसित हुईं। इस युग में राजतंत्र के अतिरिक्त गणतंत्र भी थे, इन्हें हम गण या संघ के नाम से जानते हैं। गणतंत्र में वास्तविक सत्ता कबिलायी अल्पतंत्र में निहित थी। शासक वर्ग शाक्यों एवं लिच्छवी के गणराज्यों में एक ही गोत्र एवं एक ही वर्ण के होते थे।

वैशाली के लिच्छवियों की सभा में 7707 सदस्य थे जो राजा कहलाते थे। इन सदस्यों में ब्राह्मणों को शामिल नहीं किया गया था। जैसे–मौर्योत्तर काल में मालवों एवं श्रूद्रकों के गणराज्य में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को नागरिकाता प्राप्त थी, किंतु दासों एवं शूद्रों को नहीं। इसी तरह पंजाब में व्यास नदी के आस-पास एक ऐसा गणतंत्र था, जिसके सभागार में ऐसे ही लोग सदस्य हो सकते थे जो कम-से-कम एक हाथी दे सकते थे। शाक्यों एवं लिच्छवियों का प्रशासन तंत्र सरल था, इसमें राजा, उपराजा, सेनापति एवं भांडागारिक (राजकोषाध्यक्ष) शामिल होते थे।

ग्रीक लेखकों के अनुसार उ.प. के एक राज्य, 'पातल' में एक विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था थी। इसमें युद्ध के समय दो वंशानुगत राजा मिलकर शासन करते थे और शांति के समय शासन का संचालन वृद्ध जनों की एक परिषद् द्वारा होता था। उसी तरह 'सौभूति' एवं 'अम्बष्ठ' के गणतंत्र में बच्चों के लालन-पालन का अधिभार राज्य अपने हाथ में लेता था, ताकि बच्चे स्वस्थ पैदा हो सकें। 'मूषिकवंश' एक ऐसा राज्य था, जहाँ दास नहीं पाये जाते थे। इस युग में भी राजा अपनी वैधानिक स्थिति मजबूत करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ करते थे।

अर्थव्यवस्था

उत्तर-पश्चिमी भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापार की संभावनाओं ने इस युग में नगर के विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया। 700 ई॰ पू॰ के आस-पास उत्तर प्रदेश एवं बिहार की जनता की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हुये। पाणिनि की अष्टाध्यायी और सुतनिपात के अनुसार खेत की दो या तीन बार जुतायी होती थी। कृषि उत्पादन में धान की रोपायी और लोहे के उपकरणों के ज्ञान ने क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। चावल उत्पादक मध्य गंगा घाटी में गेहूँ उत्पादक ऊपरी गंगा घाटी की तुलना में अधिक उत्पादन होता था।

उत्पादन अधिशेष से जनसंख्या वृद्धि संभव हुई। इसके अतिरिक्त उत्पादन में यज्ञ पर खर्च करने की प्रवृत्ति कम हो गयी। सांख्यायन गृहसूत्र में बैल द्वारा खेती करने, हल चलाने एवं मंत्रों के साथ समस्त कृषि प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का उल्लेख है। पाणिनि के समय खेतों का सर्वेक्षण करने वाले अधिकारी को 'क्षेत्रकार' कहा जाता था।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार छः निवर्तन भूमि की उपज से एक परिवार का भरण-पोषण होता था। अतः इससे ज्ञात होता है कि भूमि-माप की इकाई निवर्तन कहलाती थी और एक निवर्तन भूमि डेढ़ एकड़ के बराबर होती थी। सूत्रग्रंथों में दो प्रकार के जौ-(यव और यवानी) तथा पाँच प्रकार के चावल (कृष्ण ब्रिही, महाब्रिही, हायन, यवक और पष्टिक) का उल्लेख है। ईख की खेती की चर्चा बौद्ध ग्रंथों में की गयी है।

प्राचीन बौद्ध एवं जैन साहित्य में शलिल (चावल) की 4 किस्मों की चर्चा की गयी (रक्त शलि, कालम शलि, गंधशलि, महाशलि) है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में खेतपति, खेतस्वामी या वथूपति की चर्चा की गयी है। इसका अर्थ है कि–भूमि के अलग-अलग स्वामी होते थे। इससे यह संकेत मिलता है, भू-व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना विकसित हो चुकी थी। कृषि में भी बड़े-बड़े फार्मों का विकास हुआ। माना जाता है कि 500 हलों से खेती की जाती थी। अब बौद्धग्रंथों के अनुसार कृषि में दासों, कर्मकारों एवं पस्सों को लगाया जाता था।

वैदिक युग में याजक (यज्ञ करने वाला) और पशुचारक थे, किंतु छठी सदी ई.पू. में वे पहली बार विशाल पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया बन गये। उन्हें धन के कारण संमान प्राप्त हुआ। राज्य की सेना को गृहपति मेंडक वेतन देता था और बुद्ध संघ की सेवा के लिए उसने 1250 गौ सेवकों को नियुक्त किया था। उसी तरह अनाथपिंडक संपंन गृहपति था। इन काल में राजगृह में 18 प्रकार के शिल्पों की चर्चा की गयी है। शिल्पों का न केवल विशिष्टीकरण हुआ, बल्कि शिल्पों का क्षेत्रीयकरण भी हुआ। कुंभकार की 500 दुकानें वैशाली के सदलपुत्त में थीं। जुलाहों की भी अलग-अलग बस्तियाँ थीं। जुलाहों का वार्ड तंतुवायधान कहलाता था। हाथी दाँत का काम करने वाले 'दंतकारवीथि' कहलाते थे। रंगरेजों का कार्य करने वाले 'रंगरेजकार विथि' कहलाते थे। यह काल NBPW चरण से जुड़ा हुआ था। इसी काल में 300 ई॰ पूर्व॰ ठण्ब्ग के आस-पास घेरेदार कुये एवं पक्के ईंटों का प्रयोग होने लगा।

500 ई॰ पूर्व॰ के आस-पास धातु के आहत सिक्के का प्रारंभ हुआ। आरंभ में आहत सिक्के चांदी के बनाये जाते थे, किंतु तांबे के भी होते थे। पंचमार्क सिक्के में धातु के टुकड़ों पर हाथी, मछली,

सांड, अर्द्धचंद्र की आकृतियाँ बनायी जाती थीं। विशेष रूप से ये पूर्वी उत्तर प्रदेश, मगध और तक्षशिला में पाये गये हैं। कुछ अन्य सिक्कों की भी चर्चा हुयी है, यथा- कर्षापण, पाद, माशक, काकणिक, सुर्वण (निष्क)।

बिबिंसार और अजातशत्रु के काल में राजगृह में पाँच मास, एक पाद के बराबर होता था। पाणिनि के काल में निम्नलिखित सिक्के चलते थे–निष्क, पण, पाद, मास, शान (तांबे का सिक्का)। श्रेणियों के पदाधिकारियों को चौधरी (प्रमुख) और जेठक (ज्येष्ठक) और भा।डागारिक कहा जाता था। बिना श्रेणियों के संगठित उद्योगों का संचालन ज्येष्ठक करते थे। व्यापार-प्रमुख या मुखिया 'महासेठी' कहलाता था। कारवाँ (व्यापारियों का काफिला), सितारों और कौये की सहायता से 'थलनिय्याम' के नेतृत्व में चलता था। बुद्ध काल में आर्थिक संघों को अत्यधिक स्वायत्तता प्राप्त थी। वे वस्तुओं के मूल्य निश्चित करते थे। निजी सदस्यों पर गहरी पकड़ थी और इसके लिए उन्हें राज्य की ओर से भी मान्यता प्रदान की गयी थी। वे भ्रष्ट सदस्यों का निष्कासन कर सकते थे। किसी भी स्त्री को बौद्ध संघ की सदस्यता के लिए अपने पति के अतिरिक्त पति के संघ की अनुमति भी लेनी पड़ती थी।

प्रारंभिक धर्मसूत्रों में ऋणों पर ब्याज 1¼ प्रतिशत प्रतिमास (15 प्रतिशत वार्षिक) था। वाणिज्य व्यापार विकसित अवस्था में थी। एक मार्ग ताम्रलिप्ति से पाटलिपुत्र एवं श्रावस्ती के माध्यम से उज्जैन होते हुये भड़ौंच से जुड़ता था। दूसरा मार्ग मथुरा–राजस्थान–तक्षशिला से जुड़ा था। व्यापार की वृद्धि के लिए पांडय सिद्धि संस्कार किया जाता था। इसमें सोम की पूजा की जाती थी।

बुद्धकाल को द्वितीय नगरीकरण का काल भी कहा जाता है। प्रथम नगरीकरण सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान हुआ था। तैत्तिरीय आरन्यक में पहली बार नगर की चर्चा की गयी है। उस काल में कुल 60 नगर थे, जिनमें श्रावस्ती जैसे 20 नगर थे। बुद्ध काल में 6 बड़े नगर या महानगर थे–यथा राजगृह, चंपा, काशी, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशांबी। इस तरह आर्थिक जीवन के बदलते हुये रूप इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

References

- Early Aryans to Swaraj/edited by S.R. Bakshi
- A History of India/K. Antonova, G. Bongard-Levin, G. Kotovsky
- Culture Through the Ages: Prof. B.N. Puri
- Republics, Kingdoms, Towns and Cities in Ancient India/G.P. Singh
- Archaeological Geography of the Ganga Plain : The Lower and the Middle Ganga-Dilip K. Chakrabart
- A Military History of Ancient India/Gurcharn Singh Sandhu

बिटिश भारत में अकाल नीति का विश्लेषण

डॉ॰ अजीत कुमार

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतिओं का भारत पर व्यापक एवं दुखद प्रभाव पड़ा। सरकार की आर्थिक नीतियों के चलते देश में विपन्नता तेजी से बढ़ी। इस अवस्था के लिए सरकार की संपत्ति निष्कासन की नीति, भू-राजस्व नीति भारत को आर्थिक उपनिवेश में बदलने की नीति, कुटिर उद्योगों का विनाश इत्यादि उत्तरदायी कारण थे। इन नीतियों के फलस्वरूप भारत में भूखमरी, बेरोजगारी की समस्या बढ़ी। प्राकृतिक संसाधनों से संपन्न होने के बावजूद भी ब्रिटिश नीति के कारण यहाँ के लोगों का जीवन स्तर निम्न हो गया। लोगों को खाने के लिए अनाज की कमी हो गयी। फलस्वरूप 19वीं 20वीं शदी में भारत में बार-बार अकाल पड़े जिनसे लाखों की संख्या में व्यक्तियों की मौत हो गयी। अकाल की घटनाएँ 19वीं शदी के उतरार्द्ध में घटी। ब्रिटिश भारत में पड़ने वाले प्रमुख अकालों का तथ्यात्मक विश्लेषण किया गया है।

कम्पनी शासन के अधीन अकालः- कम्पनी शासन के अधीन भारत के भिन्न-भिन्न भागों में कम से कम 12 अकाल और 4 भीषण सूखे पड़े। सबसे पहले 1769-70 में बंगाल में एक भीषण अकाल पड़ा इसके फलस्वरूप आबादी का एक तिहाई हिस्सा खत्म हो गया और देश का एक तिहाई भाग केवल जंगली जानवरों से भरे जंगल में बदल गया। अकाल की इस स्थिति पर 1769 में मुर्शीदाबाद में कंपनी के रेजिडेंट बेचर ने कंपनी को यह रिपोर्ट दी थी:- ''किसी भी अंग्रेज के लिए यह सोच पाना बड़ा कठिन होगा कि कंपनी को दिवानी मिलने के बाद वे इस देश की जनता की हालत बदतर हो गई और इस सच्चाई में संदेह नहीं किया जा सकता-यह खूबसूरत देश जो अत्यंत निरकुंश और तानाशाह व्यवस्था के अधीन भी फलता-फूलता रहा था, अब विनाश के कगार पर खड़ा है जबकि आज प्रशासन में अंग्रजों का सचमुच काफी बड़ा हिस्सा है।'' इस तबाह हालत के बाद बंगाल में 1770 में ऐसा अकाल पड़ा जिसे कंपनी की सरकारी रिपोर्ट में वर्णानातीत कहा गया। किसी जमाने में पूर्णियाँ का सूवा धन धान्य से परिपूर्ण था पर उसकी एक तिहाई से अधिक आबादी इस अकाल से तबाह हो गयी। अन्य हिस्सों में भी बरबादी का यही आलम था। इस अकाल में अनुमानतः एक करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हुई। फिर भी अकाल के दौरान मालगुजारी न केवल कड़ाई ओर निर्दयता के साथ वसूली गई बल्कि यह और बढ़ा दी गयी। 12 फरवरी 1771 को कलकत्ता की कौंसिल ने अपनी रिपोर्ट में कहा इस अकाल की भयंकरता और अकाल के फलस्वरूप लोगों की संख्या में भारी कमी के बावजूद मौजूदा साल के लिए बिहार और बंगाल के सूबों में कुछ वृद्धि की गयी है। यह किस प्रकार संपन्न किया गया इसके बारे में बारेन हेस्टिंग्स की 1772 की कड़ी टिप्पणी देखी जा सकती है:-

''इस सूबे की कम से कम एक तिहाई आबादी के खत्म हो जाने तथा इसके फलस्वरूप खेती में कमी आने के बावजूद 1771 में जितनी मालगुजारी वसूली गई वह 1768 से भी ज्यादा थी.... स्वभावतया यह आशा की जाती थी कि इस महाविपत्ति के जैसे दुष्परिणाम हुए हैं उसे देखते हुए मालगुजारी भी कम हो जायेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि मालगुजारी का पुराना स्तर कड़ाई के साथ कायम रखा गया[1](1) इस महा प्रलय में भी कंपनी ने कोई राहत का कार्य नहीं किया अपितु कम्पनी के आधिकारियों ने कम भाव पर चावल खरीद कर बहुत उँचे दाम पर बेचकर अनन्त लाभ कमाया। 1781 और 1782 में मद्रास क्षेत्र में सूखा पड़ा और 1784 में सारे उत्तरी भारत में कठोर सूखे की स्थिति हो गई। 1792 के दुभिक्ष में मद्रास में कम्पनी ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए कार्य आरम्भ किए।

जब 1803 में आधुनिक उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में अकाल पड़ा तो सरकार ने कर में छूट दी; लोगों को ऋण भी दिए और बनारस, इलाहाबाद, कानपुर तथा फतेहगढ़ में समस्त आयात किए अन्न पर सरकार की ओर से विशेष पुरस्कार अथवा पैसा (Bounty) दिया गया। 1833 के गुंटूर जिलें में अकाल से पांच लाख व्यक्तियों में से दो लाख मर गए। इसी प्रकार 1837 में उत्तरी भारत में कड़ा अकाल पड़ा। सरकार ने सार्वजनिक कार्य (Public Works)आरम्भ किए परन्तु निस्सहाय तथा दुर्बल व्यक्तियों को राहत पहुंचाने का कार्य धर्मार्थ संस्थाओं पर हीं रहा।

कम्पनी के काल में इस राहत कार्य अथवा अकाल से बचने के लिए कोई निश्चित योजना नहीं बनाई गई। प्रत्येक सरकार और जिला प्रशासन ने भिन्न-भिन्न योजनाएं, जैसे अन्न का संरक्षित भण्डार, जमाखोरी पर दण्ड, अन्न आयात पर पुरस्कार, कुएं इत्यादि के लिए कर्जा देना इत्यादि चलाई।

काउन के प्रशासन (1858.1947) के दिनों में दुर्भिक्ष

प्रशासन के क्राउन के अधीन आने, और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की आर्थिक विकास नीतियों जैसे रेलवे, तथा अन्य संचार साधनों के विकास, तथा विदेशी व्यापार की उन्नति के कारण, अकाल समस्या का रूप ही परिवर्तित हो गया। सरकार ने भी यह अनुभव किया कि सिंचाई सुविधाओं को विस्तार, कृषि सम्बन्धी कानूनों को बनाना, और निवारक प्रयत्नों को करना तथा एक अकाल नीति का निर्धारण करना, इसी का उत्तरदायित्व है।

इस युग में दस अकाल और अनेक बार सूखा पड़ा। 1860-61 में दिल्ली और आगरे के बीच के क्षेत्र में अकाल पड़ा। यह प्रथम बार था कि दरिद्रशालाओं (Poor Houses) का प्रयोग राहत कार्यों के लिए किया गया और अधिकारी वर्ग ने यह भी सोचा कि अकाल के कारणों तथा उग्रता की जांच की जाए और इससे निबटने का प्रयत्न किया जाए। कर्नल स्मिथ (Col Smith) को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया परन्तु उसकी रिपोर्ट का कुछ निश्चित परिणाम नहीं निकला।

1886 का उड़ीसा अकाल- 1865 में सूबा पड़ा और 1866 में उड़ीसा, मद्रास, उतरी बंगाल और बिहार में अकाल पड़ा। अकाल की भीषणता उड़ीसा में अधिक थी। यद्यपि अधिकारियों को पूर्व सूचित किया जा चुका था परन्तु उन्होंने इससे निबटने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। वे मांग और पूर्ति के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए, मुक्त व्यापार की नीति पर चलते रहे। सरकार ने समर्थांग (Able- bodied)लोगों को कार्य दिया और राहत कार्य स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए छोड़ दिया। संस्थाएं अधिक काम नहीं कर सकी अतएव जानों की बहुत क्षति हुई। अनुमान है कि लगभग 13 लाख तो उड़ीसा में ही मृत्युग्रस्त हो गए।

उड़ीसा अकाल भारतीय अकालों के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुआ क्योंकि इसके पश्चात् सर जॉर्ज केम्बेल (Sir George Campbell) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसकी रिपोर्ट में 1880 के राजकीय आयोग (Royal commission) की कुछ सिफारिशों को प्रत्याशित (Anticipate)किया गया था। यह नीति कि स्वयंसेवी संस्थाएं ही राहत कार्य के लिए उत्तरदायी है, छोड़ दी गई। सरकार को रेलवे और नहरों आदि के बनाने के लिए ऋण लेने चाहिए और यह जिला अधिकारियों का उत्तरदायित्व था कि प्रत्येक सम्भावित मृत्यू को रोका जाए।

1868 में उतरी तथा मध्य भारत में अकाल पड़ा। सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्र राजपूताना और मध्य भारत थे। सरकार ने राहत कार्य तो किया परन्तु मात्रा कम थी अतएव मृतकों की संख्या अधिक थी।

1876.78 का अकाल- 1876-78 का बड़ा दुर्भिक्ष सम्भवत: 19वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर सबसे बड़ी विपति थी। इसका अधिकतर प्रभाव मद्रास, बम्बई, उत्तरप्रदेश और पंजाब पर हुआ। लगभग 2,57,000 वर्ग मील का क्षेत्र जिसमें 5 करोड़ 80 लाख लोग बसते थे इसकी चपेट में आ गया। अनेक ग्राम उजड़ गए और भूमि का विस्तृत क्षेत्र कृषि रहित हो गया। आर0सी0 दत्त के अनुसार 50 लाख लोग मृत्युग्रस्त हो गए। सरकार ने अनमनी भावना से इस अकाल से निबटने का प्रयत्न किया और इसके प्रयत्न, साधन अथवा व्यवस्था भी पर्याप्त नहीं थी। सरकार ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया: ''किसी भी मूल्य पर जीवन रक्षा करना, एक ऐसा कार्य है जो उनकी शक्ति से परे है और करदाता और प्रभावित जनता, दोनों के हित में नहीं है।[2]

स्ट्रेची आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Strachey Commisisoin 1880)-1880 में लिटन सरकार ने सर रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसको साधारण सिद्धान्त निर्धारित करने थे और विशेषतया बचाव तथा प्रतिरक्षण के लिए सुक्षाव देने थे। आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं-

1. भूख से प्रभावित होने से पूर्व ही लोगो को काम मिले और उनकी मजदूरी समय-समय पर पुन: निश्चित की जाए ताकि लोगों को खाना मिल सके।
2. निस्साहय निर्धनों को भोजन देना सरकार का कर्तव्य है और इसके लिए भिन्न-भिन्न वर्गों की सूची तैयार की जाय। यह सहायता, पके हुए भोजन, खाद्यान्न अथवा पैसे के रूप में हो सकती है परन्तु उन्हें दरिद्रशालाओं तथा सहायता शिविरों (Poor houses and relief camps) में रहना होगा।
3. प्रभावित क्षेत्रों मे अन्न के संभरण पर निगाह रखनी चाहिए। निजी व्यापारिकों पर विश्वास रखना चाहिए और अन्न का निर्यात तभी रोकना चाहिए जब यह निश्चित हो जाए कि ऐसा करने से समस्त देश की अन्न की स्थिति ठीक रहेगी।
4. भूमिकर तथा अन्य किरायों में कमी तथा छूट की नीति भी निर्धारित की गई।
5. अकाल सहायता का व्यय प्रान्तीय सरकारों को सहना होगा। यद्यपि जहाँ आवश्यक हो केन्द्रीय सहायता भी मिलेगी।
6. कड़े सूखे की स्थिति में दुधारू पशुओं को अधिक हरे भरे प्रदेशों में स्थानान्तारित करने का भी प्रबन्ध किया गया।

सरकार ने आयोग की सिफारिशें साधारण रूप से स्वीकार कर ली और एक अकाल कोष स्थापित करने के लिए राजस्व के अन्य स्त्रोतों का पता लगाने के लिये प्रयत्न किया गया। 1883 में

अकाल संहिता (Famine code)भी निश्चित की गई जो कि प्रान्तीय अकाल संहिता (Provincial Famine Code) का आधार बनी जो कालान्तर में बनाई गई। इसमें साधारण अवस्था में बचाव और राहत कार्यों के आरम्भ होने की स्थिति में, सुक्षाव दिए गए थे। इसमें अकाल ग्रस्त जिला घोषित करने से लकर अन्य सभी अधिकारियों के कर्तव्यों की सूची दी गई थी। 1883 और 1896 के अकालों में इन संहिताओं में दिए गए सुक्षावों को परखने और संशोधित करने का अवसर मिला।

1896.97 के अकाल- 1880 और 1896 के बीच दो अकाल तथा सूखे पड़े। परन्तु 1896-97 के महान अकाल ने लगभग सभी प्रान्तों को न्यून अथवा अधिक रूप से प्रभावित किया और 3 करोड़ 40 लाख लोग प्रभावित हुए। मध्य प्रान्त के अतिरिक्त, जहाँ मृतकों की संख्या बहुत अधिक थी, शेष स्थानों पर सहायता कार्य पर्याप्त रूप से सफल रहे कुछ भागों में सहायता कार्य विस्तार से किये गए और लोगों को घरों में भी सहयाता पहुँचायी गई। कुल व्यय 7 करोड़ 27 लाख हुआ। पंजाब के उपगवर्नर सर जेम्ज लायल (sir James Lyall)की अध्यक्षता में स्थापित आयोग ने 1880 के आयोग से सहमति प्रकट की परन्तु कुछ क्षेत्रो में थोड़े बहुत परिवर्तन किए गए जिससे समकालीन उपायों में कुछ लचीलापन आ गया।

1899.1900 का अकाल-पहले दुभिक्ष के तुरन्त पश्चात् एक और विपत्ति 1899-1900 में आई। इससे 1,89,000 वर्गमील का क्षेत्र और 2 करोड़ 80 लाख लोग प्रभावित हुए। अधिकारियों ने दुर्भिक्ष के आरम्भिक काल में सहायता कार्य आरम्भ करने से मनाही कर दी और फिर जब आरम्भ किये तो इतने अधिक लोग शिविरों में आ गए कि सभी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। सहायता व्यय लगभग 10 करोड़ रूपये हुआ।

मेकडानेल आयोग की सिफारिशें (Recommendtions of macdonnell commisssion)-लार्ड कर्जन ने सर एन्टनी मैकडानल की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसने 1901 में अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें सहायता के स्वीकृत नियमों का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया। इसमें नैतिक नीति (moral strategy) के लाभों पशु तथ बीजों के लिए शीघ्रता से धन बाँटने तथा अस्थायी कुएं खोदने की व्यवस्था के लाभों पर बल दिया गया। इनसे प्रभावित क्षेत्र में एक दुर्भिक्ष आयुक्त (Famine commissioner) की नियुक्ति का सुझाव था। इसमें अराजकीय सहायता का अधिक मात्रा में उपयोग, और बड़े-बड़े कार्यो के स्थान पर ग्राम स्तर के कार्यो को आरम्भ करने का सुझाव था। आयोग ने अधिक अच्छी परिवहन सुविधाओं कृषक बैकों सिंचाई व्यवस्था तथा उत्तम कृषि साधनों की आवश्यकता पर भी बल दिया। इस आयोग की मुख्य सिफारिशें स्वीकार कर ली गई और कर्जन के भारत छोड़ने से पहले उसने अकाल के मुकबले के लिए कई उपाय किए।1901 और 1941 के बीच बहुत से अकाल और सूखे की स्थितियां अनुभव की गई जोकि प्रायः स्थानीय हीं थी। परन्तु 1906-7 तथा 1907-8 के दुभिक्ष अधिक गम्भीर थे।

सन्दर्भः

1. वारेन हैस्टिग्ज : रिपोर्ट टु दि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स, 3 नवम्बर 1772
2. रिपोर्ट आफ फेमिन कमिशन, 1901
3. भवानी सेन : रूरल बंगाल इन रूईस पृ0-18
4. उपरोक्त पृ0-1
5. उपरोक्त पृ0-4

स्वतंत्र भारत में गैर बराबरी और समानता का संघर्ष

एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ॰ बीरेन्द्र कुमार सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

21वीं शदी के इस प्रथम दशक में भारत में आर्थिक-सामाजिक विकास के इतिहास में एक ऐसा नया दौर शुरू हो गया है जहाँ पर समाजवादी और पूँजीवादी वैचारिकताओं के बीच का संघर्ष एक ऐसे संतुलन (इक्वीलिब्रियम) की स्थिति में पहुँचा दीखता है जिसके बाद संक्रमण या गुणात्मक बदलाव का आना सम्भव हो जाता है। भारत के साथ विडम्बना यही है कि साम्राज्यवाद विरोध, जो समाजवादी आर्थिक-सामाजिक संरचना के निर्माण की आवश्यक शर्त होती है- और साम्राज्यवाद की पक्षधरता के बीच का संघर्ष लातिनी अमरिकी देशों की तरह साम्राज्यवाद विरोध की दिशा की तरफ झुका हुआ नहीं दीखता, बल्कि अभी इसका रूख साम्राज्यवाद पक्षी दीखता है। वैश्वीकरण के इस युग में जब मरणासन्न पूँजीवादी में आर्थिक वैश्वीकरण की एक पूँजीवादी व्यवस्था को विकासशील देशों पर थोप कर जिस तरह एक राहत की सांस लेने और उत्साहित भंगिमा के साथ अपना विजय अभियान शुरू किया था उस पर हाल की वैश्विक आर्थिक मंदी ने एक विराम लगा दिया है। फिर भी, विश्व समाजवादी व्यवस्था के विघटन के कारण विश्वक्रान्तिकारी प्रक्रिया में आई कमजोरी भी एक ऐसी वास्तविकता है जिसने विकास की गति को आगे बढ़ाने की मूलभूत स्थितियों– उत्पादन की विकसित सामाजिक शक्तियों और पुराने पड़ते उत्पादन के पूँजीवादी सम्बन्धों के बीच के गहराते अन्तर्विरोधों के अनिवार्य फलितार्थ, संक्रमण की प्रक्रिया को किस करवट बैठायेंगे अभी कहना कठिन है। भारत के संदर्भ में आर्थिक-सामाजिक इस संघर्ष के संदर्भ को समझाने के लिए इसके इतिहास पर एक नजर डालना भी जरूरी है।

भारत में आर्थिक-सामाजिक विकास को एक दिशा देने का जो संघर्ष समाजवादी और पूँजीवादी वैचारिकताओं के बीच शुरू हुआ था उसको 1929 और 1936 के बीच के वर्षों में तब मुखर अभिव्यक्ति मिली थी जब राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को और राष्ट्रवाद के साथ उसके सम्बन्ध को जवाहर लाल नेहरू ने अपने भाषणों एवं लेखनों के द्वारा एक विशिष्ट अभिव्यक्ति प्रदान कर संक्रान्तिक स्थिति में ला दिया था। हालाँकि नेहरू हमेशा संगठित समाजवादी आन्दोलन से बाहर ही रहे मगर समाजवादी विचारधारा के उभड़ते प्रभावों और राष्ट्रीय आन्दोलन के पुराने नेतृत्व के बीच एक पुल का काम उन्होंने जरूर किया और एक समन्वय बनाने का प्रयास किया जो साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष के लिए एक व्यापक जनाधार वाले संयुक्त मोर्चे

के गठन के लिए अनिवार्य शर्त थी। अपने वक्तव्यों और लेखनों के द्वारा नेहरू ने राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के बीच घनिष्ठता की अनिवार्यता को एकदम सामने ला दिया। उन्होंने लिखा : विदेशी सरकार के स्थान पर यदि कोई देशी सरकार स्थापित होती है और उस समय भी निहित स्वार्थ ज्यों के त्यों बने रहते हैं तो यह आजादी की छाया भी नहीं होगी। इसलिए भारत का तात्कालिक लक्ष्य महज यही होना चाहिए कि उसकी जनता का शोषण समाप्त हो। राजनीतिक रूप से इसका अर्थ स्वाधीनता तथा ब्रिटेन के साथ सम्बन्धों की समाप्ति अर्थात साम्राज्यवादी प्रभुत्व की समाप्ति होना चाहिए; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से इसका अर्थ सभी खास वर्गों के विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों की समाप्ति होना चाहिए[1]। उद्धहरण स्पष्टतया साम्राज्यवाद और देशी-विदेशी हर तरह के निहित स्वार्थों के खिलाफ एक अभिव्यक्ति है जो स्वतंत्रता संघर्ष में स्वीकृत व्यापक जन समुदाय की आकांक्षाओं की भी अभिव्यक्ति करता है।

नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे उस व्यापक मोर्चे की चारित्रिक विशेषताओं को स्वीकार किया था जिसमें समाजवाद पक्षी और समाजवाद विरोधी ताकतें एक साथ मिलकर भारतीय आजादी के उद्दान्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रही थी। मगर उस संयुक्त मोर्चे का भारतीय जनआवाम के साथ भी एक अन्तर्विरोध था जिसे नेहरू ने रेखांकित किया था और उसके निदान का अपना तरीका स्पष्ट किया था। उस अन्तर्विरोध को भारत की व्यापक जनता का समाजवाद के पक्ष में तथा साम्राज्यवाद और निहित स्वार्थों के खिलाफ वैचारिकता तथा आजादी के लिए संघर्षरत वर्ग शक्तियों के संयुक्त मोर्चा का नेतृत्व कर रही कांग्रेस के नेतृत्व में समाजवाद विरोधी तत्वों के बहुमत में प्रकट होता था। इस अन्तर्विरोध के समाधान का नेहरू का तरीका उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था : मैं भारत की आजादी के लिए संघर्ष कर रहा हूँ क्योंकि मेरे भीतर जो राष्ट्रीय तत्व है वह कभी विदेशी प्रभुत्व को बर्दाश्त नहीं कर सकता; मैं आजादी के लिए इसलिए भी संघर्षरत हूँ क्योंकि मेरे विचार से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिए यह एक अनिवार्य कदम है। मैं चाहूँगा कि कांग्रेस एक समाजवादी संगठन का रूप ले और नई सभ्यता के लिए दुनियाँ की जो अन्य शक्तियाँ काम कर रही है उनके साथ कंधे से कंधा मिलाए। लेकिन मैं जानता हूँ कि कांग्रेस का आज जो स्वरूप है, उसमें अधिकांश कांग्रेसी शायद इसके लिए तैयार न हो। उन्होंने आगे कहा: इस देश में समाजवाद के विकास की जबरदस्त इच्छा के बावजूद मैं इस प्रश्न को कांग्रेस पर थोपना नहीं चाहता और अपने स्वाधीनता संघर्ष में कोई कठिनाई नहीं पैदा करना चाहता। मैं खुशी-खुशी और अपनी पुरी ताकत के साथ उन लोगों के साथ सहयोग करूँगा जो आजादी के लिए काम कर रहे हैं। भले ही वे समाजवादी समाधान से असहमत क्यों न हो। लेकिन मैं अपनी स्थिति बड़े साफ शब्दों में स्पष्ट करके ही ऐसा करूँगा और यह आशा करूँगा कि आने वाले दिनों में कांग्रेस को और देश को समाजवादी विचारधारा में ढाल लूंगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि ऐसा करके ही आजादी मिलेगी[2]।

नेहरू के ऊपर उद्धृत भाषण राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्दर विद्यमान असंगतियों और अन्तर्विरोधों को भी रेखांकित करता है। यह स्पष्ट करता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में लगी व्यापकतम भारतीय जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व का बहुमत नहीं कर रहा था, इस प्रकार कांग्रेस वैचारिकता के स्तर पर भारतीय जन आवाम की भारतीय मुक्ति संघर्ष के अन्तिम लक्ष्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी। जन आकांक्षाओं का राजनीतिक नेतृत्व (पोलिटिकल हेजीमोनी) का होना आन्दोलन को उसके लक्ष्य तक या उसकी अन्तिम परिणति तक नहीं ले जा सकता। भारत की

आजादी और आजादी पश्चात् भारत की आर्थिक-सामाजिक पुनर्संरचना के दो उद्दान्त लक्ष्य भारतीय मुक्ति आन्दोलन के सामने अवश्य था मगर दूसरे लक्ष्य- भारत की आर्थिक-सामाजिक पुनसंरचना का लक्ष्य- के कार्यान्वयन की प्रक्रिया का आरम्भ आजादी हासिल करने के बाद शुरू होने वाला था, आजादी के आन्दोलन के दरम्यान दुसरे लक्ष्य–यानि भारत का समाजवादी पुनसंरचना का लक्ष्य– की सिर्फ मौखिक स्वीकृति ही की जा सकती थी। कांग्रेस का बहुमत ने तब इस दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति एक ऐसा वर्ग समन्वय वादी वैचारिकता को अपनाए हुए रहा जिसके झांसे में कांग्रेस के अन्दर के समाजवाद पक्ष तत्व भ्रमित रहे। वर्ग समन्वय के आधार पर समाजवाद के निर्माण की जिस वैचारिक प्रवृति को गांधीवादी ट्रस्टीसीप की वैचारिकता ने मुखर रूप से सामने लाई वह जन अवाम ही नहीं, अपितु कांग्रेस के भीतर के समाजवाद पक्ष तत्वों तक को भ्रमित किया। जिस हृदय परिवर्तन के द्वारा आर्थिक -सामाजिक विसंगतियों को दूर करने और समाजवाद की तरफ सभी वर्गों, शोषितों और शोषकों दोनों को एक साथ लेकर चलने के मिथक का प्रतिपादन गांधीवाद करता रहा था उसका प्रभाव नेहरू पर भी गहरा दीखता है; क्योंकि वे कांग्रेस के नेतृत्व के लोगों का हृदय परिवर्तन करके सामाजवादी बना देना चाहते थे- जो विकास के इतिहास की वैज्ञानिकता के प्रतिकुल थी।

नेहरू के वक्तव्यों के सम्बन्ध में रजनी पामदत्त ने जो सटीक टिप्पणी की है उसे देखने पर पता चलता है कि किस तरह नेहरूवादी संकल्पना में कांग्रेस को समाजवादी वैचारिकता के अन्दर ले जाने की बाते की गई है। श्री दत्त लिखते हैं कि : इसमें कांग्रेस के धीरे-धीरे समाजवाद में रूपान्तरित होने की एक तस्वीर पेश की गई है। समाजवाद में रूपान्तरण के बीच की अवधि में एक स्थाई संतुलन भी बनाए रखा गया। फिर भी, इस अवधारणा में उन वर्गशक्तियों के वर्तमान संघर्ष को परे रखा गया है जो अनिवार्य रूप से कांग्रेस के भीतर और कांग्रेस तथा आम जनता के बीच के सम्बन्ध के मामले में अभिव्यक्त होती है। परिणामत: यह अवधारणा राष्ट्रीय एकता के नाम पर वर्गों के बीच समझौते का सिद्धान्त बन जाती है और इस तरह का वर्ग समझौता व्यवहार में उस राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व के इशारे पर चलता है जो सक्रिय राष्ट्रीय संघर्ष के विकास को पीछे खींचता है[3]।

आजादी पश्चात् भारत में आजादी के संघर्ष के दौरान उमड़ी जन आकांक्षाओं के आधार पर भारत के आर्थिक-सामाजिक संरचना के निर्माण का प्रश्न अब भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन प्रमुख एजेन्डा बन गया था क्योंकि भारत अब आजाद था और आजाद भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य अब भारत द्वारा किसी विदेशी शासन से राजनीति सत्ता छीनने या प्राप्त करने का नहीं रह गया था, बल्कि आर्थिक-सामाजिक नवनिर्माण के द्वारा एक ऐसी आर्थिक संरचना का निर्माण करना लक्ष्य बन गया था जो साम्राज्यवाद से अपने सारे सम्बन्धों में किसी तरह के सम्पर्क को न रखते हुए देशी और विदेशी निहित स्वार्थों की समाप्ति की दिशा में प्रस्थान करता था। अब वर्ग शक्तियों के समन्वय के आधार पर किसी उद्दान्त राजनीतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष की भौतिक स्थितियाँ प्राय: समाप्त हो चुकी थी, आजादी मिल गई थी और आजादी के संघर्ष के दरम्यान स्वीकृत जन आकांक्षाओं के कार्यान्वयन के लिए संवैधानिक और राजनीतिक ढ़ांचे को खड़ा करने का एक महती दायित्व सामने था। एक साम्राज्यवाद विरोधी और हर तरह के निहित स्वार्थों की समाप्ति के लिए एक खास ढंग के उत्पादन सम्बन्ध के आधार पर आर्थिक संरचना को गठित किया जाना जरूरी था, क्योंकि वह आजाद भारत में भविष्य में विकसित किए जानेवाली तमाम बाहरी संरचनाओं के स्वरूप को आधार प्रदान करती। इसके लिए आजाद भारत के संविधान का स्वरूप होना चाहिए था जो

साम्राज्यवाद से भारत के भविष्य के सम्बन्धों को रोकता और हर तरह के निहित स्वार्थों की समाप्ति करता।

अब संविधान सभा में यह प्रश्न उठने लगा तब वर्ग शक्तियों का टकराव स्पष्ट रूप से दीखा। भारतीय संविधान सभा का गठन और आजाद भारत के लिए नए संविधान के निर्माण के काल की वैश्विक स्थितियाँ साम्राज्यवाद तथा निहित स्वार्थों के पक्ष में नहीं, अपितु उपनिवेशवाद विरोध, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों और समाजवाद के पक्ष में दीख रही थी। फँासीवाद और नाजीवाद, जो विश्व वितपूँजी के सबसे घृणित एवं कलुषित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दर्शन थे और आज भी हैं, उनके खूनी इरादों का अनुभव विश्वजनगण को ताजा था- लोगों ने देखा था कि उनके नापाक इरादों को शिकस्त देने में सोवियत रूस की क्या अहम भूमिका रही थी। उसने वैश्विक स्तर पर न सिर्फ फाँसीवाद को परास्त किया, बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को सक्रिय मदद कर उपनिवेशवाद की अन्तिम चिता ही जला दी। एक विश्व समाजवादी व्यवस्था के निर्माण एवं द्वितीय विश्वयुद्ध में बर्बाद हुई अर्थव्यवस्था को जिस तेजी और जन आकांक्षा के अनुरूप निर्मित कर एक अजेयशक्ति के रूप में विश्व पटल पर उभड़ा उसका प्रभाव वैश्विक दीखा। यहाँ तक कि भारतीय संविधान निर्माताओं पर इसका प्रभाव जिस ढंग से पड़ा उसने भारत के संविधान को भी प्रभावित किया। खासकर, संविधान में सम्पति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में समावेशित किए जाने के मामले पर संविधान सभा दो परस्पर विरोधी वैचारिकता में स्पष्ट बंटी दीखी- सम्पति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में लिपिबद्ध किए जाने के विरोध वाली वैचारिकता पर उदीयमान समाजवादी वैचारिकता का प्रभाव काफी गहरा दीखा[4]।

स्वभाविक था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पूर्ण काल में आजादी के लिए संघर्ष में अपने राजनीतिक नेतृत्व को हमेशा बनाए रखा था संविधान निर्मातृ सभा में भी उसी का बहुमत रहना था। कांग्रेस का बहुमत नेतृत्व समाजवाद के पक्ष में नहीं था, उसकी अवधारणा में पाश्चात्य पूंजीवादी जनतंत्र का राजनीतिक ढ़ाँचा और पश्चात्य उत्पादन प्रणाली ही उसका आदर्श था, जिसकी प्राप्ति, उनकी समझ में पश्चिम यूरोप की विकसित पूंजीवादी देशों की मदद से ही भारत का आर्थिक पुनर्निर्माण सम्भव था। इस कारण उस उत्पादन पद्धति के आधार व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रणाली और उन विकसित पूंजीवादी मूल्कों से भारत के आर्थिक विकास में मदद की आशा लगाए रहने वाला कांग्रेस का नेतृत्व न तो सम्पति के मौलिक अधिकार को अस्वीकृत करने वाला था और न साम्राज्यवाद के साथ भारत सारे सम्बन्धों को समाप्त करने की पक्षधरता वाला था। फिर भी, वैश्विक पैमाने पर हो रही समाजवादी उपलब्धियों को नकारना भी उसके लिए कठिन था उत्पादन, तकनीक आदि के क्षेत्रों में समाजवादी मुल्कों, खासकर सोवियत रूस की बड़ी उपलब्धियों का भूत उसे सता रहा था और भारतीय जनमत उसी रूस के पक्ष में खड़ा था। उन उपलब्धियों के आधार पर भारतीय आर्थिक-सामाजिक पुनर्संरचना के पक्ष में दी गई दलीलें और तर्कों का कोई सटीक काट उसके पास नहीं था। यही वह अवस्था थी- दो वैचारिकताओं के बीच का आपसी द्वन्द्व-जिसने संविधान में एक कम्प्रोमाइज फार्मूला के रूप में 'राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों' को समाविष्ट कराया। जिस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पूर्ण काल में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के स्वार्थों से प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस पार्टी साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष और समझौता की दोहरी नीति का अवलम्बन करती रही-जब राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के आर्थिक हितों का टकराव साम्राज्वाद के स्वार्थों के होता था तब पार्टी

जनान्दोलनों के द्वारा साम्राज्यवाद पर दबाव बनाती और जब साम्राज्यवाद भारतीय पूंजी को रियायतें देता तब उसके साथ समझौता का आन्दोलन बंद कर देती। ठीक इसी सिद्धान्त का अनुशरण कांग्रेस ने आजादी पश्चात भारत के आर्थिक पुनर्संरचना के क्रम में करती रही। इसमें राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों को -जिसके पीछे किसी तरह के न्यायिक प्रावधानों का बल नहीं रखा गया था- अपने वर्ग स्वार्थ की पूर्ति में एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की एक परम्परा को ही विकसित कर लिया। भारतीय आर्थिक व्यवस्था के पूंजीवादी निर्माण में आजादी के तुरन्त बाद जो कारक सबसे बड़े अवरोधक के रूप में सामने आए वे थे-भूस्वामित्व में विद्यमान ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू की गई जमींदारी प्रथा, जिसके खिलाफ भारतीय किसान आन्दोलित थे। सामंतवाद के खिलाफ भारतीय पूंजीवाद के लिए जरूरी था कि जमींदारी प्रथा में व्याप्त भू-सम्बन्धों का खात्मा किया जाय इस कारण सरकार ने जमींदारी प्रथा की समाप्ति तो कर दी मगर किसानों एवं खेतिहर मजदूरों की भूमि सुधार के लिए उठाई गई मांगों को कोई तबज्जो नहीं दिया। बाद के दशकों में जब भूमि सुधार आन्दोलनों की तीव्रता का एहसास सरकार को हुआ तब राज्यों में अलग-अलग ढ़ंग से भूमि सुधार कानूनों को सरकारों ने बनाया तो जरूर मगर चंद राज्यों-खासकर वाम शासित पश्चिम बंगाल और केरल के अलावा-शायद ही कोई राज्य हो जिसने भूमि सुधार कानूनों को सम्पूर्णता में लागू किया हो।

संदर्भः

1. जवाहरलाल नेहरू, *विदर इंडिया,* 1933.
2. जवाहरलाल नेहरू, *राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन* में अध्यक्षीय भाषण 1936.
3. रजनी पामदत्त, *आज का भारत*, मैकमिलन, 1985, पृ. 641.
4. *संविधान सभा बहस*, (सम्पति के मौलिक अधिकारों की सूची में रखे जाने पर हुई बहस को देखा जा सकता है।)

इतिहास

"जननायक के रूप में सिद्धू कान्हू"

अजय यशराज

शोध छात्र इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बी. यू., मुजफ्फरपुर

भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का इतिहास, इतिहासकारों ने 1857 में माना है। परन्तु इसके पूर्व की कुछ ऐसी महत्वपूर्ण घटना भी है। जिन्होंने स्वतंत्रता की लड़ाई का न बीजारोपण किया अपितु उसे अंकुरित कर उसकी सुहानी सुगन्ध को ऐसे विखेरा की बाद में पूरा राष्ट्र ''सर बाँधे कफनवा हो शहीदों की टोली निकली'' गाते हुए आगे बढ़ा। ऐसा ही एक अविस्मरणीय घटना 'संथाल विद्रोह'' की है। जिसके नायक सिद्ध-कान्हू, चाँद और भैरव नामक चार भाई थे।

इस प्रकार देखते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ संथालो को विद्रोह के लिए अग्रसर कर रही थी। ऐसे में सिद्ध कान्हू का धार्मिक सन्देश ने उनकी भावनाओं को और उदेलित कर दिया और वे लोग विद्रोह के लिए अग्रसर हो गए।[1]

संथाल परगना जिला बनने से पूर्व मूंगेर, भागलपुर और गिरिडीह जिले के अधिकांश भाग इसमें शामिल थे और यह पूरा क्षेत्र जंगल तरी या जंगल तराई कहा जाता था। इस क्षेत्र के प्रमुख निवासी पहाड़िया लोग थे। ''फुट डालो और राज करो'' के नीति के अन्तर्गत अंग्रेज ने साहेबगंज दुमका एवं गोड्डा के करीब साढ़े तीन हजार वर्ग कि.मी. के क्षेत्र का ''दमिन-ए-कोह'' के नाम से अलग कर दिया और पहाड़िया जनजाति के लिए आरक्षित कर दिया। ऐसी स्थितियों में अंग्रेजों ने 1791 ई० के आसपास संथाल आदिवासियों को वीरभूम, मानभूम, गिरिडिह आदि से लेकर साहेबगंज, गोड्डा आदि क्षेत्रों में बसाया था। इन्हीं बाहदुर संथालों में ''चुनू मुर्मू'' नामक आदिवासी गिरिडीह से आकर साहेबगंज के बरहटी के दक्षिण भगनाडीह ग्राम में बसा था चुनू मुर्मू के चार लड़के हुए सिद्धू, कान्हू, चाँद और भैरव। इन्होंने बचपन से ही पिता की गरीबी और जमींदारों तथा महाजनों के अत्याचार देखे थे। यही चारो भाई बड़े होकर अत्याचार से लड़ने के लिए आगे आये और ''संथाल आंदोलन'' (हूल) के सूत्रधार बने।[2]

30 जून 1855 ई० को करीब दस हजार संथाल भगनाडीह में एकत्र हुए। और सिद्धू और कान्हू ने यह घोषणा किया कि संथालो को अपने उत्पीड़कों के नियंत्रण से निकल जाना चाहिए। इसी समूह के सामने सिद्धू और कान्हू ने अपने आप को सुवाह या गवर्नर घोषित किया। यही से ''संथाल विद्रोह'' की शुरूआत होती है।[3] संथाल विद्रोह के अनेक कारण थें। संथालों ने स्वयं अपनी शिकायतों का उल्लेख करते हुए कहा था कि अंग्रेजी राज्य में झूठ का बोलबाला है। साहबों की अनभिगता महाजनों का शोषण, अबलो का भ्रष्टचार और पुलिस के दबाओं से लोग परेशान थे। कैप्टन शेरविल ने 1855 में लिखा था कि संथाल अनुशासित लोग है। अतः शासन को लगान वसूली के अलावे उनके कल्याण के लिए भी कुछ करना चाहिए परन्तु यह मात्र सुझाव ही बनकर रह गया। राजस्व

वसूली में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। नायब निर्दोष संस्थालों से लाभ के लिए मांग से अधिक लगान वसूलते थे। पुलिस में, कोट में, हर जगह कुछ अपवादों को छोड़कर घुसखोरी प्राप्त था। संथालों के आर्थिक गरीबी का व्यापारी और महाजन गलत फायदा उठाते थे। शादी-विवाह जैसे सामाजिक कार्य के लिए तथा वर्षा के मौसम में संथालों को कर्ज लेना पड़ता था जिससे वे आजीवन छुटकारा नहीं पाते थे। मुर्शियाबाद, वीरभूम, शहाबाद, छपरा से आकर महाजन संथालों को ऊँचे दर पर कर्ज देते थे।[4] संथाल लोग जंगल काटकर खेती के लायक बनाते थे, लेकिन इस जमीन पर उनका कब्जा रहेगा, इसकी कोई गारंटी नहीं होती थी। विदेशी या दिकू धीरे-धीरे उनकी जमीन हथियाते गये। डब्लू जी टेलर, सहायक आयुक्त, तीनपहाड़ ने उपायुक्त संथाल परगना को लिखा था कि संथाल लोग जमींदारों को नहीं पसंद करते हैं। क्योंकि वे संथालों के जमीन को गैर संथालों के साथ बंदोबस्त कर देते थे। यदि शोषितों का धैर्य थक जायेगा तब वह आग की ज्वाला में फुट पड़ेगा इसी का परिणाम 1855-56 का संथाल विद्रोह था जो करीब दो वर्षों तक चला। यह विद्रोह वीरभूम से भागलपुर तथा राणीगंज से मुर्शियाबाद तक फैल गया था। इस प्रकार संथालों का आंदोलन शीघ्र ही सार्वजनिक शांति व्यवस्था के लिए खतरा साबित हो गया चारो तरफ आतंक फैल गया विद्रोहो को कुचलने के लिए कंपनी का ध्यान खींचा गया। जो भी इसके बारे में सुना उस पर मानो बिजली गिरी, कि बंगाल के मध्य में राज विद्रोह फुट पड़ा है और एक जाति के लोग इलाके में चारो तरफ इस प्रकार हाथों में हथियार लिए हत्याएं करते हुए अनियंत्रित घुम फिर रहे हैं, जैसा कभी सुना नहीं गया और कभी किसी ने सोचा तो नहीं ही था।[5] 1855 के कलकत्ता रिव्यू में एक लेखक ने टिप्पणी की ''ऐसा विचित्र घटना ने आदमी की आंगल भारतीय यादाश्त में बंगाल के निचले प्रांतों की संवृद्धि को धुँधला नहीं किया।

संथालों का पहला आक्रमण ऐसे लोगों के खिलाफ हुआ जिन्होंने उनको धोखा देकर धन वैभव एकत्र किया था। इसलिए पाकुड़ा के लिटिपाडा और बरहेट के कुसुमा के महाजनों का धन लुटा गया। महाजनों की शिकायत पर थाना के दरोगा महेश लाल दत्त ने संथाल नेताओं को गिरफ्तार किया और उन्हें सजा दिलायी, परन्तु महाजनों के विरूद्ध कोई कारवायी नहीं की। इन अत्याचारों से परेशान संथाल वीरभूम पाकुड़ा, छोटानागपुर के हजारीबाग जैसे दूर-सुदूर से छः सात हजार की संख्या में एकत्र हुए। स्थिति इतनी भयावह थी कि आग लगाने के लिए एक चिनगारी ही काफी थी। यह चिनगारी चारो संथाल भाईयों सिद्धू, कान्हू, चाँद और भैरव ने दी।[6]

7 जुलाई 1855 ई. को संथाल विद्रोही भोगनाडीह के पड़ोस में पंचकोठिया बाजार के तरफ बढ़े ताकि अपना अभियान शुरू करने से पहले वहाँ के स्थानीय देवी से दर्शन कर लिया जाए। पंचकोठिया बाजार पर संथालों के जमावड़ा की जानकारी डिग्धी थाना के तत्काल दरोगा महेशलाल दत्त को मिला। उन्होंने अपने दल-बल के साथ पचकोठिया पहुँचे और चारों भाईयों सिद्धू, कान्हू, चाँद और भैरव को गिरफ्तारी का आदेश दिया। इस पर तीर-धनुष, कुल्हाड़ी आदि लेकर संथाल टूट पड़े और दरोगा का सर काट दिया।[7] इस प्रकार संथालों ने महेश लाल दत्त द्वारा लिया गया अविवेकपूर्ण कदमों का सख्त तरीका से बदला लिया। इसके बाद गोड्डा सबडिविजन के करहरिया थाना के दरोगा सुझावल प्रताप नारायण जोनार चक पर मार डाला।[8] और शीघ्र ही विद्रोहियों के बारहेट बाजार को लूट लिया जो उस समय कई संपन्न महाजनों से भरा हुआ था और फिर वहाँ से वे धनुष, जहर बुझे तीरों, कुल्हाड़ियों और तलवारों को हाथ में लिए विभिन्न दिशा मे चल पड़े। 8 जुलाई को इस घटना की खबर भागलपुर के कमिश्नर सी.एफ.ब्राउन को मिली। उन्होंने भागलपुर के डाकव्यवस्था की

सुरक्षा प्रबंध किया तथा पहाड़ के सरदार तथा जमींदारों को मदद के लिए अनुरोध किया। भागलपुर से मेजर एफ.डब्लू. बरौल के नेतृत्व में हिल टेजर्स की एक टुकड़ी भेजी गयी परन्तु उसे हार खाकर पीछे हटना पड़ा। यह लड़ाई पीरपैत में हुई थी। इस प्रकार संथालों का राज्य पश्चिम में कहलगाँव से पूरब में राजमहल तक तथा उत्तर में रानीगंज से दक्षिण में सैन्धियाँ तक हो गया।[9]

वरहानपुर के दण्डाधिकारी मि. होगड के नेतृत्व में 7वीं नेटिव इन्फैक्ट्री की 400 जवानों की टुकड़ी 11 जुलाई 1855 को भेजी गयी। उन्होंने संथालों को वीरभूम के पलसा की ओर हटने को मजबूर कर दिया। 15 जुलाई 1855 को संथालिये ने महेशपुर में 7वीं नेटिव इन्फैट्री पर धावा बोला गोलीवारी में 200 संथाल मारे गये 3000 गिरफ्तार हुए। सिद्धू, कन्हू और भैरव तीनों भाईयों को गोली लगी। वे घायल हो गए। दूसरी लड़ाई पाकुडा के निकट हुई जिसमें 7वीं नेटिव इन्फैटीं रेजिमेंट के जवानों ने 5000 विद्रोहियों पर बंदुकों से फायर किया और सैकड़ों को घायल कर दिया। कितने मारे गये पता नहीं। यहाँ पर संथालियों की करारी हार हुई। तीर और कुल्हाड़ी बंदुक के सामने कैसे टिक सकती थी। 24 जुलाई 1855 को मुर्शियाबाद के दण्डाधिकारी की टुकड़ी ने बरहरवा-बरोट सड़क पर रघुनाथपुर में संथालियों पर आक्रमण किया। सिद्धू, कान्हू के गाँव भगनाडीह को जला दिया गया। और बारहेट पर कब्जा कर लिया गया। फरवरी 1856 में सिद्धू को उसी के कुछ अनुयायियों ने धोखा देकर पकड़वा दिया और 25 फरवरी 1856 को उसे फाँसी दे दिया गया।[10]

इस घटना से संथाल भयभीत नहीं हुए बल्कि वे अपने विद्रोहों को बढ़ाते गये। वीरभूम के दक्षिण पूर्व तलडागो से ग्रैंड टैंक रोड भागलपुर के दक्षिण पूर्व सौधिया से राजमहल विद्रोहो की चिनगारी सर्वत्र दिखाई देने लगी। संथालों को दामोदर नदी की ओर बढ़ते प्रवाह को रोकने के लिए और फौज भेजी गयी। इतनी अधिक फौज के बाद भी जब विद्रोह पर अंकुश नहीं पाया गया, तब जुलाई के अंत में जनरल लौथर्ड के नेतृत्व में फौज भेजी गयी। कर्नल वर्ड को बांकुड़ा और वीरभूम जिले में तैनात फौज का विशेष कमांड दिया गया। संथाल विद्रोही जंगलों में घुस गये, यहाँ से उन्हें बरसात के दिनों में निकालना टेढ़ी खीर थी।

बंगाल सरकार और भागलपुर के कमिश्नर ब्राउन के बीच संबंध कटुतापूर्ण होने लगा। बंगाल सरकार ने आरोप लगाया कि मुर्शियाबाद में सैनिक कारवाईयाँ जितनी असरदार ढ़ंग से चलायी गयी है, उस तरह भागलपुर के इलाके में चलाने में कामयाब नहीं रहे। विद्रोही नेताओं के गिरफ्तारी के लिए बड़े-बड़े इनामों की पेशकश करने की योजना को भी बंगाल सरकार ने अनुमोदन नहीं किया था लेकिन ब्राउन अपनी कार्य पद्धति को इस प्रकार उएचित ठहराया ''उतने बड़े इनाम तय करने के पीछे मेरा विचार यह था कि न केवल उनका जुर्म काफी बड़ा है और विद्रोहो से जान माल का भयानक नुकसान हुआ था, बल्कि सरकार को राजस्व की बड़ी हानि हो रही थी। मैंने हिसाब लगाया कि जितने बड़े इनाम की घोषणा की थी उससे दुगुनी बड़ी राशियाँ भी इनाम में देकर अगर हम विद्रोह को कुचलने में हो रहे नुकसान के तुलना में यह बहुत कम पड़ता।[11]

ब्राउन के कार्यवाहियों से नाराज सरकार ने ए.सी. विडवेल को विद्रोहों को दबाने के लिए विशेष आयुक्त नियुक्त किया गया। विशेष आयुक्त के बात को मानने से विद्रोही इनकार कर दिये और सितम्बर में पुनः विद्रोह भड़क उठा। देवघर से लेकर संथाल परगना के दक्षिण पश्चिम तक का क्षेत्र विद्रोहियों के कब्जे में आ गया। विद्रोहियों के बढ़ते प्रभाव को रोकने में विफल सरकार ने 10 नवम्बर 1855 को मार्शल लॉ लागू कर दिया। यह कानून भागलपुर, मुर्शियाबाद और वीरभूम के प्रभावित

जिलों में लागू किया गया। मिलिटरी की बटालियन तैनात कर दिया गया। मार्शल लॉ लागू हो जाने से सिपाही को संथाल विद्रोहियों के विरूद्ध शक्तिपूर्वक दण्ड देने को बल मिला। अब उनको वर्षा काल की प्रचुड़ता से कोई परेशानी नहीं थी और जाड़े का मौसम सक्रिय सैनिकों के कार्यवाही के लिए उपयुक्त था। बहुत सारे चौकिया कायम की गई जिसमें करीब बारह से चौदह हजार सैनिक तैनात थे। संथालों को निकलना मुश्किल हो गया। हजारों की संख्या में संथाल बीमारी और भूखमरी के शिकार होने लगे। कई नेता गिरफ्तार हुए। बहुत से संस्थान जंगल की ओर पलायन करने लगे। चाँद और भैरव भागलपुर के निकट एक भयंकर युद्ध में मारे गये। कान्हू को गिरफ्तार कर लिया गया। कान्हू तथा उनके अनुयायियों के गिरफ्तारी से विद्रोहों का संचालन नहीं हो पाया। अत: 3 जनवरी 1856 को मार्शल लॉ उठा लिया गया।[12]

मार्शल लॉ के स्थगन 3 जनवरी 1856 को कर दिया गया। लेकिन मार्शल लॉ के स्थगन के बाद कुछ इलाकों में छिटपुट घटनाये हुई और पुन: शांति स्थापित हो गया।

अंत में हम कह सकते हैं कि सिद्धू-कान्हू के द्वारा संचालित इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि सरकार ने संथाल बहुल क्षेत्र को काटकर संथाल परगना जिला बनाया गया। संथाल परगना टिनेन्सी अधिनियम बनाया गया। पुलिस रूल्स 1856 के अन्तर्गत ग्राम प्रधान को मान्यता मिली और ग्रामीण अधिकारियों को पुलिस का अधिकार दिया गया। सिद्धू कान्हू शहीद होकर संथालों के जननायक बन गये। अपने पीछे वे संथालों के मार्ग निर्देशन के लिए एक अच्छी विरासत छोड़ गये। उन्होंने अपनी बिरादरी और भारतवासियों को यह ज्ञान दे दिया कि अत्याचार का विरोध करना पुनित कर्म है और युक्ति के लिए संग्राम कर जीवन का अर्पण करना शाश्वत कर्त्तव्य है।

संदर्भ ग्रंथ:

1) कलकत्ता रिव्यू, 1856
2) उपरिवत्, करो रिकार्ड, पंचकठिया रिकार्ड
3) उपरोक्त।
4) भागलपुर के कमिश्नर का एक पत्र बंगाल सरकार के सचिव के नाम 10 जुलाई 1855, परा 2
5) कलकत्ता रिव्यू 1855
6) उपरोक्त
7) भागलपुर कमिश्नर का एक पत्र बंगाल सरकार के सचिव के नाम 10 जुलाई 1855, पारा -2
8) पाकुड़ा रिकार्ड, जूनियर सेक्रेटरी का पत्र बंगाल सरकार और भागलपुर के कमिश्नर, दिनांक 11 मार्च 1856।
9) वही
10) भागलपुर कमिश्नर के रिकार्ड ऑफिस से प्राप्त सामाग्री
11) भागलपुर कमिश्नर का पत्र बंगाल सरकार के सचिव के नाम 31 जुलाई 1855।
12) कलकत्ता रिव्यू- 1856।

इतिहास

स्वतंत्रता आंदोलन में पहाड़िया जनजातियों की भूमिका

रंजन कुमार

शोध छात्र, बी.आर.ए. बी. यू., इतिहास विभाग, मुजफ्फरपुर

यह विद्रोह बंगाल के तत्कालीन वीरभूम-बांकुड़ा जिले में 1788-90 ई. में हुआ। पहाड़िया संथाल परगना प्रमंडल के प्राचीन जनजाति हैं। पहाड़िया के तीन प्रमुख उपजातियाँ है। माल पहाड़िया, कुमार भाग पहाड़िया तथा सौरिया पहाड़िया। ब्रिटिश शासकों ने इन्हें जंगली चोर और खूनी बताया है जो पहाड़ियों से समतल भूमि में आकर लूट-पाट करते थे। लेकिन उनके बारे में प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि वे आदिवासी किसान थे, जिनकी जमीन छिनकर अंग्रेजों ने जमींदारों को सौंप दिया था। इसलिए उनके आक्रमण के शिकार अंग्रेजों की कोठियाँ, जमींदारों की कचहरियाँ और उनके खैरखाह लोग थे। उन्होंने जिन अस्त्रों का इस्तेमाल किया, वे सिर्फ तीर, धनुष और भाले ही न थे, उनमें देशी बन्दूकें और तलवारें भी थी। उनका संग्राम अंग्रेज शासकों और जमींदारों की लूट खसोट के खिलाफ तथा अपनी जमीन के लिए थी।[1]

अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पहाड़ियों को हमेशा विदेशी ताकतों से संघर्ष करना पड़ा। इससे पहाड़ियों का जीवन बराबर संघर्षमय रहा। राजपूत काल, मुस्लिम काल, मुगल काल और ब्रिटिश काल में भी पहाड़ियां विदेशी ताकतों से संघर्ष करते रहे।[2] महेशपुर, पाकुड़ा सरकारा, हण्डवा आदि जगहों से पहाड़ियों की सरदारी और जमींदारी एक के बाद एक लुप्त होती चली गयी। अकबर के समय पहाड़िया के अनेक जमींदारी पर खेतौरी सरदारों का अधिकार हो गया। सरदारी और जमींदारी के पहल के बावजूद, पहाड़ियों ने अंग्रेजों का भी जमकर विरोध किया। फलस्वरूप 790-1810 के बीच अंग्रेजों और पहाड़ियों के बीच संघर्ष प्रारंभ हुआ। इसी समय पहाड़िया के जमीन पर अंग्रेजों ने बहुसंख्यक संथालों को प्रवेश कराकर उसे अल्पसंख्यक बना दिया। फिर भी पहाड़िया अंग्रेजों से लड़ते रहे। अंग्रेजों ने इन्हें वश में रखने के लिए पहाड़ियाँ के भूमि को 1833 ई. में दमीन-ए-कोह नाम देकर वीरभूम और बांकुड़ा में दो अलग-अलग कलक्टर नियुक्त कर उसको अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा। परन्तु अंग्रेज अपने लक्ष्य के प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका, क्योंकि पहाड़ियों ने उनके विरूद्ध अपना संघर्ष जारी रखा और अपनी मातृभूमि के रक्षा के लिए,[3] 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष प्रारंभ किया। अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ने वाले सरदार रमना अहदी, करियापुजर, डोम्बा पहाड़िया आदि विद्रोहियों ने अपने तीरों और भालों से मुगल और अंग्रेज सेना के छक्के छुडा दिये लेकिन अंग्रेजी सेना के साथ इस संघर्ष में उनके एक नेता रमना आहदी की हत्या कर दी गई। इस हत्या के बदले में डोम्बा पहाड़िया और उनके अनेक साथी ने उधवानाला में

शिविररत मुगलों और अंग्रेजों की सेना पर अचानक हमला बोल कर अंग्रेज और मुगल सेना को पहाड़ियों ने गाजर-मूली की तरह काट डाला। इस युद्ध में पहाड़िया सरदार करिया पुजर शहीद हो गये और दो पहाड़िया सरकार पायगे और डोम्बा बुरी तरह घायल हो गया फिर भी अंग्रेज सेना पहाड़िया का सामना नहीं कर सका। फलस्वरूप अंग्रेज ने पहाड़िया सेना से मुकाबला करने के लिए इस क्षेत्र में संथालों को बसाना शुरू किया। संथालों के मदद से अंग्रेज ने पहाड़िया को हमेशा के लिए नेस्ताभूत कर दिया। इसके बाद भी पहाड़ियों ने अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह जारी रखा। साहेबगंज जिला में बोरिया अंचल में करमटोला रेलवे स्टेशन के निकट पश्चिम में स्थल तेलियागढ़ी में पहाड़ियों द्वारा अंग्रेजों की हत्या आम बात हो गई।[4]

19वीं शताब्दी में संथाल विद्रोह 1855-56 के पूर्व धरनी पहाड़ी के रहने वाले सरदार सुन्दरा पहाड़िया ने पहाड़िया को संगठित किया। यह पहाड़िया की राजनीतिक सूझबूझ का परिणाम था। सौरिया और कुमारभाग के तुलना में संथाल विद्रोह में मालपहाड़िया ने विस्तृत भूमिका निभायी। कांग्रेस के स्थापना के बाद गंवई गोघरा पहाड़िया के नेतृत्व में पहाड़ियों ने अखिल भारतीय 'राष्ट्रीय कांग्रेस' में योगदान किया। महान गोपाल कृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक के आह्वान पर राष्ट्रीय आंदोलन में पहाड़ियों ने स्वयं को समर्पित कर दिया। 1919-20 के बाद पहाड़ियों ने महात्मा गांधी और सुभाषचन्द्र बोस के साथ स्वतंत्रता संघर्ष में प्रमुख निभाई।[5]

असहयोग आंदोलन में ग्राम ठढ़वास बंगला तालझारी के मेगा पहाड़िया के पुत्र जबरा पहाड़िया ने हिस्सा लिया।[6] राजमहल के प्रेमनाथ और प्रफुल्ल नाथ डे की गिरफ्तारी के बाद जबरा पहाड़िया ने गाँधी टोपी पहनकर हाथ में तिरंगा झंडा लेकर महात्मा गाँधी की जय, भारत माता की जय घोष का निनाद किया था। पुलिस ने जबड़ा को गिरफ्तार कर लिया। उसे एक महीना सश्रम कारावास की सजा दी गई तथा उनके घर की कुर्की की गयी।[7] 1928 ई. में साहेबगंज के कार्यकर्त्ताओं ने आदिवासी और हरिजनों के क्षेत्र में कार्य करने के लिए सर्वसम्मति से श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र को चुना। सुन्दर सिंह पहाड़िया ने कहा कि अगर मिश्र की तरह मेरे साथ भी लोग चले तो पहाड़िया और संथालों में सगठन का कार्य अच्छी तरह हो सकता है। कार्य समिति के आदेशानुसार श्री मिश्र सर्वप्रथम कोडेपरा पहाड़ गये सुन्दरसिंह पहाड़िया ने वहां एक सभा का आयोजन किया था। श्री मिश्र के भाषण के पश्चात् सुन्दर सिंह पहाड़िया ने इनके भाषण के अभिप्राय को अपनी भाषा में अनुवाद कराते हुए लोगों से आग्रह किया कि ऐसी स्थिति में देश तथा हम आदिवासियों के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं हो सकता उत्साही कार्यकर्त्ताओं में कार्तिक सिंह पहाड़िया, सियारी सूर्य सिंह पहाड़िया आदि मुख्य थे। इन कार्यकर्त्ताओं के साथ श्री मिश्र आदिवासी क्षेत्र में काम करने लगे।[8]

अथक परीश्रम और लगन के बाद मिश्र जी ने संथालों और आदिवासी पहाड़ियों के बीच एक अच्छा खासा संगठन खड़ा कर लिये। वे रतु मराण्डी, रघुबना, कार्तिक सिंह पहाड़िया सुन्दर सिंह पहाड़िया आदि को लेकर संगठनिक कार्य तेजी से करने लगे। कोडेपरा पहाड़ पर उन्होंने एक आश्रम बनवाया। हर पूर्णमासी को हजारो संथाल और पहाड़ियों की टोली के साथ मिश्र जी आते और ''रघुपति राघव राजा राम'' का जप करते सारे शहर में घुमते। चमरू पहाड़िया, राधा पहाड़िया, राम

पहाड़िया, देशा पहाड़िया आदि पहाड़ियों ने श्री मिश्र की मदद की। इनके मदद से श्री मिश्र करम पहाड़, डले पहाड़, नीरा पहाड़, काडे परा आदि क्षेत्रों में जाते थे। संगठनों और प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप पहाड़ियों में राजनीतिक जागरण हुआ।[9] नमक सत्याग्रह आंदोलन में पण्डरा और सुन्दर पहाड़िया के नेतृत्व में पहाड़िया ने योगदान दिया था।[10] 1940 में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आह्वान किया। 11 अगस्त 1940 को आचार्य विनोबाभावे द्वारा पौनार में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ हो गया। बिहार में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ करने के साथ भारत के कोने-कोने में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ हो गया। बिहार में व्यक्तिगत सत्याग्रह करने वाला श्री कृष्णासिंह बिहार के पहले सत्याग्रही थे। संथाल परगना क्षेत्र में उल्फत हुसैन, भगवानदत्त, अयोध्या प्रसाद मिश्र, श्री कृष्ण प्रसाद, हरि प्रसाद जायसवाल आदि ने भी व्यक्तिगत सत्याग्रह में हिस्सा लिया था।[11] श्री प्रफुल्ल चन्द पटनायक, श्री कृष्णा प्रसाद साह और के० गोपालन के नेतृत्व में पहाड़ियों ने सन् 1942 की क्रांति ''भारत छोड़ो आन्दोलन'' में बहुत बड़ा योगदान किया।[12]

श्री पटनायक ने अपने साथियों के साथ पहाड़ियों को राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के लिए संगठित किया और उनके ग्यारह जत्थे बनाये और इन जत्थों को पाँच टुकड़ियों में रखा। इनके नेतृत्व और निर्देशन में डमरू, सरौनी, सुसना, चाँदना सिंलींगी और रक्सी में शराब के भट्ठियों और बंगलों आदि को जला दिया।[13] इन्होंने पुलिस और परगनैतों के साथ सशस्त्र संघर्ष किया। श्री कृष्ण पटनायक द्वारा दिये गये विवरणों के अनुसार 6 नवम्बर 1742 में रक्सी बंगाल में आग लगाने के बाद पुलिस और परगनैत दल के साथ हुए संघर्ष में बबुआ सिंह पहाड़िया और भैसा सिंह पहाड़िया ने अदम्य साहस का परिचय दिय और जब तक घायल होकर गिर नहीं गये तब तक पुलिस से लड़ते रहे। बबुआ सिंह पहाड़िया का जबरा कट कर लटक गया, भैसा सिंह पहाड़िया का पैर टूट गया। परगनैत और पुलिस द्वारा ये सभी लोग गिरफ्तार कर लिये गये।[14] स्व. मोतीलाल केजरीवाल ने अपनी पुस्तक ''42 की क्रांति में संथाल परगना'' में पहाड़िया स्वतंत्रता सेनानियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि - अमड़ापाड़ा के निकट आलुवेडा बंगला के अन्दर विष्णुपुर गाँव के निवासी श्याम टुडू के साथ श्री गन्देमाल पहाड़िया, बाबु लाल मडैया, और कार्तिक गृह को अलूबेडा बंगला जलाने के अपराध में 15 मार्च 1943 के दिन तीन वर्ष की केन्द्र और पचास रूपये की जुर्मना की सजा हुई थी। श्री केजरीवाल ने गंगा सिंह पहाड़िया कार्तिक गृही, बडधरमा पहाड़िया, छोटा धरमा पहाड़िया, बादलमाल पहाड़िया, डोमनलाल पहाड़िया आदि पहाड़िया स्वतंत्रता सेनानियों का संक्षिप्त विवरण दिया है।[15]

इनके अलावे कुछ पहाड़िया स्वतंत्रता सेनानी और भी है जो इतिहास के गर्भ में छीपे हैं, उनकी उपलब्धियों की जानकारी किसी को नहीं है। वस्तुतः स्वतंत्रता आंदोलन में पहाड़ी समुदाय का योगदान महत्वपूर्ण था लेकिन स्वतंत्रता के 45 वर्षों के बाद भी स्वतंत्रता आंदोलन में पहाड़िया समुदायों का समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। जरूरत इस बात की है कि स्वतंत्रता आंदोलन में इनके योगदान का समुचित मूल्यांकन किया जाय और इसके संबंध में कुछ विद्यालय और महाविद्यालय स्तर पर ही नहीं बल्कि प्राथमिक एवं मध्य विद्यालयों स्तर की इतिहास के पुस्तकों में जोड़ा जाए ताकि दूसरे वर्ग के लोग भी इससे प्रेरणा ले सके।

संदर्भ ग्रंथः

1) पहाड़िया लेखक शिवालालमाझी से व्यक्तिगत साक्षात्कार डा० दिनेश नारायण वर्मा द्वारा।
2) संथाल परगना की मूल आदिम जनजाति की व्यथा-कथा शुद्देव पृ० 53-55
3) यह हैं अपना संथाल परगना - शिवलाल माझी पृष्ठ 3-7
4) वही पृ० 3-7
5) ट्राईबल सोसाईटी इन इंडिया- के०एल० सिंह पृ० 131
6) स्वतंत्रता सेनानी रामावतार जयसवाल की अप्रकाशित डायरी।
7) स्वतंत्रा सेनानी इन्दु की डायरी।
8) स्वतंत्र सेनानी श्री मिश्र की डायरी से।
9) वही
10) फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार के०के०दत्ता, पृ० 133-134।
11) गोपनीय पत्र बिहार राज्य अभिलेखागार ।
12) शिवालाल माझी अप्रकाशित पुस्तक
13) गोपनीय पत्र बिहार राज्य अभिलेखागार 24 अगस्त 1942।
14) मोतीलाल केजरीवाल - 42 की क्रांति में संथाल परगना पृ० 21-71।
15) वही, पृ० 323-362।

इतिहास

वैदिककालीन समाज में वर्ण व्यवस्था

डॉ॰ पवन कुमार

बिसनपुर, कटरा (मुजफ्फरपुर)

वैदिक साहित्य प्राचीन भारतीय समाज के सामाजिक जीवन को जानने का महत्वपूर्ण आधार है। भारतीय समाज की विभिन्न व्यवस्थाएं चाहे सामाजिक हो या आर्थिक, राजनीति हो या सांस्कृतिक हो, इन सभी का आधार प्राचीन वैदिक कालीन समाज रहा है। सामाजिक संरचना का मूल आधार स्तंभ वर्ण व्यवस्था है। कालान्तर में यही वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। भारतीय सामाजिक जीवन में जाति-व्यवस्था जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता था, अत्यन्त प्रारम्भिक काल से एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में विद्यमान रही है। ऋग्वेद काल में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है। उस समाजरूपी पुरुष के चार अंग हैं– मुख ब्राह्मण, मस्तक, भुजाऐं क्षत्रिय, जंघाऐं वैश्य एवं पाद को शूद्र के रूप में कल्पित किया गया।[1] सर्वप्रथम ऋग्वेद का अध्ययन से उस समय के सामाजिक वर्ण व्यवस्था की उत्पति पर महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में 'आर्य' और 'अनार्य' शब्द जन समुदाय के लिए उपयोग किये गये हैं। पश्चिमोत्तर भारत में (सप्त सिंधु प्रदेश) में अधिकार स्थापित कर बसने के लिए उन्हें भारत के मूल निवासियों से संघर्ष करना पड़ा जिन्हें 'दस्यु'[2] 'दास'[3] आदि नामों से सम्बोधित किया गया।

दस्यु या दास के सम्बोधन का कारण ऐसा विदित होता है कि आर्यों ने जब यहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर दिया, तब बहुत से मूल निवासी तो इस क्षेत्र से भाग कर भारत के दूसरे क्षेत्रों में बस गये और कुछ यहीं रह गये जिन्हें दस्यु या 'दास' के रूप में मान लिया गया। ये लोग यज्ञादि कर्म तथा आर्यों के देवताओं में विश्वास नहीं रखते थे। ऋग्वेद में इन्हें अकर्म, अमन्तु, अन्यव्रत, अमुख आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया हैं तथा ऋग्वेद[4] में इन्द्र से इन दासों के नाश के लिए प्रार्थना की गई है। कीथ एवं मैक्डोनल ने वैदिक इन्डैक्स में लिखा है कि इन्द्र ने दस्युहत्या की। ऋग्वेद में दस्यु को अमानुष, अन्यव्रत अयज्वान, अदेवयु आदि नामों संबोधित किया है।[5] तथा इन्द्र से उसके नाश की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद का एक मंत्र उल्लेखनीय है, जिसमें, क्रमशः ब्रह्न, क्षत और विश् की श्री वृद्धि के लिए तथा उन्हें बुद्धि, बाहुबल एवं पशुधन प्रदान करने के लिए अश्विनों से प्रार्थना की गई है।[6] यह अधिक संभव लगता है कि प्रारम्भ में 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' केवल दो ही वर्ग थे और आर्यों में जनसामान्य को विश् कहा जाता था। कालान्तर में विश् के अन्तर्गत कृषि कर्म, पशुपालन, वाणिज्य कर्म में लगे हुए लोगों को वैश्य तथा पराभूत अनार्यों को, आर्थिक विपन्नता तथा अन्य कारणों से सेवा कर्म आदि में लगे लोगों को शूद्र संज्ञा प्राप्त हुई।

वस्तुतः पुरुष सूक्त के मंत्र में समाज को एक कायिक इकाई के रूप में परिकल्पित किया है। प्रकृति के समान समाज को भी दैवी पुरुष से उद्भूत माना गया है। समाज के विविध वर्ग उसके

विविध अंगों के समरूप हैं। इसमें यह उपलक्षित है कि समाज व्यक्ति के समान है तथा इसके निर्मायक वर्ग अलग-अलग कार्य व्यापारों में प्रवृत्त विविध अंगों के समान हैं।

यह सहज ही प्लेटो की उस अवधारणा की याद दिलाता है, जिसमें समाज को व्यक्ति के रूप में परिकल्पित किया गया है जिसका ईकाईपन परस्पर सम्बद्ध कार्यात्मक वैविधयों में अन्तर्निहित है। मुख के समान ब्राह्मण प्रार्थना एवं शिक्षण से सम्बद्ध है तथा उसकी शक्ति शब्द अथवा 'ब्रह्मन् में निहित है। व्यक्ति की भुजाओं के समान क्षत्रिय राज्य एवं जनसामान्य की रक्षा करता है जबकि जांघों अथवा शरीर के निचले भाग के अनुरूप वैश्य सम्पूर्ण राष्ट्र को अपनी अर्थशक्ति से वहन करता है। समाज की आर्थिक समस्याओं का समाधान 'विशु' पर था। समाज की सेवा में प्रवृत्त लोगों को शूद्र अभिधान प्राप्त हुआ है।[7]

ऋग्वेद काल में वर्ण-व्यवस्था वंशानुगत नहीं थी, अपितु वृत्तिपरक थी, जिन्हें अपनी इच्छा और क्षमता के अनुसार कोई भी आर्य अपना सकता था। यदि इस काल में इन वर्गों ने परवर्ती काल की जातियों का स्वरूप ग्रहण कर लिया होता तो ऋग्वेद में इनका उल्लेख केवल एक बार नहीं हुआ होता। ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग संपूर्ण आर्य जनसमुदाय के लिए हुआ है। जिसके विरोध में 'दास वर्ण' अथवा दस्युवर्ण' की चर्चा की गई है। आर्य समुदाय के विभिन्न वर्गों के लिए शब्दों के प्रयोग में दृश्यमान लचीलापन भी उनके निरुद्ध न होने की ओर संकेत करता है।' राजन्य 'वैश्य' तथा शूद्र शब्द केवल पुरुष सूक्त में उल्लिखित हुये हैं। ऋग्वेद में क्षत्रिय शब्द का प्रयोग जाति के अर्थ में न होकर केवल शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के अर्थ में हुआ है।' ब्राह्मण, शब्द का प्रयोग भी सामान्यत: प्रतिभावान् अथवा गुणवान् के अर्थ में हुआ है, केवल कुछ दृष्टान्तों में ही यह व्यवसाय कर्म से 'पुरोहित' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे व्यक्ति के लिए केवल 'ब्रह्म' अथवा 'ब्राह्मण' शब्दों का ही प्रयोग नहीं हुआ है। 'कारूं' 'विप्र' 'कवि' वेधस् आदि अन्य शब्द हैं जिनका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया गया है। कई दृष्टान्तों में 'विश' शब्द का प्रयोग कृषक अथवा व्यापारी वर्ग के अर्थ में न होकर सम्पूर्ण आर्य जनसमुदाय के लिए किया गया है।[8] ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पन्द्रहवें सूक्त में स्तुति करने वाला ऋषि स्वयं को वरुण का 'विश्' अर्थात सामान्य जन कहलाता है।

ऋग्वैदिकाल में विविध व्यवसाय वंशानुगत नहीं हुए थे। एक ही परिवार में भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न व्यवसायों को अपनाये जाने के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। एक मंत्र में एक ऋषि कहते हैं। 'मैं मंत्र का रचयिता हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं, मेरी माता चक्की पीसने वाली है'।[9] एक ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है वह उसे एक धनवान व्यक्ति बनाये।[10] एक अन्य मंत्र में भी ब्राह्मण, द्वारा चिकित्सा कर्म अपनाने का उल्लेख है।[11] ब्राह्मण, ऋषि भृगु, के वंशजों में से कुछ का रथ बनाने में दक्ष शिल्पियों के रूप में उल्लेख किया गया है।[12] इसी प्रकार ऋभुगण दक्ष शिल्पी थे किन्तु उन्हें दैवी सम्मान प्रदान किया गया है।[13] वंशानुगतिक जाति व्यवस्था में इस प्रकार के दृष्टान्तों की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज के विभिन्न वर्गों में परस्पर ऊंच-नीच की भावना का सर्वथा अभाव था और न ही पारस्परिक खान-पान पर कोई बंधन था। एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्गों में विवाह कर सकता था।[14] ऋग्वैदिक काल में अंगिरस कुल प्रसिद्ध ऋषि-कुल था, असंग नामक राजा का विवाह इस कुल की एक कन्या के साथ हुआ था।[15] कक्षीवान् नामक ऋषि ने राजा रचनय की कन्याओं से विवाह किया था।[16] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण,

में प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पर्याप्त विकसित एवं जटिल हो चली थी तथा इसमें परवर्ती जाति व्यवस्था के विभिन्न लक्षणों का संनिवेश हो गया था। शतपथ ब्राह्मण, में विभिन्न वर्णों के लोगों को बुलाने के लिए अलग-अलग संबोधनों की व्यवस्था की गई है।[17] यही नहीं मृत्युपरान्त उनके लिए अलग-अलग आकार की चिन्ताओं की व्यवस्था की गई है।[18] इसी ब्राह्मण, में यह कहा गया है कि गायत्री मंत्र के पाठ का प्रारम्भ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अलग-अलग प्रकार से करें।[19] यज्ञ के अवसर पर अलग-अलग वृक्षों की लकड़ी का प्रयोग भी बताया गया है।[20] शूद्रों को इन धार्मिक कृत्यों से बहिष्कृत ही रखा गया है। अपनी दक्षिण पूर्वाभिमुख विस्तरण की प्रक्रिया में आर्यजन कई आर्येत्तर जन जातियों के संपर्क में आये। यहाँ के मूल निवासियों के साथ संबंध ने उनकी सामाजिक व्यवस्था को नया आयाम दिया। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को स्पष्टरूपेण वैश्यों से श्रेष्ठ माना गया है।

वाजसनेयी संहिता में ब्राह्मणों को राजा से श्रेष्ठ माना गया है।[21] शतपथ ब्राह्मण, के अनुसार राजा का निर्भरशील होने पर भी ब्राह्मण, राजा से श्रेष्ठ है।[22] राजा की शक्ति का आधार ब्राह्मण, है।[23] किन्तु दूसरी ओर काठक संहिता में ब्राह्मण, के ऊपर क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।[24] और ऐतरेय ब्राह्मण, में भी एक जगह ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचा कहा गया है।[25]

फिर भी सामाजिक श्रेष्ठता के लिए दोनों वर्णों में संघर्ष का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है। ब्राह्मण, और क्षत्रिय की तुलना में वैश्य वर्ण की हीनता की चर्चा कई ग्रंथों में मिलती है।[26] मुख्य रूप से यह वर्ण कृषि कार्य एवं पशुपालन में प्रवृत्त था। साथ ही साथ वाणिज्य कर्म एवं विविध उद्योग शिल्पों का भी अनुसरण करते थे। वैश्य वर्ण को ऐसे कई सामाजिक व धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त थे जो शूद्र वर्ण को अनुपलब्ध थे। वैश्य वेदाध्ययन कर सकता था, वह न केवल यज्ञों में भाग लेता था अपितु उसे यज्ञ करने का अधिकार था।[27] ब्राह्मण, और क्षत्रिय के समान उपनयनकर्म भी वैश्यों का होता था जो इनके वैदिक शिक्षा का अधिकारी होने का परिचायक है। वैसे यह बात और है कि वैश्य वर्ण अपना श्रम और समय वैदिक शिक्षा में प्रवीण होने की चेष्टा में न लगाकर अपनी व्यावसायिक शिक्षा तथा उसके बल पर धनोपार्जन में लगाता था। शूद्र वर्ण में मूलत: आर्येत्तर तत्व का प्राधान्य था किन्तु उत्तर वैदिक काल के अंत में सूत्रकाल तक आते-आते आर्य समाज में हीन व्यवसाय में लगे लोगों को भी इस वर्ण के अन्तर्गत रख दिया गया था। आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पिछड़े आर्यजनों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। शूद्रों को हीन स्थान प्राप्त था। वह दूसरों का सेवक था जिसे उसका स्वामी इच्छानुसार निष्कासित कर सकता था।[28] शूद्रों के साथ वैवाहिक संबंध ठीक नहीं माना जाता था किन्तु सामाजिक निषेध होने पर भी उच्च वर्ण के लोग शूद्र स्त्रियों से विवाह कर लिया करते थे।[29] शूद्रों को कई सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा गया था।

शतपथ ब्राह्मण, के अनुसार यज्ञ की अग्नि शूद्र के लिए अस्पृश्य है।[30] यद्यपि शूद्रों को धार्मिक अधिकार नहीं दिये गये थे किन्तु उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था जैसा कि आपस्तम्बधर्मसूत्र से ज्ञात होता है कि यज्ञ के अवसर पर आर्य लोग भोजन भी बनवाते थे।[31] शूद्रों का मुख्य कार्य दूसरों की सेवा करना माना गया।[32] शूद्र श्रमजीवी थे।

'अस्तु' वैदिक कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था सांस्कृतिक विकास का कारण बनी, क्योंकि सभी वर्णों के लोग पूरी निष्ठा, लगन और समर्पण के साथ अपना-अपना कार्य करते थे। उनमें किसी

प्रकार का वैमनस्य या भेदभाव नहीं था। सभी वर्ण वाले परस्पर मिलकर वैदिक संस्कृति के विकास में गति दी और सामाजिक समरसता के साथ मानव कल्याण के विकास को बल दिया, जिससे एक सुसंगठित कर्म प्रधान समाज का निर्माण हुआ।

संदर्भ-ग्रंथ:

1. ऋग्वेद-10.90.12
2. ऋग्वेद-10.49.3 ,10.212.8
3. ऋग्वेद-05.34.6 ,10.86.19
4. ऋग्वेद-10.22.8
5. ऋग्वेद-8.70.11
6. ऋग्वेद-8.35.16-18
7. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, जी.एस.पी. मिश्र, पृ.-58
8. ऋग्वेद-1.251
9. ऋग्वेद-9.112.3
10. ऋग्वेद-3.43.5
11. ऋग्वेद-10.97.22
12. ऋग्वेद-10.39.14
13. ऋग्वेद-1.161.1-3
14. दि ओरिजन एण्ड ग्रील आव कास्ट इन इन्डिया पृ.-64
15. ऋग्वेद-8.134
16. ऋग्वेद-1.126
17. शतपथ ब्राह्मण-1.2.4.12
18. शतपथ ब्राह्मण-13.8.3.11
19. शतपथ ब्राह्मण-2.1.3.4
20. शतपथ ब्राह्मण-5.3.2.11
21. वाजसनेयी संहिता-1.21
22. शतपथ ब्राह्मण-1.2.3.3
23. शतपथ ब्राह्मण-4.1.4.6 ,12.7.3.12
24. काठक संहिता -28.5
25. ऐतरेय ब्राह्मण-7.29.4
26. तैत्तिरीय संहिता -2.5.10.1 , शतपथ ब्राह्मण-6.4.4.13
27. ऐतरेय ब्राह्मण-1.9 , तैत्तिरीय ब्राह्मण-1.1.4.8.1
28. ऐतरेय ब्राह्मण-7.29
29. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ-126
30. शतपथ ब्राह्मण-6.4.4.9
31. आपस्तम्ब धर्मसूत्र - (11 ,3 ,1-4)
32. जैमिनीय ब्राह्मण-1.686.9

इतिहास

उत्तर मध्कालीन भारत में आर्थिक और सामाजिक स्थिति

डॉ॰ मनीष कुमार

शिक्षक, केन्द्रीय विद्यालय, इम्फाल, मणिपुर

भारतीय इतिहास लेखन में अंग्रेजों के पूर्व के भारत का इतिहास लिखने वाले प्रत्येक इतिहासकार ने भारत को एक सम्पन्न राष्ट्र, धनी देश और खुशहाल आबादी वाला भूखण्ड के ही रूप में चित्रित किया है। इतिहासकार चाहे भारतीय हो या विदेशी इस प्रश्न पर उनका स्वर प्रायः समवेत दिखता है। भारत के सम्बन्ध में किया गया एक आकलन एम. एल. डार्लिंग का है, जिसमें कहा गया है, भारत के बारे में सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि उसकी धरती समृद्ध है और लोग गरीब[1]। एक अन्य आकलन में कहा गया है: भारत गरीब लोगों का देश है लेकिन वह गरीब देश नहीं । भारत के पास प्राकृतिक साधनों की इतनी न बहुलता है कि अगर इसका प्रबंधन कृषि और उद्योगों के विकास के लिए किया जाय तब इसका समन्वित असर लोगों को समृद्धि के उच्चतम शिखर तक पहुँचा सकता है। इतिहासकार इसे एक सर्वमान्य तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं कि ब्रिटिश पूर्व भारत विकास के मामले में विश्व स्तर पर अगली पंक्ति में खड़ा था। क्लाईव ने भी बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद को देखने के बाद कहा था: यह शहर उतना ही विस्तृत, उतना ही अधिक आबादी वाला और उतना ही समृद्ध है जितना लंदन, फर्क इतना ही है कि यहाँ ऐसे लगता है जिनके पास लंदन की तुलना में असीम संपति है।[2] जिस कमीशन ने, इन्डियन इन्डस्ट्रीयल कमीशन (1916-18), क्लाईव के वक्तव्यों को उद्धृत किया है उसी ने आगे लिखा है: ऐसे समय जबकि आधुनिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जातियाँ बसी हुई थीं भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने शिल्पियों की अत्यन्त कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था। और काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसिक सौदागर पहली बार भारत पहुँचे, इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक विकसित यूरोपीय देशों से कम नहीं था।[3]

भारत की सम्पन्नता का वर्णन करने वाले उपर के उद्धहरण पलासी युद्ध के बाद से 1925 तक यानि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के वर्षों के बीच लिखे गए दस्तावेजों के हैं मगर उनमें किया गया वर्णन अंग्रेजों के पूर्व या 1757 तक के कालों में वर्तमान भारत की आर्थिक दशाओं का चित्रण करते है। इन दस्तावेजों में भारत की सम्पन्नता का जिस तरह से वर्णन किया गया है और इतिहास लेखन में जिस तरह से उनका सामान्यीकरण (Generalization) करके उसे भारत की सम्पूर्ण जनता के जीवनमान का मापक बना दिया गया है–क्या उसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया

जाना चाहिए या संदेह की नजर से देखा जाना चाहिए? यह एक महती प्रश्न उस काल के भारत की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के सही आकलन के लिए जवाब का मुखापेक्षी है।

क्लाईव के जिस बयान को इन्डियन इन्डस्ट्रियल कमीशन ने उद्धृत किया है और अन्य जगह पर जब भारत की तुलना पश्चिम के विकसित देशों से करते हुए उनके समकक्ष भारत को विकास के स्तर पर स्थापित किया है वह तथ्य भारत की संपन्नता का मापक हो सकता है मगर यही तथ्य भारत की सम्पूर्ण जनता की संपन्नता का मापक हो–कहना कठिन है। क्लाईव और इन्डियन इन्डस्ट्रियल कमीशन की रिपोर्ट दोनों की व्याख्या इस बात की प्रमाणित करती है कि संपन्नता का यह आकलन खास सुविधाभोगी वर्गों का और देश के शासकों की समृद्धि का द्योतक था । आमजन की समृद्धि का नहीं! क्लाईव ने स्वीकार किया है कि मुर्शिदावाद में ''ऐसे लोग है जिनके पास लंदन की तुलना में असीम संपति हैं।'' यह स्थिति बंगाल की राजधानी की है गाँवों की नहीं, और एक खास वर्ग की है जनसामान्य की नहीं । इसी तरह इन्डियन इन्डस्ट्रियल कमीशन ने भी स्पष्ट कर दिया है कि ''भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने शिल्पियों की अत्यन्त कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था।'' समृद्धि शासकों के पास थी, शिल्पियों के पास नहीं उनके पास जो कुछ भी था वह था उनकी अत्यन्त कलात्मक कारीगरी। इन विश्लेषणों का नतीजा एम. एल. डार्लिंग के निष्कर्षों की प्रमाणिकता को ठोस आधार प्रदान करता है जिसमें कहा गया है कि भारत की ''धरती समृद्ध है और लोग गरीब''।[4] फिर भी, धरती की समृद्धि का मतलब है प्रचुर प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता मगर लोगों की समृद्धि का मतलब होता है उनका ऊँचा रहन-सहन और प्रति व्यक्ति उच्च आय, उपभोग की उच्च मात्रा तथा सेवा क्षेत्र में प्राप्त सुविधायें आदि। डार्लिंग ने भारत की धरती की समृद्धि और लोगों की समृद्धि में फर्क किया है इस कारण उन्हें भारत की धरती–जो सचमूच समृद्ध हैं उन्हें समृद्धि दिखी है मगर लोग गरीब दीखे हैं। इतिहासकार इस तथ्य को जब नकार कर शासक वर्गों की सम्पन्ना के स्तर को आम लोगों की सम्पन्नता का भी मापक मान कर ऐतिहासिक आंकड़ों और सूचनओं का गलत विश्लेषण कर गलत निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं।

अंग्रेजों के सतारूद्ध होने के पूर्व के कालों के दस्तावेजों पर भी नजर डालने और उनका सही आंकलन कर भारत की वास्तविक स्थिति का अंदाजा लगाना जरूरी है।

17वीं सदी में भारत की अपनी यत्र का वर्णन करते हुए तेवर्नियर ने टिप्पणी की है: छोटे-से-छोटे गाँव में भी चावल, आटा, मक्खन, दूध, सेम तथा अन्य सब्जियां, चीनी तथा सूखी और शीरे वाली अन्य मिठाइयां प्रचूर मात्रा में प्राप्त की जा सकती है।[5] 17वीं सदी के भारत का वर्णन मनूची[6] ने भाव-विभोर होकर किया है। वह लिखता है: मुगल शासकों के सभी राज्यों में से बंगाल फ्रांस में सबसे मशहूर है। बंगाल की बेहद उर्वरता का सबूत उसकी अपूर्व सम्पदा से है जो वहां से यूरोप भेजी जाती है । हम बेझिझक कह सकते हैं कि वह किसी भी मामले में मिश्र से कम नहीं है बल्कि शिल्क, कपास, चीनी और नील के उत्पादन के मामले में तो वह मिश्र से भी आगे है। वहां फल, दाल, अनाज, मलमल और जरी तथा रेशम के कपड़े सभी चीजें भरी पड़ी हैं।[7] फ्रांसिसी यात्री बर्नियर ने 17वीं सदी के मध्य में, 1660 के आसपास, दो बार बंगाल की यात्रा की और मुगल साम्राज्य की समाप्ति के आसपास जो कुछ देखा उसका वर्णन किया। वह लिखता है: अपनी दो बार की यात्रा में बंगाल के बारे में मैं जो कुछ जान सका हूँ उससे मुझे विश्वास होने लगा है कि यह मिश्र कि

तुलना में अधिक धनी है। यह भारी मात्रा में सिल्क और कपास, चावल, चीनी और मक्खन का निर्यात करता है। यह अपने उपयोग के लिए प्रचूर मात्रा में गेहूँ, साग-सब्जियाँ, अनाज, मुर्गे-मुरगिया, बतखे, कलहंस, पैदा करता है। इसके पास ढेर सारे सूअर, भेड़ और बकरे हैं। हर तरह की मछलियों का इसके पास बाहुल्य है। राजमहल से लेकर समुद्र तक असंख्य नहरे हैं, जिन्हें बहुत मेहनत से काट कर बनाया गया है ताकि नौका चालन तथा सिंचाई का काम लिया जा सके।[8]

ऊपर के उदाहरण से ब्रिटिश पूर्व की जनता के जीवन मान मे सम्बन्ध में अनिवार्य रूप से विवाद पैदा इस कारण होता है क्योंकि ऐसे यात्रा वर्णनों में प्राय: शहरी और सम्पन्न वर्गों की स्थितियों के आधार पर ही आकलन पेश कर दिए गए हैं, जो स्वभाविक रूप से संदेह पैदा करते हैं। फिर भी एक प्रमाणिक विश्लेषण के लिए आंकड़ों और सूचनाओं की अनुपलब्धता भी वास्तविकता की तह तक जाने देने से रोकती हैं। फिर भी, यह तथ्य विवाद से परे और सर्वमान्य है कि ब्रिटिश पूर्व भारत में विकास विश्वस्तर के संदर्भ में काफी ऊँचा था। भारत की सम्पदा के वर्णन में प्राय: उस काल में भी भारत की अमीरी का आकलन राष्ट्रीय आय में उत्पादन क्रिया के द्वारा किए गए इजाफा के आधार पर नहीं, बल्कि उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा के आधार पर ही किया गया है। टी. एच. हालैण्ड की रिपोर्ट[9], अमरिकन टेक्निकल मिशन की रिपोर्ट[10] में बाद के दिनों में जो तथ्य पेश किए गए उनकी मापनी भी यही थी। ब्रिटिश पूर्व भारत की सम्पदा के रूप में जिन वस्तुओं का जिक्र सभी विदेशी यात्रियों के यात्रा वर्णनों में मिलता है वह उत्पादन की एक खास पद्धति और विनियम की एक खास प्रणाली की तरफ इंगित करते हैं तथा उस उत्पादन और विनियम प्रणाली के आधार पर निर्मित समाज व्यवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि जिन चीजों की भारत में प्रचुरता का वर्णन ये विदेशी यात्री करते हैं। वे सारे के सारे उपभोग की वस्तुए हैं जो या तो स्वयं प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया था या कृषि एवं दस्तकारी के एक अपूर्व एकता के आधार पर उन्हें उत्पादित किया जाता था। उत्पादन का यह तरीका और सम्बन्ध सामंती उत्पादन प्रणाली का होता है जिसमें भूमि और कृषि आधारित छोटे और गृह उद्योग स्थानीय बाजार की मांगों के लिए और स्थानीय उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं। भारत इसी उत्पादन सम्बन्ध में जी रहा था। कृषि, उत्पादन का मुख्य साधन थी और कृषि आधारित दस्तकारियां उद्योग थीं जो कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करने की दक्षता रखती थी। मगर आगे के विकास के लिए जिस तरह की वितरण प्रणानी की जरूरत थी उसका आभाव दीखता है। यहां श्रम विभाजन 'माल' उत्पादन की आर्थिक प्रणाली के आधार पर नहीं था, कभी भी अर्थशास्त्रीय अर्थ में माल का रूप नहीं ले पाती थी। राजस्व की पूर्ति और समुदाय के उपभोग के बाद की बची वस्तुएं ही बाजार में बिकने के लिए जाती थीं । श्रम विभाजन का वंशीय आधार और किए गए श्रम के बदले में मिलने वाली मजदूरी के भुगतान का तरीका वस्तु में और समुदाय द्वारा उत्पादित सामानों में से प्रत्येक को उसके हिस्से के मुताबिक मिल जाने के कारण अतिरिक्त मूल्य सृजन की परिस्थियों का सर्वथा आभाव था, जो प्रारम्भिक दौर के उत्पादन और बाजार के विस्तार के लिए कठिनाइयां पैदा करता था।

जिन जरी और कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन की चर्चा की गई है उसका बाजार काफी संकुचित था और वह आमजनों की क्रय-शक्ति के दायरे से बाहर थी। उन कीमती सामानों का व्यापार या बिक्री, देश के अन्दर हो या बाहर, उसके खरीदार-उमरा, बड़े जमींदार, सरकारी उच्च अधिकारी और

इसी तरह का सम्पन्न तबका था। यूरोप के बाजारों में भी उनकी जो ऊँची कीमतें प्राप्त की जाती थी, वह उसी तरह के सम्पन्न वर्गों के बीच बेच कर ही प्राप्त होती थी। उत्पादन की इस प्रणाली में देशी बाजार का संकुचित होना भी एक प्रधान कारण इन दस्तकारियों की बर्बादी के लिए जिम्मेदार बना। दूसरी तरफ स्वावलम्बी ग्राम व्यवस्था के काल में बना उत्पादन संबन्ध अंग्रेजों के आने के पूर्व ही एक ऐसी प्रगतिगामी उत्पादन प्रणाली में बदल चुका था जो आगे के विकास के मार्ग में बाधक बन गया था। उसकी इसी अवस्था का चित्रण करते हुए कहा गया है कि; हमें यह नहीं भूलना चाहिए की ये छोटे-छोटे समुदाय जातपात के भेदभाव तथा दास प्रथा से विषाक्त हो चुके थे। उन्होंने परिस्थितियों के स्वामी के रूप में मनुष्य का विकास करने के बजाय उसे परिस्थितियों का दास बना दिया था, उन्होनें स्वयं विकास करने वाली सामाजिक व्यवस्था को अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियति का रूप दे दिया था, और इस प्रकार उन्होंने प्रकृति की ऐसी उपासना को जन्म दिया था जो अपने आप में नृशंस थी। इसकी अधोगति का पता इस तथ्य से ही चल जाता है कि मनुष्य, जो प्रकृति का शासक है, बानर हनुमान और सबला गाय के सामने श्रद्धा से घुटने टेकने लगा।[11] जिस आर्थिक सामाजिक संरचना की अधोगति का ऐसा परिवेश हो वह अंग्रेज के आने के समय किसी उच्च और विकसित तथा सम्पन्न समाज का प्रतिनिधि हो यह स्वीकार करना आज कठिन लगता है। इसकी अवनति और प्रतिगामी भूमिका का ही परिणाम था कि अंग्रेजों के आक्रमणों का, चाहे वह सैनिक आक्रमण हो या आर्थिक या सामाजिक सांस्कृतिक, प्रतिरोध भारतीय जनता की तरफ से हुआ ही नहीं। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि भारत की विपुल प्राकृतिक संसाधनों और एतत जनित संपदा को हड़प कर शासक वर्ग विलासिता के जीवन में ऐसा डुबा हुआ था कि उसे भारत के जन आवाम की बदहाली के प्रति सोचने तक का समय नही था और जब इनकी सत्ता को अंग्रेज छीनने लगे तब आम जनआवाम मात्र मूकदर्शक के अलावा किसी भी तरह के विरोध की भूमिका में नही आया।

आजकल इतिहासकार अंग्रेजों के आने के पूर्व के भारत के दौलत और धन-धान्य की प्रचूरता के वर्णन में इस तरह के तथ्यों को प्राय: नजरअंदाज करके चलते आए हैं। यह व्यवस्था भविष्य के विकास में कितनी बड़ी बाधा थी इसका आकलन भी नीचे की पंक्तियों में किया गया है; यह सच है कि हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति लाने में इंग्लैण्ड अपने निकृष्टतम स्वार्थों से ही प्रेरित होकर काम कर रहा था और अपने इस घटिया हित की पूर्ति का उसका तरीका मूर्खतापूर्ण था, लेकिन सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या मानवजाति एशिया की सामाजिक अवस्था में कोई बुनियादी क्रान्ति लाए बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है? यदि नहीं, तो इंग्लैण्ड ने चाहे कितने भी अपराध क्यों न किए हों, इस क्रांति को सम्पन्न करने में उसने इतिहास के अनाभिप्रेत साधन का काम किया है।[12] इस तरह के मूल्यांकन से किसी भारतीय अन्धराष्ट्रवादी इतिहासकार को असहमति हो सकती है मगर वास्तविकता यही है कि ब्रिटिश शासकों ने भारत कें उस पुराने और ऐतिहासिक विकास की धारा को अवरुद्ध कर रही व्यवस्था को ध्वस्त कर सामाजिक क्रान्ति के रास्ते को प्रशस्त किया। भरत के प्रति अंग्रेजों की दुराग्रह नीति यह रही कि उस विध्वंस पर जिस नयी आर्थिक-सामाजिक संरचना का निर्माण किया जाना चाहिए था, उस दादियत्व को ब्रिटिश शासकों ने पुरा नहीं किया। उपनिवेशवादी शासक इस दायित्व को पूरा करते भी नहीं। इस काम को भारत की

जनता को स्वयं करना था और वह भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही पुरा हो सकता था। मगर भारतीय जनता का यह दुर्भाग्य रहा है कि आजादी के बाद भी उस क्रानित के कर्तव्यों को पुरा नहीं किया जा सका और आज भी भारत की 60 प्रतिशत से ज्यादा आबादी 20 रूपया रोजना से कम पर जीन के लिए अभिशप्त है और भारत सरकार और उसके प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह भरतीय सम्पदा यानि आर्थिक विकास और देश की खुशहाली के गीत गा रहे हैं । ठीक इसी तरह का आकलन अंग्रेजों के पूर्व के भारत की खुशहाली का रहा है । आज कारपोरेट घरानों की खुशहाली को देश की खुशहाली का माणक मनमोहन सिंह मान रहे हैं, उस समय शासकों और शासक वर्ग की ही खुशहाली को जनता की खुशहाली मान लिया गया था।

संदर्भ सूची:

1. एम. एल डार्लिंग, *दि पंजाब पीजेन्टस इन प्रोस्पारिटी एण्ड डेब्ट,* 1925, पृ. 73.
2. *इन्डियन इन्डस्ट्रीयल कमीशन रिपोर्ट,* 1916-18, पृ. 249 पर उद्धृत ।
3. *उपरोद्धृत,* पृ. 6.
4. एम. एल. डार्लिंग, *पूर्वोद्धृत* ।
5. तेवर्नियर, *ट्रेवेल्स इन इन्डिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस संस्करण, 1925. खण्ड-1, पृ. 238.
6. वेनिस निवासी मनूची औरंगजेब का प्रधान चिकित्सक था।
7. एफ. एफ. कात्रू, *दि जेनरल हिस्ट्री ऑफ दि मुगल एम्पायर में वेनिसवासी मनूची के मेम्वायर्स से उद्धृत, जान बायर, लंदन,* 1709.
8. सर विलियम विलकाक्स, *लेक्चर्स ऑन दि एंशिएंट सिस्टम ऑफ इरीगेसन इन बंगाल,* कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930, पृ. 18-19.
9. टी. एच. हालैण्ड रिपोर्ट, *दि मिनरल रिसोर्सेज ऑफ इन्डिया,* 1908.
10. *रिपोर्ट ऑफ दि अमरिकन टकनिकल मिशन,* अगस्त, 1942, पृ. 25.
11. के.मार्क्स, "ब्रिटिश रूल इन इन्डिया", *न्ययार्क डेली ट्रीव्यून,* 1953.
12. *उपरोद्धृत* ।

प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक महत्व

डॉ॰ निलेश कुमार

तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथों के आधार पर बौद्धधर्म के सिद्धांतों एवं दार्शनिक पक्ष की विवेचना की है। इनके आधार पर बौद्धधर्म के सिद्धांतों की चर्चा की जा सकती है।

कारण सिद्धांत–महात्मा बुद्ध की मान्यता थी कि प्रत्येक कार्य एक कारण पर निर्भर होता है, अर्थात् संसार का कोई भी कार्य अकारण नहीं है। सृष्टि की समस्त घटनायें एक क्रम में हो रही हैं तथा एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण बन जाता है। इसे प्रतीत्य समुत्पाद (पतिच्च समुत्पाद) मध्यमा प्रतिपदा का नाम दिया गया। यह विचार आस्तिकता (शाश्वतता का सिद्धांत) एवं नास्तिकता (उच्छेदवाद) के बीच का मार्ग है। आस्तिकता के नियम के अनुसार कुछ वस्तुयें नित्य हैं। उनकी कोई आदि या अंत नहीं है। ये किसी कारण का परिणाम नहीं हैं, आत्मा एवं ब्रह्म इसी कोटि में आते हैं। दूसरी और नास्तिकतावादी, चार्वाक एवं लोकायत यह मानते हैं कि वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता।

बुद्ध ने दोनों मतों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया, जिसके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व है, किंतु वे नित्य नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति कुछ कारणों पर निर्भर है। वस्तुओं का पूर्ण विनाश नहीं होता, बल्कि उनका परिणाम शेष रह जाता है। बुद्ध के हृदय में ज्ञान प्राप्ति से पूर्व अनेक शंकाएं उत्पन्न हुयी थीं। उन्होंने विचार किया कि मनुष्य ऐसी दु:खपूर्ण स्थिति में क्यों है, जन्म, मृत्यु एवं दु:ख से मुक्ति का मार्ग अंतत: उन्हें ज्ञात हुआ, जिसे 'आर्य सत्य चतुष्टय' अथवा 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहा गया। चार आर्य सत्य बौद्धधर्म के सिद्धांतों की आधारशिला हैं- दु:ख, दु:ख समुदय, दु:ख निरोध एवं दु:ख निरोध का मार्ग। दु:ख- महात्मा बुद्ध संपूर्ण संसार को दु:खमय मानकर चलते हैं। जरा, रोग, मृत्यु के दु:खमय दृश्यों को देखकर ही सिद्धार्थ ने संन्यास धारण किया था। ज्ञान प्राप्ति के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानव जाति दु:ख से ग्रसित है। जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, अत: सभी दु:ख हैं। क्षणिक विषयों में आसक्ति ही पुनर्जम तथा बंधन का कारण है, सांसारिक सुखों को यथार्थ सुख समझना केवल अदूरदर्शिता है। मनुष्य मिथ्या धारणा से अपना तदातम्य अपने शरीर या मन से कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे विविध प्रकार के भौतिक सुखों की तृष्णा होती है। तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य अहंभाव से विभिन्न प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्य करता है एवं तृष्णा संपूर्ति न होने पर दु:ख का अनुभव करता है।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक उदाहरण देते हुये बताया था कि दु:ख की इस व्यापक वेदना से जितने आंसू बहाये गये हैं, वे इतने ही अधिक हैं कि चारों समुद्रों का जल नहीं। दु:ख समुदय: इस संदर्भ में सवाल यह उठता है कि दु:ख का कारण क्या है। बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के माध्यम से दु:ख का कारण जानने का प्रयास किया, क्योंकि इस कारण सिद्धांत के अनुसार सभी वस्तुएँ कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। अत: दु:ख का भी कारण है। दु:ख अथवा जरा, मृत्यु तब ही संभव है, जबकि जन्म (शरीर धारण) हो अर्थात् दु:ख जन्म (या जाति) पर निर्भर है। जन्म का होना तब ही संभव माना गया, जबकि जन्म से पूर्व कोई अस्तित्व हो, जिसे 'भव' (भाव) नाम दिया गया है। कहा जा सकता है कि भव जन्म का कारण है। भव से अभिप्राय कर्म से है, जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। इस प्रक्रिया में वह कौन-सा कारण है, जिसके होने से भव की उत्पत्ति होती है। भव का आधार 'उपादान' माना गया। यदि मनुष्य कामना के वशीभूत होकर कर्म नहीं करे तो जन्म नहीं होता अर्थात् सकाम कर्म अथवा मोह को 'उपादान' नाम दिया गया। 'उपादान' का हेतु 'तृष्णा' (वासना) को माना है। यह उत्कृष्ट इच्छा करना कि जिन भोगों से हमें परितृप्ति होती है उनसे हमारा कभी वियोग न हो, इसको तृष्णा कहा गया है। रूप, शब्द, स्पर्श, रस एवं गंध से तृष्णा संबद्ध होती है। तृष्णा का आधार 'वेदना' है। पूर्व विषय भोग या सुखानुभूति से हमारी तृष्णा जाग उठती है अर्थात् इद्रिंय-जन्य अनुभूति को 'वेदना' की संज्ञा दी गयी। वेदना की अनुभूति के लिए ज्ञानेद्रिंय का संपर्क आवश्यक है।

ज्ञानेद्रिंय का संपर्क (इद्रिंय जन्य चेतना) को 'स्पर्श' कहा गया। इंद्रिय जन्य चेतना के अभाव में अनुभूति संभव नहीं है। 'स्पर्श' हेतु पाँच इद्रिंय एवं मन आवश्यक है। इसे 'षडायतन' कहकर संबोधित किया है। इन छ: आयतनों (षडायतन) के लिए बुद्धि (या मन) एवं शरीर होना आवश्यक है। षड्चेतनायें मनुष्य के शरीर एवं बुद्धि के समन्वय के कारण उत्पन्न हुयी मन:स्थिति पर आश्रित हैं। इसी मानस् तात्विक स्थिति को ''नामरूप'' कहा गया है, जो शरीर एवं बुद्धि के साथ कार्य करने की शक्ति को स्पष्ट करता है।

चेतना के बिना नामरूप नहीं हो सकते अर्थात् 'चेतना' (विज्ञान) ही नामरूप का हेतु है। चेतना से तात्पर्य किसी वस्तु विशेष के बारे में सोचने वाली विचारधारा से है और चेतना का आधार ''संस्कार'' माना गया। कर्म के अनुसार निर्मित संस्कार से विज्ञान या चेतना संभव होती है। संस्कार की उत्पत्ति के विषय में बुद्ध की धारणा थी कि इसका एकमात्र कारण 'अविद्या' (अविज्जा) है। क्षणिक विषयों को सुखद समझ लेना ही अविद्या है। अविद्या के नाश से ही संस्कार नष्ट होंगे। इसी क्रम से मनुष्य की जन्म, मृत्यु या दु:ख से मुक्ति संभव मानी गयी है।

प्रतीत्य समुत्पाद प्रक्रिया के अंतर्गत यदि दु:ख के कारण को नष्ट कर दिया जाये, तो दु:ख का निरोध संभव है। अविद्या के निरोध से दु:ख को नष्ट किया जा सकता है क्योंकि अविद्या से ही तृष्णा उत्पन्न होती है। जिसके फलस्वरूप पुनर्जन्म होता है एवं नवीन चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं। इसको संसार का दुश्चक्र (भव चक्र) कहा गया।

दु:ख निरोध का मार्ग: संसार में दु:ख है,दु:ख समुदय है। उसी प्रकार दु:ख से मुक्ति का मार्ग भी है। अविद्या एवं तृष्णा से उत्पन्न मनोवृत्तियों के निरोध का विधान भी है। तृष्णा से ही आसक्ति तथा राग का उद्भव होता है। रूप, शब्द, गंध, रस तथा मानसिक तर्क-वितर्क आसक्ति के मौलिक कारण हैं। दु:ख के निवारण के लिए तृष्णा का उन्मूलन आवश्यक है। धम्मपद में कहा गया है कि

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, भय की बात ही क्या? बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्देशित किया है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का निरोध ही दु:ख का निरोध है। कहा गया है कि इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति का मार्ग है एवं इच्छाओं का परित्याग अष्टांगिक मार्ग द्वारा किया जा सकता है। अष्टांगिक मार्ग को दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपदा भी कहा जाता है।

आष्टांगिक मार्ग को तीन स्कंधों में विभक्त किया जाता है- प्रथम प्रज्ञा स्कंध में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प एवं सम्यक् वाक् सम्मिलित किये गये हैं। सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, शील स्कंध के अंतर्गत रखे गये हैं। समाधि स्कंध में सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि आते हैं। चार आर्य सत्यों का सत्य एवं असत्य तथा सदाचार एवं दुराचार के विवेक द्वारा सही परीक्षण करना 'सम्यक् दृष्टि' है। इसे नीर-क्षीर विवेक भी कहा जा सकता है। अविद्या के कारण मिथ्या दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, जिसे समाप्त किया जाना आवश्यक होता है। सब वस्तुएँ अनित्य हैं, इस तरह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है तो वह दु:खों से विरक्ति को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है। इच्छा एवं हिंसा की भावना से मुक्त संकल्प को 'सम्यक् संकल्प' कहा गया है। आर्य सत्यों के अभिज्ञान मात्र से लाभ नहीं होता, जब तक उनके अनुसार जीवन-यापन करने का दृढ़ संकल्प न किया जाये।

धम्मपद में विवेचन मिलता है कि युवा होकर भी जो आलसी हैं, जिसका मन और संकल्प निर्बल हैं, ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं करता। सत्य, विनम्र एवं मृदुता से समन्वित वाणी को 'सम्यक् वाक्' कहा गया है। उल्लेख मिलता है कि मिथ्यावादिता, निद्रा, अप्रिय वचन तथा वाचालता से बचना चाहिए। वाणी की रक्षा करने, मन से संयमी बनने एवं शरीर से बुरा कार्य न करने को शुद्धि का मार्ग बताया गया है।

'सम्यक् संकल्प' को वचन में ही नहीं वरन् कर्म में भी परिणित करना चाहिए अर्थात् सत्कर्मों में संलग्न होना ही सम्यक् संकल्प है। दूसरे शब्दों में अहिंसा, अस्तेय एवं इद्रिंय संयम ही सम्यक् कर्म है। किया हुआ वह कर्म अच्छा होता है, जिसको करके मनुष्य को सन्ताप नहीं होता। जीवन-यापन की विशुद्ध प्रणाली को सम्यक् आजीव कहा गया है अर्थात् मन,वचन एवं कर्म के शुद्ध उपाय से जीविकोपार्जन करना है, किंतु इसका अभिप्राय भिक्षु एवं गृहस्थ के लिए अलग-अलग था।

'सम्यक् व्यायाम' के बारे में विवरण मिलता है कि व्यक्ति को पुराने बुरे भावों का नाश, नवीन बुरे भावों का अनाविर्भाव, मन को उत्तम कार्यों में लगाना एवं शुभ विचारों को धारण करने की चेष्टा करनी चाहिए। सम्यक् व्यायाम से तात्पर्य विशुद्ध एवं विवेकपूर्ण प्रयत्न से है। 'सम्यक् स्मृति' से मनुष्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है एवं सांसारिक बंधनों में नहीं पड़ता। बौद्ध व्यवस्था में स्मृति के चार रूप माने गये हैं। प्रथम कायानुपश्यना से तात्पर्य है–शरीर की प्रत्येक चेष्टा को समझते रहना। दूसरी चितानुपश्यना है अर्थात् चित्त के राग-द्वेष आदि को पहचानना। तीसरी वेदनानुपश्यना से अभिप्राय दु:ख एवं सुख दोनों ही अनुभूतियों के प्रति सजग रहना। चतुर्थ धर्मानुपश्यना अर्थात् शरीर, मन एवं वचन की प्रत्येक चेष्टा को समझना। चित्त की एकाग्रता को 'समाधि' कहा गया है। समाधि द्वारा पुराने क्लेश जड़-मूल से नष्ट हो जाते हैं और तृष्णा एवं वासनाओं से मुक्ति मिलती है तथा सत्वगुण की वृद्धि होती है। इसमें मनुष्य को अपने मन को नियत्रित करने का अभ्यास करना होता है। मन की चंचलता पर संयम पा लेने पर ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती है। बौद्ध दर्शन में समाधि के कुछ स्तरों का उल्लेख मिलता है, यथा - 'उपचार समाधि' एवं 'अप्पना समाधि' आदि।

निर्वाण: बुद्ध ने अपने उपदेशों को विचारपूर्वक ग्रहण करने की आज्ञा दी थी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना होता है। ज्ञान को आन्तरिक आस्था में परिणत करने के लिए प्रज्ञा, शील, समाधि आवश्यक है एवं सत्य का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता, जब तक विचार एवं कर्म का संयम न हो। शील एवं समाधि की अवस्था को स्पष्ट करते हुये दासगुप्त ने लिखा है – 'हम अन्दर और बाहर से तृष्णा के पाश में जकड़े हुये हैं (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन में उचित (शील) का ध्यान, समाधिज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दें। संक्षेप में शील का अर्थ है– पाप कर्मों से दूर रहना।

अत: सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील का धारण करने से दुर्वासनाओं से उत्पन्न दुष्कर्मों से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति होती है। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारंभ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं और तृष्णा और वासनाओं से मुक्ति मिलती है एवं सत्वगुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्ति होती है, जिसको अर्हत् कहते हैं। बौद्धधर्म का एक मात्र लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। सामान्यत: इसका अभिप्राय जीवन-मृत्यु के चक्र से विमुक्ति माना है। हिरियन्ना ने निर्वाण की व्याख्या करते हुये लिखा है कि यह वास्तव में किसी मरणोत्तर अवस्था का सूचक नहीं है।

संदर्भ:

- Adas, Michael. Machines as the Measure of Men: Science, Technology, and Ideologies of Western Dominance. Ithaca: Cornell University Press, 1989.
- Ahmad, Imtiaz. State and Foreign Policy: India's Role in South Asia. New Delhi: Vikas, 1993.
- Ali, Tariq. An Indian Dynasty: The Story of the Nehru-Gandhi Family. New York: Putnam, 1985.
- Austin, Granville. The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation. Oxford: Clarendon Press, 1966.
- Bakshi, S.R. Morarji Desai. New Delhi: Amol, 1991.
- Keown, Damein et.al., eds. Buddhism and Human Rights. London: Curzon, 1998.
- Kohn, Michael H., trans., The Shambhala Dictionary of Buddhism and Zen. Boston: Shambhala, 1991.
- Morgan, Kenneth W., ed., The Path of the Buddha. New York: Ronald Press, 1974. Good survey of Buddhism throughout Asia written by prominent Asian Buddhist scholars. Similar to, but less complete than, P. V. Bapat, cited above.
- Prebish, Charles S., ed. Buddhist Ethics: A Cross-Cultural Approach. Dubuque: Kendall/ Hunt, 1992.
- Warder, A. K., Indian Buddhism, 2nd ed. rev. Delhi: Motilal Banarsidass, 1980. Authoritative. Especially good on philosophical and literary issues; excellent bibliography and index.

हड़प्पा संस्कृति के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय का विवरणात्मक विश्लेषण

हरि किशोर ठाकुर

शोध छात्र, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

मानव इतिहास में मनुष्य ने हजारों वर्षों तक आखेटक और खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत किया। लोग हजारों वर्षों तक आखेटक तथा खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत करने के पश्चात गांवों में बसने लगे और कृषक तथा पशुपालक का जीवन व्यतीत करने लगे। व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने तथा पशुओं के पालतू बनाने के क्रम में मनुष्य गेहूं, जौ, भेड़ तथा बकरी इत्यादि के संपर्क में आया, जिनके पूर्वज तथा प्रजातियां काफी विस्तृत किंतु व्यतिक्रमीत अवस्था में एशिया के ऊपरी क्षेत्रों में तुर्की तथा अफगानिस्तान में फैले थे। इसके अवशेष सबसे पहले दक्षिण एशिया के मेहरगढ़ में (6000 ई.पू.) पाये गये हैं। ऐसी कोई निश्चित अवधि का पता दक्षिण एशिया में नहीं चला है, जिससे यह माना जाय कि इस समय में आखेटक तथा खाद्य संग्राहक की जीवन शैली छोड़कर लोग कृषि तथा पशुपालन करने लगे थे। विभिन्न क्षेत्रों में नवपाषाण युग विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्तरों पर एक विशेष प्रकार के पत्थर और मृद्भांड की तकनीक तथा अलग-अलग तरह के पशुओं के साथ आया। नवपाषाणीय अर्थव्यवस्था स्थानीय पशुओं को पालतू बनाने को उत्सुक नहीं थी। नवपाषाण संस्कृतियाँ जो जेहलम घाटी, गारो तथा उत्तरी चांचर पहाड़ियों में पायी गयी हैं, वे एक अलग तरह की विचित्रता को दर्शाती हैं, जिससे यह लगता है कि इनका शिल्प कलात्मक संबंध इस महाद्वीप के बाहर स्थित संस्कृतियों से रहा है। दूसरी तरफ, उड़ीसा में हमें उत्तर-पूर्व तथा दक्कन पठारी संस्कृतियों का सम्मिश्रण मिलता है। कुछ संस्कृतियों के बारे में हमें सिर्फ तिथिविहीन तथ्यों पर निर्भर रहना पड़ता है और कुछ में हम जैविक तथा जंतुसमूह संबंध के प्रमाण भी उपलब्ध नहीं पाते हैं। कच्छ मैदानी क्षेत्रों की तरह ही विंध्य पठार की बेलन घाटी तथा गंगा के मैदानी क्षेत्रों में इलाहाबाद का इलाका काफी महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग तथा प्रारंभिक नवपाषाण युग के घटनास्थल एक क्रम में मिले हैं। यहाँ से हमें चावल के अवशेष तथा कूबड़वाले पशुओं के पालतू होने का संकेत भी मिला है।

ताम्रपाषाणिक युग

हमें ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का एक सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पश्चात् मिला है, जो 2,000 ई.पू. की हैं और जो भौगोलिक रूप से उदयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित बनास तथा बेचान

दोआब से होते हुये मालवा और पश्चिम महाराष्ट्र में भीमा घाटी तक गयी हैं। कुछ मुख्य स्थानों–दंगवाड़ा तथा उज्जैन के नजदीक कायथा और प्रवारा के पास दायमाबाद का स्तरित शैल विज्ञान पद्धति द्वारा अध्ययन करने पर यह पता चला है कि कायथा संस्कृति के बाद बनास, फिर मालवा और तब जोरवे संस्कृति का विकास हुआ है।

प्रारंभिक लौहावस्था

व्यवस्थित ग्रामीण जीवन शैली के उदय ने जिस तरह विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप लिए, वैसे ही लोहे के प्रयोग ने विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तरीकों से लोगों की जीवन शैली को प्रभावित किया। लोहे के प्रयोग की प्राचीनता को जानने के लिए दक्षिणी एशिया के छह प्रमुख क्षेत्रों से एक सर्वेक्षण किया गया, जिससे यह पता चला कि आर्यों के आने और लोहे के प्रयोग से कोई संबंध नहीं है। जिन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया है, उनसे यह पता चलता है कि यहाँ पर काफी मात्रा में लौह-अयस्क (जो आसानी से पिघलाया जा सकता था) पाया गया है।

मालवा क्षेत्र में रेडियो कार्बन पद्धति से पता चला है कि करीब 1100 ई.पू. लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था। यह बात इस आधार पर कही गयी है कि मालवा में ताम्रपाषाणिक युग के पश्चात् लौहावस्था आयी थी। प्राप्त साक्ष्य से ज्ञात होता है कि दोनों अवस्थाओं में एक निरंतर संबंध है। मालवा में ताम्रपाषाणिक युग का अंत करीब 1300 ई.पू. का है।

प्रथम लोहे के प्रयोग का एक निश्चित स्थान या क्षेत्र खोजना कठिन है, क्योंकि बहुत कम ही रेडियो कार्बन तिथि उपलब्ध हैं। निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है कि किसी एक क्षेत्र-विशेष में लोहे का प्रयोग नहीं हुआ होगा, अपितु कुछ शताब्दियों के अंदर ही बहुत सारे समुदायों ने लोहे का प्रयोग शुरू कर दिया होगा। गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में यह स्पष्ट है कि लोहे के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों पर जनसंख्या का दबाव उत्तरी हड़प्पा की तुलना से ज्यादा था।

मगध के राजतंत्रों तथा कोशल और उत्तरी गणराज्यों का उदय ऊपरी लौहावस्था के परिपेक्ष्य में देखा जाता है। 1963 में डी.डी. कौशांबी ने इस बात की घोषणा की थी कि इतने बड़े पैमाने पर जंगलों का काटा जाना तथा कृषि व्यवस्था का गंगा घाटी में अपनाया जाना बिना लोहे के प्रयोग का संभव नहीं हो सकता।

भौगोलिक विस्तार

उत्तर-पश्चिम सीमांत

दो खंडों में यह क्षेत्र बंटा हुआ है। पेशावर तथा तक्षशिला के बीच का क्षेत्र, जिसमें पेशावर घाटी तथा पोतवार के पठार सम्मिलित हैं, और स्वात तथा चित्राल के बीच का क्षेत्र। कोटदीजी से संबंधित जानकारी सरायखोला का नवपाषाणिक स्तर देता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा क्षेत्र तत्कालीन हड़प्पा से व्यापारिक स्तर पर जुड़ा था। अनेक पुरातात्विक स्थान स्वात-छित्रल क्षेत्र में मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की धातु, पत्थर तथा अन्य चीजों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें शंख, मूंगा तथा हाथी दांत संभवत: इस क्षेत्र में सिंधु घाटी से आया था। घनीगई का पत्थरनुमा स्थान जो करीब-करीब 3000 ई.पू. का है, स्वात-छित्रल की आधारशिला के बारे में बताता है।

"आद्य ऐतिहासिक कब्रिस्तान" 2000 ई.पू. का इस क्षेत्र से प्राप्त है। ऐसे कब्रिस्तानों का प्रमाण तथा संबंधित बस्तियों को "गांधार कब्र संस्कृति" के नाम से जाना जाता है और ये कब्रिस्तान नम्यतापूर्ण तथा कलश स्वरूप (फलेक्सड तथा अर्न) दफन से तथा ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित हैं। कई स्थानों पर कब्रिस्तानों तथा संबंधित बस्तियों का अध्ययन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं–अलीग्राम, बीरकोट घुण्दई, लेबनर, खेराटी, लालबटाई, तिमारगढ़, बालाम्बात, कालको-दीरेय तथा जरीफ करुणा जो चित्रल स्वात, दिर, बनर इत्यादि घाटियों में स्थित हैं।

कश्मीर

तीस से अधिक नवपाषाणिक स्थल कश्मीर में पाये गये हैं, जिनमें से ज्यादा बारामूला, अनंतनाग तथा श्रीनगर खंड क्षेत्रों में पाये गये हैं। इसका इतने बड़े क्षेत्रों में फैला होना इस बात की ओर इंगित करता है कि यहाँ की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों में पायी गयी संस्कृतियों से भिन्न नहीं है। गुफकराल में कुंडलीनुमा तांबे की बालों की चिमटी तथा बुर्जहोम में कोटदीजी की तरह गोलाकार बर्तन पर "सिंहनुमा देवी" का चित्रण, कश्मीर और सिंधु सभ्यता के बीच आपसी आदान-प्रदान का प्रमाण है। यह गुफकराल का एकरमिक युग यह बताता है कि इस समय तक छोटे तथा बड़े-बड़े रहने वाले कमरों का निर्माण हो चुका था। छिछला तथा बड़े कमरों का निर्माण पहले के युगों में भी पाया गया है। दो कमरों वाला मकान बाद के युगों में भी मिलता है। चटायीनुमा आधार वाले हाथ से बने हुये भूरे रंग के बर्तन कश्मीर के नवपाषाणिक युग की एक विशेष कृति है। गुफकराल तथा बुर्जहोम में इस प्रकार के बर्तन पाये गये हैं। दो हजार ई.पू. के मध्य तक कश्मीर का नवपाषाणिक युग महापाषाणिक युग में परिवर्तित हो गया था।

लद्दाख तथा अल्मोड़ा

यहाँ से पाये गये स्रोत अनिश्चित हैं, क्योंकि अवशेषों की संख्या कम है तथा उनकी तिथियों में काफी विषमता है। फिर भी इन्हें पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता। ये आंशिक स्तर पर कराकोरम के दोनों भागों के बीच के संबंध को बताते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा कश्मीर के बीच संबंध के संदर्भ में हम हिमालय के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन कर सकते हैं।

हम लद्दाख की क्यारी में पाये गये हस्त निर्मित लाल बर्तनों की तुलना बुर्जहोम के द्वितीय नवपाषाणिक युग के बर्तनों से कर सकते हैं। चार घर तथा भेड़ बकरी आदि पालतू जानवर तीन क्रमिक स्तरों में पाये गये हैं। 1000 ई.पू. इसकी तिथि है। उसी भौगोलिक संरचना में स्थित शैक (क्यारी से 10 किलोमीटर की दूरी पर) से छठी शताब्दी ई.पू. की एक रेडियो कार्बन तिथि पायी गयी है।

उत्तर-पूर्व राजस्थान

जोधपुरा का बड़ा-सा टीला सहीबी नदी के तट पर मिला है, जो ज्ञानेश्वर-जोधपुरा संस्कृति का पहला साक्ष्य है। तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पू. का यह टीला लगता है। निदानकारी बर्तन-पहियों से बना, गुलाबी तथा कत्थई रंगों से उत्कीर्ण चित्रित तथा अन्य विभिन्न आकारों में–ज्ञानेश्वर में पाया गया है जो दिल्ली-जयपुर रेलवे लाइन के छोटे अरावली पहाड़ों में मिला है। काफी मात्रा में तांबे के औजारों विशेषकर तीरों के ज्ञानेश्वर से मिलने के बाद इस संस्कृति पर ध्यान गया, जो यहाँ पर उत्खनन् में पायी गयी थीं।

ज्ञानेश्वर का पुनः खनन पुरातत्वविदों ने किया और वहाँ काफी संख्या में इस तरह के साक्ष्य (करीब 83 की संख्या में) पाये गये जो उत्तर-पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों-सिकर, जयपुर तथा चुरू जिलों में स्थित है। तांबे के खनन् तथा संबंधित कार्यों के कारण उत्तर पूर्व राजस्थान का महत्व है। ज्ञानेश्वर, जो 3 या 4 एकड़ से बड़ा क्षेत्र नहीं है, वहाँ से लगभग 2000 तांबा निर्मित साक्ष्य मिले हैं और जब ऐसे-ऐसे 83 घटनास्थल हों तो वहाँ पर तांबे के इस्तेमाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व राजस्थान

पुरातत्वविदों ने दक्षिण पूर्व राजस्थान के तीन ताम्रपाषाणयुगीन क्षेत्रों—अहर, गिलुन्द तथा बलथल—का अध्ययन किया है, जो वहाँ की बनास, बेरॉच तथा उसकी सहयोगी नदियों द्वारा जल प्राप्त करते थे। नब्बे से अधिक अहर या बनास संस्कृति के स्थलों की संख्या है, जो उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा अजमेर, जयपुर तथा टोंक जिलों में और मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में पायी गयी हैं। समान रूप से संस्कृतियों की गति दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व गिलुंद राजस्थान की ओर तथा बेरॉच एवं बनास की ओर उन्मुख थी। नदियों के किनारे अहर स्थल स्थित थे, जिनका आकार एक-दो एकड़ से लेकर दस एकड़ तक का था और दो भिन्न स्थलों के बीच की दूरी पांच से दस मील की थी। अहर संस्कृति की बड़ी विशेषता है-यहाँ के लोग तांबे की धातु-विद्या से परिचित थे। अहर में उपस्थित खनिज उरेहित मनका, लैपिस-लाजुली तथा रंगपुर जैसे आकर्षक लाल बर्तन इस बात को दर्शाते हैं कि इनका संबंध गुजरात स्थित हड़प्पा संस्कृति से रहा होगा। इस संस्कृति का विस्तार, मालवा की तरफ और दक्कन तक (जैसे अहर में महाराष्ट्र का जोरवे बर्तन) भी था। बहुत पहले अहर और गिलुंद की संस्कृतियों का उत्खनन (अहर 1953-54 और गिलंद 1959-60) हुआ था, किंतु हाल में उत्खनित बलथल (1994-98) ज्यादा साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

इन स्थलों का आरंभिक इतिहास आद्य ऐतिहासिक काल द्वारा एक लंबे अंतराल के बाद भरा गया। बलथल के आद्य ऐतिहासिक कालक्रम ने अहर संस्कृति को समझने में एक नया आयाम दिया। बलथल में आद्य ऐतिहासिक काल का प्रारंभ चौथी शताब्दी ई.पू. के लगभग अंत तक हुआ था। धातु से बने बर्तनों पर धातु विद्या का ज्ञान तथा इसका विशेष प्रयोग किया गया, जो प्रौढ़ हड़प्पा सभ्यता के विकास का एक उदाहरण है, इससे राजस्थान की अपनी अलग पहचान बनी है। यह दर्शाता है कि आद्य ऐतिहासिक काल में अरावली क्षेत्र की जगह महत्वपूर्ण है।

संदर्भः

* Gupta, S.P. (ed.). 1995. The lost Sarasvati and the Indus Civilization. Kusumanjali Prakashan, Jodhpur.
* Kenoyer, J. Mark. 1998. Ancient cities of the Indus Valley Civilization. Oxford University Press.
* The Indus Valley tradition of Pakistan and Western India.
* Jim G. Shaffer. 1992. "The Indus Valley, Baluchistan and Helmand Traditions: Neolithic Through Bronze Age." In Chronologies in Old World Archaeology. Second Edition. R.W. Ehrich, (Ed.). Chicago: University of Chicago Press. I:441-464, II:425-446.
* Cultural tradition and Palaeoethnicity in South Asian Archaeology
* Migration, Philology and South Asian Archaeology
* Aryan and Non-Aryan in South Asia.

प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता

संतोष कुमार

नेट उत्तीर्ण, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

आश्रम शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ होता है परिश्रम करना। तात्पर्यत: आश्रम का आशय जीवन के उन विभिन्न स्तरों से है जहाँ व्यक्ति को अनेक प्रकार का श्रम अथवा प्रयास करना होता है। लिहाजा आश्रम व्यवस्था भारतीय मनुष्य द्वारा प्रतिपादित एक ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज एवं भारतीय मानव को प्राणवृत करते हुए, इस भवसागर में आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान करते आई है। प्राचीन भारत के हिन्दू समाज का अपरिहार्य अंग आश्रम व्यवस्था था।[1] हमारे व्यवस्थाकारों ने झंकृत सामाजिक जीवन को पुन: संगठित करने की दृष्टि से जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था को परिवर्धित स्वरूप प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक जीवन को विशेष पद्धति में निरूपित करने की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था की विधिवत् आधारशीला डाली गयी।

यद्यपि आश्रमों का संकेत हमें वेदों में भी प्राप्त होता है परन्तु व्यवस्थित आश्रम संस्था इंगीकरण नहीं मिलता है। वेद एवं ब्राह्मण आदि के आश्रम व्यवस्था का परिचय हमें 'ब्रह्मचारी', 'गृहपति', 'वैरवानस' आदि शब्दों से प्राप्त होता है। उपनिषद् युग तक प्रारम्भिक तीन आश्रम कदाचित विकसित हो चुके थे, परन्तु एक सुव्यवस्थित संस्था के रूप में आश्रम व्यवस्था सूत्रकाल में ही पल्लवित हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन एवं पुनर्संगठन का युग था।

भारतीय मनिषियों ने जीवन के चार विभाग किये जो चार आश्रम कहलाए। यहाँ आश्रम का तात्पर्य व्यक्तिगत सुधार और संस्कार से हैं। अर्थात् भारतीय सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- ये चार आश्रम माने जाते थे। मानव जीवन के महान पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमश: प्रारित के चारों आश्रमों का विकास हुआ था। इसी पुरुषार्थचतुष्टय के आधार पर मनुष्य अवस्थाविशेषों में अपने जीवन से सम्बंधित कार्यक्रम को निश्चित कर लेता है। जिस प्रकार दैनिकचर्या में मनुष्य प्रात:काल से ही एक कार्य से दूसरे कार्य को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार एक-एक कालावधि में धर्म का प्रतिष्ठान करते हुए मनुष्य अपने भाग का आधार बनाता है और इसके पश्चात् भौतिक सुखों का आस्वादन करता है। फिर सभी भौतिक सुखों को त्याग कर अपने अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ता है और अक्षय शांति हेतु अनुष्ठान में संलग्न होता है। नि:संदेह मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक विभाग का यह पहला शास्त्रीय प्रयास[2] था न कि पलायन का।

हिन्दू धर्म का सामाजिक जीवन या व्यक्तिगत जीवन पूर्णरूपेण अध्यात्मिक रहा है। जीवन के प्रारंभिक अवस्था से ही इस अध्यात्मिक जीवन की कार्यशैली चलती रहती है। आश्रम व्यवस्था के आधार पर जीवन के प्रत्येक भाग को नियमित किया गया है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के प्रत्येक अवस्था के और हर अवसर के कर्त्तव्य इसके अधीन निर्धारित है जिससे वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता है। इन आश्रमों की कल्पना का आधार पर विचार करने के क्रम में यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है।[3] प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों ऋषियों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरूण, अग्नि देवताओं का भी मनुष्य ऋणी होता है क्योंकि इन्हीं के कृपा से वह प्रकाश, जल उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता।[4] अत: मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि के द्वारा उनके ऋण को अदा करे। प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती है कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझटों में ही न बिता दे अपितु ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रथी और सन्यासी होकर अपना जीवन व्यय व्यतीत करे।

आश्रम व्यवस्था को वर्तमान के संदर्भ में रखकर देखा जाए ते यह स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की पुरानी पद्धति अब नहीं रही। मनुष्य के अपने प्रति और अपने समाज के प्रति कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रहे। समाज में कई प्रकार के अमानवीय तत्वों का समायोजन हो चुका है। सामंती व्यवस्था और पूँजीवाद ने वर्ग संघर्ष को उत्पन्न कर समाज में विघटन की प्रवृति को बढ़ावा दिया। ऐसा लगता है कि आज के संदर्भ में आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता को सिद्ध कर पाना एक मुश्किल कार्य लगता है। तथापित स्मृतियों की आश्रम व्यवस्था मनुष्य के अध्यात्मिक लक्ष्य को लक्षित करने वाली है। यह व्यवस्था मनुष्य के जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग निर्देशन का कार्य करती है। इस व्यवस्था में कुछ ऐसे अमानवीय मूल्यों तथा विवेचन में अनावश्यक तत्वों का समायोजन हो चुका है जिनका पूर्णरूपेण निर्वाह कर पाना वर्तमान में सम्भव नहीं दिखता है। इसके बावजूद भी यदि चारों आश्रमों के सिद्धांतों पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह सम्भव है कि वर्तमान में तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और सन्यासी की प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सकता है लेकिन वानप्रस्थ आश्रम व्यवस्था की सिद्धांत को आज के युग में सिद्ध करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसके पीछे वजह है कि प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथ भी वानप्रस्थ को स्वीकार नहीं करते हैं, जिनमें याज्ञ वल्क्यस्मृति भी शामिल है।

मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम व्यवस्था के यही चार मान्यक्रम है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे आश्रम में प्रवेश करने के लिए अपनी नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का विकास करता है जिससे नये उत्तरदायित्व की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। जाबालोपनिषद में यह उल्लेखित है कि ब्राह्मण प्रथम आश्रम के उपरांत सीधे सन्यास आश्रम को ग्रहण कर सकते हैं।[5] जबकि स्मृतिकारों के अनुसार मनुष्य जीवन का प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य का होता है और इसके बाद वह गृहस्थ, वानप्रस्थ से होते हुए जीवन से मोक्ष की प्राप्ति के लिए सन्यासी का जीवन व्यतीत करता है। सूत्रकारों के अनुसार आश्रम व्यवस्था जीवन का नियामक रूप थी, नियमित जीवन का काल चक्र थी एवं उच्चतर ध्येय की प्राप्ति हेतु श्रृंखलागत प्रयास थी। यहाँ हम आश्रम व्यवस्था की वर्तमान के संदर्भ में प्रासंगिकता को सिद्ध करने का प्रयास सूत्रयुगीन चतुराश्रमों का क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित किया गया है। स्मृतिकारों के अनुसार ब्रह्मचर्य मानव जीवन का प्रथम आश्रम होता है।[6] यह आश्रम अध्ययन एवं अनुशासन का काल होता है। इस काल में मनुष्य गुरूकुल

में रहकर शिक्षा ग्रहण करता है।[7] शिक्षा के लिए मुख्य रूप से वेदों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। जीवन के प्रारम्भिक कोमल वर्षो में बालक एवं तरूण को आनेवाले दायित्व को निभाने की क्षमता से पूरित किया जाता था।[8] शक्ति संचय गुण पल्लवन एवं व्यक्तित्व के विकास का समय माना जाता था। इस अवस्था में विद्याध्ययन से पूर्व उपनयन संस्कार को अनिवार्य माना जाता था। इसके बाद ही बालक ब्रह्मचारी कहलाता था एवं गुरू से शिक्षण प्राप्त करने का अधिकारी बनता था। ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था जीवन के प्रारंभिक पच्चीस वर्ष निर्धारित किये गये थे। सूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी को गुरूसेवा, वाक् संयम, समिधादान, नित्य स्नान, यज्ञ, अध्ययन आदि कर्त्तव्य करने की आवश्यकता पर बल दिया गया था।[9]

आज भी हम देखते हैं कि वेदों के अलावे भी ज्ञान के अनेक शास्त्र को अपनाया गया है आज भी जीवन के प्रारंभिक दिनों में उचित रीति से अध्ययन कर बच्चों के अच्छे चरित्र निर्माण की अभिलषा करते हैं। यह सही है कि स्मृतिकारों ने जिस तरह की व्यवस्था प्राचीन काल में बच्चों के शील निर्माण हेतु नियम बनाये वे आज भी शत-प्रतिशत प्रासंगिक है। स्मृतिकारों ने गृहस्थ आश्रम के लिए जिन मौलिक कर्त्तव्यों की चर्चा है वे आज भी वर्तमान सामाजिक परिवेश में पूर्णरूपेण प्रासंगिक है। स्मृति ग्रंथों में मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम तीनों का समुचित रीति से उपयोग करने की सलाह दी गई है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य था कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें और अपने पारिवारिक दायित्व का निवार्ह करें। यह कहा गया है कि जो देवता, पितर, अतिथि, सेवक और आत्मा इन पांचों को अन्न नहीं देता है वह जीते हुए भी मरे के समान है।[10] यह आज भी सत्य है क्योंकि ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि ये सभी कुटुम्बियों में ही आशा करते रहे हैं। लेकिन जिस पंचयज्ञ का उल्लेख स्मृति ग्रंथों में किया गया है उसकी प्रासंगिकता पर आज संदेह के घेरे में है। किन्तु माता-पिता तथा गुरू की भक्ति करने वाला गृहस्थ निश्चित रूप से उच्च आदर्शों वाला होगा। आज भी इनके आशीर्वाद से ही बच्चे मनोनुकूल फल की प्राप्ति है। गृहस्थ के लिए धर्मपूर्वक धनोपार्जन करने, सत्यवादिता तथा आत्मतत्व के ध्यान में लीन रहने की जो बातें कही गई हैं वह आज भी उचित हैं क्योंकि मनुष्य संतोषपूर्वक अपने जीवन को संचालित कर सके और असंतोष का त्याग कर सके। गृहस्थ आश्रम में सर्वाधिक महत्व संतान प्राप्ति द्वारा समाज वृद्धि में निहित था। इस आश्रम को ही मनुष्य के यज्ञ सम्पादन और पितृऋण से उऋण होने के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती थी।[11] आज के संदर्भ में ये दोनों बातें प्रासंगिकता का निर्वाह करने वाली है। इसलिए स्मृतिकारों ने कहा है कि गृहस्थी जीवन को पूर्णता में जीनेवाला व्यक्ति ही उच्च वानप्रस्थी और संन्यासी बन सकता है।

सूत्र काल प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वृद्धावस्था के प्रारम्भ हो जाने पर वह पारिवारिक जीवन का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। सूत्रकाल में अधिकांशतः ब्राह्मण ही वानप्रस्थाश्रम गये थे ये वृक्ष के नीचे रहते।[12] मृगचर्म या वृक्षों के छाल से निर्मित आच्छादान तन पर धारण करते।[13] एवं स्वाध्याय में लीन रहते थे।[14] ये पंचमहायज्ञ का सम्पादन भी करते थे। यद्यपि आज के संदर्भ में वानप्रस्थ आश्रम प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है लेकिन वानप्रस्थियों के लिए जो नियम प्रतिपादित किये गए थे कि मनुष्य को तीसरे चरण में सांसारिकता से अपने आपको विमुख कर देना चाहिए यह आज के युग में किसी भी दृष्टिकोण से तार्किक प्रतीत नहीं होता है।

आज परिवार की व्यवस्था में काफी परिवर्तन हो गया है। सामाजिक स्तरों पर भी पहले की तुलना में काफी अन्तर देखने को मिलते है। आज संयुक्त परिवार को सही दिशा-निर्देश देने के लिए तीसरे चरण के व्यक्तियों की अति आवश्यकता होती है। ताकि अपने अतीत को ध्यान में रखकर भविष्य का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। अतः व्यक्ति के अनुभव से लाभ प्राप्त किया जा सके। इसी

तरह सन्यास आश्रम के बारे में जो स्मृतियों में कही गई है वह आज के युग में शायद ही सम्भव हो पाये। लेकिन सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया, क्रोध असत्य से दूर रहना आदि जो निर्देश दिए गए है उनका पालन आज भी मनुष्य को अपने अंतिम समय तक करना चाहिए। इस प्रकार से रहकर ही मनुष्य सुखपूर्वक और चिंतनमुक्त होकर अपना शरीर त्याग कर सकता है। इस तरह मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतिकारों ने आश्रम व्यवस्था को जिस रूप में प्रतिपादित किया है उनमें से अधिकांश तत्वों को आज युग में कुछ बदलाव के साथ हमारे सामाजिक जीवन में प्रासंगिक बने हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि स्मृति ग्रंथों में मौलिक आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी प्रकार के अनुचित कार्यों को महत्व एवं स्थान नहीं दिया गया था। स्मृतिकारों के द्वारा आश्रम व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से व्यवस्थित किया गया है जिससे मानव जीवन की आवश्यकताओं में संतुलन कायम रहे। संसार की किसी सभ्यता में मनुष्य के जीवन का विभाजन इतने वैज्ञानिक ढ़ंग से नहीं किया था। गृहस्थ जीवन को परिष्कृत करने के लिए सोलह संस्कारों का विधान था जो आज भी मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक क्रमागत में चलता है।

आज भूमण्डीकरण और वैश्वीकरण के दौर में मनुष्य के जीवन में काफी बदलाव आया है। वर्तमान में मनुष्य की इच्छाएँ इतनी अनंत हो गयी है कि वह आमरण उसकी साथ नहीं छोड़ती। धर्म और मोक्ष पर अर्थ और काम ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। अतएव पुरुषार्थ अब दो ही रह गए हैं- अर्थ और काम। अब धर्म और मोक्ष की अभिलाषा मनुष्य से अतिदूर चला गया है। अत: मनुष्य को अपनी अस्तित्व को कायम रखने के लिए जीवन को सुव्यवस्थित ढ़ंग से चलने के लिए धर्म एवं मोक्ष की महत्व को समझने की जरूरत है इसके बिना मनुष्य को मानसिक संतुष्टि और उसकी जीवन यात्रा अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती और न ही सच्ची मानवीयता का विकास हो सकता है अत: जरूरत है कि आज भी आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन कर उसकी प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ:

1. शशीअवस्थी; प्राचीन भारतीय समाज, पृ. 180
2. राजवली पाण्डेय- प्राचीन भारत, पृ. 71
3. सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक, और आर्थिक जीवन, पृ. 191
4. वही- पूर्वोक्त - 191
5. जाबालोपनिषद- 6.38
6. बौधायन धर्मसूत्र - 62.6
7. मनुस्मृति- 2.175
8. मनुस्मृति- 1.184
9. गौतम धर्मसूत्र- 2.108
10. मनुस्मृति- 3.72
11. बौधायन धर्मसूत्र- 2.6.29.42
12. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.20
13. गौतम धर्म सूत्र- 3.34
14. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.22.9।

प्राचीन भारत में नारियों की स्थिति का विश्लेषणात्मक विवेचन

सुजीत कुमार

शोध छात्र, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

किसी भी सभ्यता के आत्मा को समझने तथा उसकी उपलब्धि एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है। स्त्रियों की स्थिति किसी भी देश की संस्कृति का मानदंड मानी जाती है। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को जानने के लिए हमें इन कालों के साक्ष्यों, साहित्यों आदि का अवलोकन करना पड़ता है। जिसके अध्ययन करने के फलस्वरूप हम यह पाते है कि प्रारंभिक अवस्था में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी, उन्हें पूज्यनीय माना जाता था, परंतु बाद के कालों में अर्थात जिस तरह कालों की अवस्था में परिवर्त्तन आता गया ठीक उसी तरह से स्त्रियों की दशा में भी परिवर्त्तन आता गया और हम देखते है कि आगे के अवस्था में स्त्रियों की स्थिति में सुधार की जगह गिरावट आती जा रही है। वैदिक काल में उनकी स्थिति परवर्त्ती काल के सापेक्ष काफी अच्छी थी। इन बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के लिए हमें विभिन्न पहलुओं को देखना होगा।

प्रारंभिक दशा

अनेक साहित्यों के अध्ययन के फलस्वरूप हम पाते है कि प्राचीन अवस्था में हिन्दु सभ्यता में स्त्रियों को अत्यंत गरिमापूर्ण और आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारत की प्राचीनतम सभ्यता (सैंघव सभ्यता) में धर्म में माता को देवी के समान सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है, उस समय के समाज में इसे उन्नत स्त्री दशा का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वैदिक काल में भी समाज ने स्त्रियों को आदरपूर्ण स्थान दिया है। उस समय में स्त्रियों को पुरूषों के समान धार्मिक और सामाजिक अधिकार दिये गये है। वैदिक काल में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता था। दंपत्ति घर के संयुक्त अधिकारी होते थे। भले ही वैदिक काल में समाज पितृसत्तात्मक था, फिर भी स्त्रियों की जितनी प्रतिष्ठा उस समय थी, उतनी बाद के किसी भी समय में नहीं रही। बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में उसे पत्नी, पुत्री (दुहिता) तथा माता के रूप में सम्मान दिया जाता था। इस समय कन्याओं को समान रूप से उच्च शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि अध्ययन के फलस्वरूप हम यह पाते है कि कहीं-कहीं कन्या के नाम पर चिंता व्यक्त की गयी है, तथापि कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते है जहाँ पिता विदुषी एवं योग्य कन्याओं की प्राप्ति के लिए विशेष धार्मिक अनुष्ठान करते थे। कन्याओं का उपनयन संस्कार भी होता था और वे भी ब्रह्मचर्य का जीवन

व्यतित करती थी। वैदिक काल में अनेक ऐसी विदुषी और दार्शनिक थी, जिन्होंने कई मंत्रों और ऋचाओं की रचना भी की है।

विश्वरा को **''ब्रह्मवादिनी''** तथा **''मंत्रद्रष्ट्री''** कहा गया है, जिसने ऋग्वेद के एक स्तोत्र की रचना की थी। घोषा लोपा, मुद्रा, शाश्वती, अपाला, इंद्राणी, सिकता आदि ऐसे विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है जो वैदिक मंत्रों तथा स्तोत्रों की रचयिता है। इस काल में कन्याओं का विवाह प्राय: 15-16 वर्ष की आयु में होता था और इस प्रकार उन्हें अध्ययन का प्रर्याप्त अवकाश मिल जाता था। इस समय समाज में सती तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था, परंतु कुछ दृष्टियों में स्त्रियों को अनुपयुक्त माना गया है, जैसे- उन्हें संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया है और वे शासन के योग्य भी नहीं थी।

वैदिक काल में स्त्रियों को संपत्ति और शासन के अधिकारों से वंचित रखने के लिए कुछ विशेष कारण को उत्तरदायी माना गया था। संपत्ति के अधिकार में उन्हें भू-संपत्ति और धन संबंधी अधिकार दोनों से वंचित रखा गया है। उन्हें उस समय भू-संपत्ति के अधिकार से इसलिए वंचित रखा गया, क्योंकि भू-स्वामित्व बलपूर्वक प्राप्त किये जाते थे और प्राप्त किये हुए भू-स्वामित्व को शत्रुओं से बचाकर रखना होता था। चूँकि यह कार्य स्त्री के वश का नहीं था। अत: उन्हें भू-संपत्ति के अधिकारों की मान्यता नहीं मिली। इसके साथ-साथ उन्हें धन-संबंधी अधिकारों से भी वंचित रखा गया, क्योंकि लोगों का यह मानना था कि स्त्रियाँ बलपूर्वक कोई कार्य नहीं कर सकती है। अत: वे धनों की रक्षा किस प्रकार करेंगी। अत: इन सब कारणों से उन्हें धन संबंधी अधिकार नहीं प्राप्त हुए। इसी प्रकार की असमर्थता शासन के क्षेत्र में भी था, चूँकि उस समय आर्य एक विदेशी भूमि में क्रमश: अपने राज्य को स्थापित कर रहे थे और उनके शत्रुओं की संख्या भी अधिक थी। अत: ऐसी स्थिति में शासन संबंधी अधिकार स्त्री को देना, उनके नवगठित राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था।

इस तरह से हम देखते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी, सिवाय संपत्ति एवं शासन संबंधी अधिकारों के। लेकिन राजपूत काल तक आते-आते उनकी स्थिति में काफी परिवर्त्तन हो चुका था। समय के प्रवाह के साथ देखते है कि स्त्री की शिक्षा में कुछ गिरावट आती है। कन्याओं को गुरूकुल में शिक्षा प्राप्त करने की जो प्रथा थी वह समाप्त हो जाती है और वे घर पर ही अपने पिता, भाई या चाचा से शिक्षा ग्रहण करती थी। ऐसी स्थिति में केवल कुलीन परिवार की स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। इसी तरह की स्थिति उनकी वैवाहिक संबंधी अधिकारों में भी देखा जाता है। पहले जैसे व्यस्क होने पर कन्या का विवाह होता था और कभी-कभी वे स्वयं अपने इच्छानुसार पति को चुनती थी। क्षत्रिय समाज में जो स्वयंवर की प्रथा थी और इस समय जो सती प्रथा का अभाव था और विधवा विवाह होते थे तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन भी नहीं था, अब इन सब के स्वरूप में परिवर्त्तन आ जाता है।

अब इनका विवाह यौवनावस्था से पूर्व होने लगता है। अनेक प्रकार के विवाहों में केवल चार प्रकार के विवाह ही मान्य रह जाते है- **ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाह**। स्त्रियों का अब उपनयन संस्कार भी बंद हो जाता है और विवाह के अतिरिक्त उनसे संबंधित अन्य संस्कारों में वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं होता था। कन्याओं की विवाह की आयु भी घटा दी जाती है जिसके कारण उन्हें शिक्षा ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ईसवी सन् के प्रथमार्ध तक अधिकांश कन्याओं का विधिवत् उपनयन औपचारिकता मात्र रह गया तथा इसे विवाह के कुछ पूर्व संपादित कर दिया

जाता था। आगे के कालों में देखा जाता है कि इसे पूर्णतया बंद कर दिया गया तथा अब विवाह को ही उपनयन का विकल्प मान लिया गया। अब कन्याओं के विवाह के आयु में कमी हो जाती है पहले जो कन्याओं का विवाह व्यस्क होने पर होता था, अब कन्याओं का विवाह नौ से बारह वर्ष तक की आयु में किया जाने लगा। उपनयन संस्कारों के अभाव में कन्या की स्थिति शूद्रों की श्रेणी में की जाने लगी। देखा जाता है कि संपूर्ण प्राचीनकाल में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती है, लगातार उनकी स्थिति में गिरावट आती जाती है।

सूत्रों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। वशिष्ठ के अनुसार ''स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है। बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करते है।'' मनु आदि कुछ अन्य स्मृतिकारों ने भी इस मत का समर्थन किया है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि पति के दुराचारी तथा चरित्रहीन होने की दशा में भी पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह देवता के समान उसकी पूजा करे।

ईसा पूर्व दुसरी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी तक का समय उत्तरी भारत में विदेशी आक्रमणों का काल रहा जिससे समाज में भारी अव्यवस्था फैल गयी। इसने स्त्रियों की स्थिति को प्रभावित किया। नियोग तथा पुनर्विवाह की प्रथायें बंद हो गयी। प्रारंभिक काल में नियोग प्रथा मातृत्वसुख के लिए एक अनोखी प्रथा थी। अगर आधुनिक दृष्टि या फिर उसके बाद के कालों की दृष्टि से देखा जाये तो इस प्रथा को हेय की दृष्टि से देखा जाता है और स्त्री के चरित्र पर उँगली उठाता है। परन्तु मातृत्व सुख की दृष्टि से देखा जाये तो शायद यह प्रथा कुछ गलत नहीं थी और उस समय के कालों के लिए यह प्रथा स्त्रियों के लिए जरूरी भी था। संपत्तियों पर स्त्रियों का आधिपत्य नहीं था और इसके साथ-साथ उस समय का समाज पुरूष प्रधान था। अत: जिस स्त्री को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती थी और जो विधवा होती थी, उन स्त्रियों का इन चीजों के अभाव में जीवन यापन करना बहुत ही कठिन होता था। नियोग प्रथा के द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार की गई। अत: यह प्रथा शायद उस समय के लिए उचित थी, परंतु बाद के कालों में इन प्रथाओं को बंद कर दिया गया। स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह करने के स्थान पर संयास द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया, जिससे समाज में सती प्रथा का भी प्रचलन हो गया और इसे एक महान धार्मिक यज्ञ बताया गया। इससे स्त्रियों की दशा और खराब हो गयी, किंतु एक दिशा में स्त्री की दशा में सुधार हुआ, वह है संपत्ति का अधिकार। वैदिक काल में उसे संपत्ति अधिकार प्रदान नहीं किये गये थे। अब पुनर्विवाहों के अभाव में विधवा एवं पुत्रहीन स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। अत: उनके धन संबंधी अधिकारों को मान्यता देना प्रारंभ किया एवं क्रमश: उनका यह अधिकार मान्य हो गया। अत: देखते है कि आगे के कालों में स्त्रियों की दशा निरंतर पतन्मोमुख होती गयी। एक मात्र उसके धन संबंधी अधिकारों को ही समाज में मान्यता प्रदान की गयी। 12वीं शदी तक आते-आते संपूर्ण देश में विधवा के मृत पति का उतराधिकारी होने का सिद्धांत व्यवहारिक रूपों से स्वीकार कर लिया गया। स्त्री की स्वयं की संपत्ति जिसके ऊपर उसका पूरा अधिकार होता था **''स्त्री धन''** कहा गया। किंतु जीवन के अन्य क्षेत्रों में उनकी दशा पूर्ववत् दयनीय बनी रही। उपनयन की समाप्ति एवं बाल विवाह के प्रचलन ने उसे समाज में अत्यंत निम्न स्थिति में ला दिया। विधवा विवाह बंद हो गया तथा सती प्रथा का राजपूत कुलों में विशेष प्रचलन हो गया। राजपूत वंशों के कन्याओं का विवाह 14 या 15 वर्ष की आयु में होता था। कई कन्याओं को संरक्षिका के रूप में शासन भार भी ग्रहण करना पड़ता था, अत: उन्हें प्रशासनिक एवं सैनिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इससे उनके विवाहों की आयु में कुछ वृद्धि हुई, किंतु अशासकीय परिवारों की कन्याओं का विवाह अल्पायु में ही होता था।

सती प्रथा

सती प्रथा का प्रारंभ भारतीय समाज में चतुर्थ शदी ईसा पूर्व के बाद किसी समय हुआ होगा। वैदिक समाज में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी तथा विधवा विवाह द्वारा स्त्रियाँ अपना घर बसाती थी। ब्राह्मण साहित्य तथा गृह सूत्रों में भी इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। धर्म सूत्रों तथा प्रारंभिक स्मृतियों से भी सती प्रथा के प्रचलित होने का संकेत नहीं मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चतुर्थ शदी तक सती प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज में नहीं था। पुराणों में कुछ स्त्री के सती होने का उल्लेख मिलता है। इससे यह पता चलता है कि चतुर्थ शदी ईसवी के लगभग जब पुराणों का वर्त्तमान स्वरूप निर्धारित हो रहा था, तो सती प्रथा समाज में आधार प्राप्त कर रही थी। ऐसे सती प्रथा के प्रचलन का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य गुप्तकाल का 510 ई0 के ऐरण लेख में मिलता है। इससे यह पता चलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त का मित्र गोपराज हूणों के विरूद्ध लड़ता हुआ मारा गया तथा उसकी पत्नी अग्नि में जल मरी थी। **हर्षचरित** से भी पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन की पत्नी यशोमती अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही सती हो गयी थी। इसी तरह से और अन्य कई ऐसे साक्ष्य है जिससे यह पता चलता है कि सती प्रथा उस समय उच्च वर्ग से संबंधित थी। यह कुप्रथा प्राचीन काल में कभी भी आम जन जीवन को प्रभावित नहीं कर सका। सातवीं से ग्यारहवीं शदी तक के काल में उत्तरी भारत में यह प्रथा काफी प्रचलित हो गयी। कश्मीर में इसका काफी प्रचार-प्रसार हुआ। **कल्हण** की राजतरंगिणी से सती प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते है। राजकुल में इसका व्यापक प्रचलन था। यहाँ तक की शासकों के रखैल तथा वेश्यायें तक सती होती थी। इस प्रथा को ब्राह्मण परिवारों के लिए निषिद्ध बताया गया, किंतु दसवीं शदी से हम ब्राह्मणों में भी इस प्रथा का प्रचलन पाते है।

बारहवीं शदी के बाद राजपूत कुलों में सती प्रथा का अत्याधिक प्रचलन शुरू हो गया। जिसे बाद के कालों में अर्थात मुगल शासक अकबर ने इसे रोकने का प्रयास किया किंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंततः 19वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान राजाराम मोहन राय के प्रयास से लॉर्ड विलियम बेंटिक के समय में 1829 में कानून बनाकर इस कुप्रथा को बंद कर दिया गया।

संदर्भः

1. प्राचीन भारत का परिचय- राम शरण शर्मा
2. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति- राम शरण शर्मा
3. प्राचीन भारत का इतिहास- झा एण्ड श्री माली
4. मौर्य साम्राज्य का इतिहास- सत्यकेतु विद्यालंकार
5. प्राचीन भारत- एल.पी. शर्मा
6. प्राचीन भारत का इतिहास- त्रिपाठी
7. नंद मौर्ययुगीन भारत- शास्त्री नीलकंठ
8. द कैब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया- ई.आर.रैप्सन संपादित
9. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास- पाण्डेय बी.सी.
10. भारतीय दर्शन- चट्येपाध्याय एवं दत्त।

नीलहा आन्दोलन का राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्व

डॉ. श्याम कुमार

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार में महात्मा गाँधी का "सत्याग्रह प्रयोग" राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष को चम्पारण सत्यग्रहण के रूप में एक नई दिशा प्रदान की हैं परन्तू सत्य और आहिंसा की कर्मस्थली चम्पारण आज वैश्वीकरण के युग में नीलहों के आतंक से उबर का उमीन्दारों के आतंक में चलते माओवादी जन आन्दोलनों के कारण अपनी अस्मिता खोता जा रहा है।

दुनिया के इतिहास की अन्य क्रान्तियों की तरह चम्पारण का आन्दोलन एक शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था की भीषण बुराईयों के विरुद्ध असंतोष तथा प्रतिरोध का परिणाम था। चम्पारण का आन्दोलन विशुद्ध किसानों का आन्दोलन था। 1916 के कांग्रेस के ऐतिहासिक लखनऊ अधिवेशन में गाँधी जी एक मूक दर्शक की हैसियत से शरीक हुए किन्तु वहीं उन्हें एक सूत्र मिला जिसके द्वारा वे बिहार के चम्पारण जिले में अपने "सत्याग्रह" नामक अस्त्र का सफल प्रयोग किये।

गाँधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का यह सफल प्रयोग आहिंसा, सत्य एवं शोषित दलित समूह के जागरण तथा उन्मुक्ति पर बल देने के कारण सर्वथा अद्वितीय था।

चम्पारण का यह मामला बहुत पुराना था 19वीं सदी के आरंभ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध करा लिया था, जिसके अन्तर्गत किसानों को अपनी जमीन के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था।, एवं इसे "तिनकटिया" पद्धति कहा जाता है। इतना ही नहीं अंग्रेजी में चम्पारण जिले में नील बनाने के अनेकों कारखाने खोल रखे थे तथा अनेकों गांवों की माल गुजारी वसूल करने का ठेका भी उनके पास था यूरोनीय निलहे दो तरीकों से नील की खेती करते थें।–

1. जीरात–इसके अन्तर्गत सीधे वे अपनी देख-रेख में अपने ससांधनों से नील की खेती करते थे।
2. आसामीबार–इसमें कोठी वाला साहग रैयतों के द्वारा उन्हीं के खेत में नील की खेती करते थे, परन्तु चम्पारण में तिनकठिया प्रणाली अत्यधिक प्रचलित था डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि किसी भी रैयत को हिम्मत नहीं होती थी कि वह नील बोने से इनकार करे और अगर कोई भी हिम्मत करता था तो उस पर काफी जुल्म ढाये जाते थे नील बोने का कार्य सबसे पहले करना पड़ता था और फसल तैयार हो जाने पर उसे काटकर कोठी पर पहुंचाना पड़ता था नीलवार तथा अत्यचार इतना अधिक था कि उन्हें तरह-तरह के नजराने भी कोठी को देना पड़ता था।

यद्यपि 31 मार्च 1913 को ब्रजकिशोर ने बिहार उड़ीसा लेजेस्लेटिव कौंसिल में चम्पारण की समस्या को उठाया मुख्य सचिव मैक्फर्सन ने समस्या के समाधान का वचन देकर भी मुकर गये। चम्पारण की स्थिति पर समाचार पत्रों के भी लगातार निबन्ध प्रकाशित किये। कानपुर से प्रकाशित प्रताप ने 29 नवम्बर 1914, 13 दिसम्बर 1914 तथा जनवरी 1915 को अपने अंक में चम्पारण की दुखद स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला। इसी प्रकार इलाहबाद से प्रकाशित "अभ्युदय" तथा कलकत्ता से प्रकाशित "भारत मित्र" में भी लेख प्रकाशित हुए। मार्च 1916 में "प्रताप" में चम्पारण की प्रजा पर अत्याचार शीर्षक से अपील प्रकाशित कर प्रबुद्ध एवं शिक्षित वर्गों तथा समाचार पत्रों के संपादकों से अनुरोध किया गया कि वे चम्पारण के नीलहे गोरों के अत्याचारों से संबंधित प्रमाणित जानकारी उपलब्ध कराये।

चम्पारण में लोगों का असंतोष बढ़ता जा रहा था और नीलहे लोगों की सख्ती बढ़ती जा रही थी। अत: चम्पारण के किसान राजकुमार शुक्ल ने जो निलहे के अतंक से पीड़ित थे, आन्दोलन के लिये प्रयत्नशील हो गये महात्मा गाँधी के लखनऊ कांग्रेस में शामिल होने की खबर पाकर राजकुमार शुक्ल गाँधी को बुलाने हेतु पहुंचाने गये। गाँधी ने इस आमंत्रण को स्वीकार करते हुए कलकत्ता से वापसी के समय चम्पारण आना स्वीकार कर लिया। इस खबर को पाकर चम्पारण के किसानों में एक नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ।

3 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल को तार द्वारा सूचित किया कि वे कलकत्ता जा रहे हैं वे वहां भूपेन्द्र नाथ बसु के आवास पर आकर उनसे मिले। गाँधी जी कलकत्ता से 9 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल के साथ प्रस्थान कर 10 अप्रैल को पटना पहुंचे। पटना में शुक्ल जी ने गाँधी जी को लेकर राजेन्द्र बाबू के आवास पर गये परन्तु राजेन्द्र बाबू का पुरी चले जाने के कारण कुछ देर बाद वे मजहरूल साहब के यहाँ चले गये।

इसी दिन संध्या समय गाँधी जी राजशुक्ल के साथ मुजफ्फरपुर के लिये प्रस्थान कर गये वहाँ कृपलानी जी (बी. वी. कॉलेज के प्राध्यापक) अपने छात्रों के साथ काफी गर्मजोशी के साथ उनका स्वागत अपने आवास पर किये। बिहार आने का गाँधी जी का उद्देश्य चम्पारण के कृषकों की स्थिति की जांच तथा निलहे साहबों से उनकी क्या शिकायतें थी इन बातों का अध्ययन करना था परन्तु 13 अप्रैल को तिरहुत संभाग के कमिशनर एल. एफ. मोरसेन्ड ने निर्देश दिया कि संभावित गड़बड़ी की आशंका को मद्धेनजर भारतीय दण्ड प्रक्रिया की धारा 144 के अन्तर्गत चम्पारण छोड़ने का निर्देश दें। 15 अप्रैल को गाँधी जी मोतिहारी गोरखबाबू के यहा पहुँचे तथा 16 अप्रैल को रामनवमी प्रसाद तथा बाबू धरणघर के साथ जसोली ग्राम पहुँचे, जहाँ कुछ दिन पहले गड़बड़ी हुई थी। बैशाख के प्रचण्ड गर्मी में पैदल ही वहां पहुंचे।

गाँधी जी जब चन्द्रहिया नामक गांव में किसानों से बात कर रहे थे। उसी समय इंस्पेक्टर अयोध्या प्रसाद तिवारी ने गाँधी जी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 144 के उल्लंघन की नोटिस देते हुए कहा की आपकी उपस्थिति शान्ति भगं कर सकती है अत: आप अगली रेलगाड़ी से मोतिहारी छोड़ दें। इतना ही नहीं उनकी गतिविधियों की निगरानी के लिये कलेक्टर ने इंस्पेक्टर कुर्बान अली को नियुक्त कर दिया।

परन्तु गाँधी जी कलेक्टर को पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं जिला से बाहर जाने में असमर्थ हूं और जब तक में स्वतंत्र हूँ जाँच कार्य करता रहूंगा।

राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि 18 अप्रैल 1917 का दिन केवल चम्पारण के लिये नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत के लिये स्मरणीय दिन है। जब महात्मा गाँधी जब बिहार प्रान्त के गरीब और पीड़ित लोगों के लिये जेल जाने की तैयारी कर रहे थे। मोतिहारी के अनुमडण्ल अधिकारी के समय अदालत खचा खच भरी हुई थी जिसमें गाँधी जी अपना बयान दे रहे थे। 21 अप्रैल सुबह 7 बजे जिला मजिस्ट्रेड ने पत्र लिखकर गाँधी जी को सूचित किया कि गर्वनर ने उन पर से मुकद्मा उठा लिये जाने की सूचना दी। गाँधी जी ने लेफ्टिनेन्ट गर्वनर के प्राईवेट सचिव को इसके लिये तार द्वारा धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् गाँधी जी ने बेतिया जाने का प्रस्ताव रखा जहां किसानों पर नीलहे कोठी वालों का अमन चक्र चल रहा था। 23 अप्रैल को गाँधी जी बेतिया सब डिविजन ऑफिसर डब्लू. एच. लेविस से मिले।

बेतिया में ब्रजकिशोर प्रसाद राजेन्द्र प्रसाद शभुशरण अनेग्रह नारायण सिह धरणीधर रामनवमी प्रसाद जनकधारी प्रसाद तथा विंध्यवासिनी प्रसाद मुख्य रूप से बयान लिखने का काम करते थे गाँधी जी बेतिया के ग्रामीण इलाकों में भी गये 2500 रैयतों का बयान लिये। जैसे-जैसे बयान लिखने का काम चलता रहा कोठी वालों की बैचेनी बढ़ती गयी और गाँधी जी को बदनाम करने के लिये बिहार प्लाटर्स संघ के सचिव हर्बर्ट काक्स ने निरहुत प्रमण्डल के आयुक्त मोरसेड को पत्र लिखा कि गाँधी के इस जिले में आने में व्यवस्था फेल गयी है।

24 मई 1917 ई. को भारत सरकार के गृह विभाग से बिहार उड़ीसा सरकार के मुख्य सचिव का तार आया कि भारत सरकार एक जाँच कमिटी गठित कर रही हैं जिला अध्यक्ष मध्य प्रदेश के आयुक्त एफ. जी. स्लाई होगा। समिति का जाँच 14 अगस्त तक चला।

3 अक्टुबर को सर्वसम्मति से रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई। 29 नम्वम्बर 1917 को मिस्टर मॉड ने चम्पारण कृषि विधेयक को विधान परिषद में पेश किया। जिसकी स्वीकृति 4 मार्च 1918 को मिल गई। जिसकी निम्नलिखित धाराएँ है।

1. तिनकटिया को उठा दिया जाय एवं इसे नाजायज समझा जाय।
2. शरहवैशी तुरकोलिया कोठी की हालत में पहली आसीन 1325 फसली से सैकड़े 20 रुपये तथा अन्य में सैकड़े 26 रुपये घटा देगे।
3. अबवाव नजायज हैं तथा रैयत लगान एवं शेष के लिये बिना कोई फीस, तहरीर या हिस्सा दिये हुए रशीद पाने का मुशतहद है।
4. वसूले गये तवान में एक चौथाई किसानों को लोटाने की व्यवस्था थी।

गाँधी जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है। कि समिति की रिपोर्ट सर्वसम्मत उनकी आसंकाओं के अनुरूप कृषि विधेयक पारित हो उसका सबसे बड़ा श्रेय एडवर्ड गेट को है। इस प्रकार कोठी वालों के अनुचित लाभ का द्वार सदा के लिये बन्द हो गया और वह रैयतों का नैतिक विजय था।

इसके अतिरिक्त गाँधी जी ने चम्पारण में शिक्षा एवं समाज सुधार संबंधी कार्य की और भी ध्यान दिये। यहां की जनता घोर अज्ञानता एवं गंदगी में जीने के लिये विवश है। अत: उन्होंने गांव वालों को शिक्षित करने का निश्चय किया। 8 नबम्वर 1917 को महाराष्ट्र और गुजरात से कुछ महिलाओं और पुरूषों को लेकर मोतिहारी लोटे एवं मोतिहारी जिलाधिकारी जे. एल. मेरिमेन को आश्वासन दिया कि वे अब रैयतों एवं प्लान्टर्सों के विवाद से अलग रहकर समाज सुधार की ओर ध्यान देगे।

14 नबम्वर 1917 को बड़हरवा लखनसेन में स्कूल स्थापित किये जिसमें बवन गोपाल गोखले एवं उनकी पत्नी अवतिका गोखले शिक्षक नियुक्त किये गये। 20 नबम्वर को भितिहरवा में दूसरी पाठशाला स्थापित की गई जिसमें शिक्षक सदाशिव लक्ष्मण सोमन प्राणलाल प्रभूराम योगी बनाये गये। फरवरी 1918 में भितिहरवा में कन्या पाठशाला खोल दी गई इसमें आनंदी बाई तथा दुर्गाबाई अध्यापिका थी। इसमें छात्रों की सख्या 85 थी बड़हरवा पाठशाला ने शीघ्र ही एक आश्रम का रूप ले लिया और गांव की औरतों से पर्दा प्रथा कमजोर होने लगा एवं खर्चा काटना पड़ना लिखना एवं रामायण पाठ एवं ग्रामीण उत्सवों का अयोजन आश्रम की योजना में शामिल हो गया।

चम्पारण में गाँधी जी का ग्राम सुधार कार्यक्रम चल ही रहा था तभी अहमदाबाद से अनसुया बहन का बुलावा आ गया एवं फरवरी 1918 में गाँधी जी को जाना पड़ा। परन्तु समाज सुधार का कार्यक्रम पूर्ववत चलता रहा। इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार चम्पारण में सत्य और अहिंसा का एक महान प्रयोग किया गया था। गाँधी जी ने 6 मार्च 1925 को बाबू जनकधारी प्रसाद को एक पत्र लिखा-

"चम्पारण के निष्ठावान सहकर्मियों की याद मुझे हमेशा रहेगी। इससे अधिक निष्ठावान दल के साथ काम करने का मौका मुझे न पहले मिला था न फिर कभी मिल सकेगा। अगर मुझे देशभर में ऐसे लोग मिले तो भारत को स्वराज मिलने मे देर न लगेगी।"

गाँधी जी के शब्दों में-चम्पारण संघर्ष इस बात पर प्रमाण था कि किसी भी क्षमत्र में जनता की नि:स्वार्थ सेवा देश को राजनीतिक दृष्टि से अन्तत सहायता प्रदान करती है।

गाँधी जी का चम्पारण आन्दोलन कार्य उद्देश्य, दृष्टिकोण और परिणाम में दृष्टि से मुख्यत: मानवतावादी था। इसने लम्बे समय से चले आ रहे निलहे गोरों के अत्याचारों से रैयतों को छुटकारा दिलाया उनके लिये सामाजिक न्याय प्राप्त किया और अन्य सामाजिक बुराईयों के उन्मुलन की कोशिश की जिनसे वे बुरी तरह पीड़ित थें।

इसने इन्हे निर्भयता और सत्यता का पाठ पढ़ाया जो भारतीय स्वतंत्रता के रूप में काफी साहयक सिद्ध हुआ सामाजिक उन्नति शिक्षा और गाँवों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये गाँधी जी ने जो प्रयोग किये सचमुच आज के आन्दोलनों के पूर्वाभ्यास थे, जो भारतीय स्वतंत्रता के समय हुआ था।

संदर्भ:

1. दत्त: वि. स्वा. आ. खण्ड। पृ. 128
2. श्रीवास्तव–बिहार में राष्ट्रीयता-पृ. 75
3. प्रसाद राजेन्द्र–आत्मकथा साहित्य संसार पटना 1947 पृ. 90
4. सर्चलाईट-2 अक्टूबर 1972
5. बिहार लेण्ड रेवेन्यु ए प्रोसीडिग्स न. 9-12 आफ मार्च 1913
6. वही-न. 22-23–ऑफ दिसम्बर 1915
7. बिहार पॉलिटिकल डिपार्टमेंटल फाईल न. 1217 आफ 1916
8. सिंह–मेरे संस्मरण पृ. 8
9. दत्त के. के. राजेन्द्र प्रसाद आनुवाद प्रफुल्लाचन्द्र ओझा सूचना प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1978 पृ. 32
10. मोहन दास करमचन्द्र गाँधी -आत्मकथा 1956 पृ. 50

अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था
एक आर्थिक विश्लेषण

डॉ. मनीष कुमार शर्मा

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

Abstract

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस नीति की व्यापकता अलाउद्दीन खिलजी की दूरदर्शिता एवं व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक था। इतिहासकार आज भी इसे आश्चर्य से देखते हैं। डॉ0 एस0 रॉय जिन्होंने उसक व्यक्तित्व और बाजार व्यवस्था की समीक्षा कर लिखा है कि अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान मुसलमान शासक-प्रबंधक था, जिन्होंने बाजार व्यवस्था द्वारा भारतीय इतिहास में अमिट छाप छोड़ी है। इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुल्तान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विश्लेषण:-

अलाउद्दीन खलजी (1296.1316 ई0) जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खजली का पुत्र था। अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म तिथि के बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता । ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई परन्तु वह शास्त्र-विद्या में निपुण हो गया। खलजी-क्रांति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और ब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ किया तथा मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में भी अजाउद्दीन महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे 'कड़ा-माणिकपुर' की सूबेदारी दी गई। 1296 ई0 में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ से अतुल सम्पति लूट कर लाया। इसके उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई उसी वक्त उसने जलालुद्दीन को माणिकपुर बुला कर धोखे से कत्ल कर दिया। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-माणिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया तथा अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दीनिया-बा-दीन मुहम्मद खलजी की उपाधि धारण की। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली सल्तनत का सर्वाधिक महत्वाकांक्षी एवं महत्वपूर्ण शासक माना जाता है। इन्हें महान कह कर नहीं पुकारा गया है, परन्तु वह महानता के काफी निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के सुलतानों में उसे महान स्वीकार करना अनुचित नहीं है। अलाउद्दीन के

समकालिक अमीर खुसरो और उसके परवर्ती इसामी दोनों ने अलाउद्दीन को 'एक भाग्यशाली व्यक्ति' कहा है। वह अपने प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधारों के लिए जाना जाता है। उसके राजस्व सम्बन्धी सुधार एवं बाजार नियंत्रण प्रणाली का अपना ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासकारों के अनुसार इस सुधार कार्यक्रम नें उसे एक मध्यकालीन राजनीतिक अर्थशास्त्री बना दिया। सुल्तान द्वारा बाजारों को नियंत्रित करना एवं दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण उस काल का अद्वितीय प्रयोग कहा जा सकता है। आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार नियंत्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना चाहता था। इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उसके इस विचार का आधार शेख नासिरूद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रंथ 'खायरूल-माजालिस' में शेख हमीदुद्दीन का एक संवाद है, जिसमें अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशंसा की गई है। अमीर खुसरो द्वारा 'खजाइनुल फूतूह' में भी अलाउद्दीन के बाजार व्यवस्था की प्रशंसा की गई है।

उद्देश्य एवं कारण–

इस नीति के कार्यान्वयन के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण बताये जाते हैं जिसमें प्रमुख थे–

1. सुलतान ने यह कदम अपनी विशाल सेना (पौने पाँच लाख सैनिक) की सुविधा का ख्याल रखते हुए उठाया था। उसने इससे पूर्व अपने सैनिकों के वेतन में वृद्धि की थी जो पर्याप्त नहीं थी।
2. साम्राज्य विस्तार के बढ़े प्रशासनिक व्यय को कम करने हेतु उसने यह कार्य किया था।
3. सुल्तान ने राजस्थान, गुजरात तथा दक्षिण भारत की विजयों से लूट द्वारा प्राप्त धन को खुले हाथों लुटाया था। इसके चलते हो रही मूल्य वृद्धि को नियंत्रित करना आवश्यक था।
4. डॉ0 ईश्वरी प्रसाद के अनुसार जनता के हित की भावना से प्रेरित होकर सुल्तान ने बाजार नियंत्रण की व्यवस्था शुरू की थी। यह बात नसीरूद्दीन की पुस्तक 'खेर-उल-मजलिस' से भी पुष्टि होती है। किंतु इतिहासकार वर्नी के अनुसार "यह नीति शाही सैनिकों एवं सरकारी लाभ के लिए थी।"

इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुल्तान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विविध पहलू –

बाजार नियंत्रण नीति के विभिन्न पहलूओं को तीन श्रेणी में बाँटा गया था–

दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण

खाद्यान्नों, वस्त्र, दास-दासियों, पशु आदि के मूल्य की सूचि तैयार करके सुल्तान ने बाजार में इन सब वस्तुओं का मूल्य नियंत्रित करा दिया था। मिश्री, हलवा, रेवड़ी, अन्य मिठाईयाँ, शाक-सब्जी, रोटी आदि के अतिरिक्त प्याले, कटोरे, मटकों, जूतों-चप्पलों, कंघी, पान-सुपारी आदि की भी कीमतें

तय की गई थी। वर्नी के शब्दों में "बादशाह ने बड़ी कठिनाई से एक सुई से लेकर सारी वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किया। उसने लाभ का प्रतिशत तय किया। इसकी एक सूची दुकानों में टँगवाई एवं दूसरी 'दीवान-ए-रियासत' के यहाँ रखवा दी।

सम्बन्धित विभाग एवं अधिकारीगण

सारी व्यवस्था का प्रधान 'दीवान-ए-रियासत' था। बादशाह ने अपने विश्वस्त अमीर याकुब की इस पद पर नियुक्ति की थी। दिल्ली के बाजार को तीन भागों में बाँटा गया था।

(i) शहना-ए-मण्डी (खाद्यान्न बाजार)

(ii) सराए-ए-अदल (कपड़ा बाजार) और

(iii) अन्य वस्तुओं का बाजार ।

प्रत्येक बाजार में तीन अधिकारी – निरीक्षक, बारीद (घुम-घुमकर सूचनाएँ एकत्रित करने वाला), मनुहियाना या गुप्तचर होते थे। बारीद अपनी सूचना 'शहना' के पास तथा वह दीवान-ए-रियासत को देता था। कर्त्तव्य की लापरवाही के कारण उन्हें दण्डित भी होना पड़ सकता था। 'दीवान-ए-रियासत' के याकूब बड़ा ही ईमानदार, कठोर, निष्ठुर एवं किसी के साथ कोई रियायत नहीं करने वाला था। अत: उसने अपनी कुशलता का परिचय दिया। अन्य अधिकारी भी उसके तथा सुलतान के भय से काफी तत्पर रहा करते थे।

बाजारों की व्यवस्था –

सभी प्रधान व्यवसायों की व्यवस्था अलग-अलग थी। सबके लिए अलग-अलग 'शहना' की नियुक्ति की गई थी। शहना अपने अधिकार क्षेत्र में स्वतंत्र होता था। वह शाही सूची की जाँच के लिए व्यवसायिकों तथा ग्राहकों से मिलकर जानकारी एकत्रित करता था। बाटों की भी जाँच की जाती थी। अधिक मुनाफा लेने वाले व्यापारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

व्यापारी मोटे तौर पर दो भागों में बँटे हुए थे– बाहर से माल लाने वाले एवं बाजार से वस्तु बेचनेवाले दीवाने-ए-रियासत उनकी सूची तैयार कर उन्हें व्यापार की इजाजत देता था। व्यापारियों को दिल्ली में रहने का आदेश मिला हुआ था। किसी भी गोल-माल के लिए सपरिवार दण्ड की व्यवस्था थी। दलाल बाजार से निकलवा दिए गए थे। रेशमी वस्त्र तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की खरीद के लिए भी पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। व्यापारियों की बेईमानी के लिए यद्यपि गुप्तचरों की व्यवस्था थी। फिर भी सुलतान कभी-कभी स्वयं अबोध दास बालकों से सामान मंगवाता था। जिसे पुन: तौलवाया जाता था। तौल घट जाने या अन्य किसी प्रकार के भी अपराध के लिए व्यापारियों को कोड़े मारने, कैद किए जाने अथवा अंग-भंग किए जाने के दण्ड का प्रावधान था।

इस बारे में यदि कोई अधिकारी भी दोषी पाया जाता था, तो उन्हें भी दण्डित किया जाता था। चाहे वह कितना भी बड़ा अधिकारी होता था। एक बार दुर्भिक्ष के नाम पर सुल्तान से मूल्य घटाने के आग्रह के कारण मलिक काफूर जैसे वरिष्ठ अधिकारी को भी सुल्तान ने बीस कोड़े लगवाए थे। यहाँ यह स्मरणीय तथ्य है कि व्यापारियों पर जहाँ इतने कठोर नियंत्रण थे, वहीं उन्हें सरकारी खजाने से सामान खरीदने के लिए अग्रिम दिया जाता था। उन्हें व्यापार में घाटा नहीं लगने देने की गारन्टी

भी दी जाती थी। अनाज के ब्यापारी को सरकारी गोदाम से भी अनाज उपलब्ध कराया जाता था। कपड़े तथा पशु-व्यापारी को भी अनेक सहूलियतें थी।

वास्तव में अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था अति संगठित थी। इसमें विभिन्न वस्तुओं की व्यवस्था अलग-अलग थी–

(क) **खाद्यान्न का बाजार–** वर्नी ने लिखा है कि "राजधानी में खाने-पीने की व्स्तुओं की एक मूल्य तालिका लगा दी गई थी।" अनाज के व्यापारी दो तरह के थे– दुकानदार एवं काफिले वाले (आपूर्तिकर्त्ता) दिल्ली में अनाज लेने वालों के लिए दोआब (गंगा-यमुना के) तथा बयाना क्षेत्र में व्यवस्था की गई थी। इन क्षेत्रों में कर भी अन्न के रूप में वसूला जाता था। किसान जरूरत से ज्यादा अन्न अपने पास नहीं रख सकते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकाल आदि से उत्पन्न विषम परिस्थितियों से निबटने के लिए अनेक सरकारी गोदामों की स्थापना की गई थी। सरकार भी अन्न खरीदकार संग्रह करती थी। दिल्ली के प्रत्येक मुहल्ले में दो-तीन गोदाम थे। सभी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण से मूल्य साम्य हो गया था। वर्नी के अनुसार बाजारों की समस्त वस्तुओं के मूल्य में एकरूपता एक आश्चर्य की बात थी।" इस बाजार में भी 'बारीद या मुनहियान आदि कर्मचारी थे। यह नीति इतिहासकारों के अनुसार काफी सफल रही।

(ख) **वस्त्रों का बाजार :-** वस्त्र बाजार की व्यवस्था बदायूँ दरवाजे के अन्दर "सराय अदल' में की गई थी। बाजार प्रात: काल से लेकर रात्रि के अन्तिम नमाज तक खुला रहता था। शहर में वस्त्र का यह अकेला बाजार था। वस्त्र व्यापरियों को अपनी दुकान का पंजीयन दीवना-ए-रियासत' में कराना आवश्यक था। पंजीयन के समय ही उन्हें एक नियत मात्रा में नियत लाभ पर वस्त्र पहुँचाने का आश्वासन देना पड़ता था। शेख नसीरूद्दीन चिराग के अनुसार "एक रजाई या दो टंका में बनवाई जा सकती थी। रेशमी वस्त्र काफी मँहगे होते थे।" सुल्तान के निर्धारित मूल्य पर स्थानीय व्यापारी जब कपड़ा बेचने को तैयार नहीं हुए तब इसका भार मुल्तानियों के उपर छोड़ दिया गया था। उन्हें व्यापार के लिए अग्रिम भी दिया जाता था। अन्न तथा उच्च्कोटि के वस्त्रों को खरीदने के लिए भी क्रेताओं को 'दीवान-ए-रियासत' से अनुमति लेनी पड़ती थी। अत: इस जटिलता के कारण महँगे वस्त्रों की कालाबाजारी होने लगी थी।

(ग) **दासों और महेशियों के बाजार :-** इन बाजारों पर चार सामान्य नियम लागू होते थे।

(i) किस्म के अनुसार मूल्य का निर्धारण

(ii) व्यापारियों और पूँजीपतियों का बहिष्कार

(iii) दलालों पर कठिन नियंत्रण और

(iv) सुल्तान द्वारा बार-बार जाँच पड़ताल करना।

सेना के लिए स्वीकृत होने वाले घोड़े अपनी नस्ल व योग्यता के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किये गए थे। प्रथत श्रेणी 100 से 120 टंके, द्वितीय श्रेणी 80 से 90 टंके, तृतीय श्रेणी 60 से 70टंके और छोटे भारतीय टट्टू जो सेना के लिए उपयुक्त नहीं माने जाते थे 10 से 20 टंके मूल्य के रखे गए । अगला अधिनियम यह था कि प्रमुख घोड़ों के दलाल घोड़ों सहित प्रत्येक चालीस दिन या दो मास बाद सुल्तान के सामने लाए जाते थे। इन्हीं पद्धतियों से दासों और पशुओं की कीमतें

निश्चित की गई। बर्नी की सूची के अनुसार घर में काम करने वाली दास का मूल्य 5 से 12 टंके, विषय भोग के लिए 20 से 40 टंके, सुंदर व युवा दास 20 से 30 टंके, तथा अयोग्य दास की कीमत 7 से 8 टंके थे। ऐसे ही नियम पशुओं के बाजार में भी लागू किए गए। महीने दो महीने पर पशुओं की कीमत की जानकारी ली जाती थीं ।

संदर्भ ग्रंथ –

1. खलजी-कालीन भारत – स0 अ0 अ0 रिजवी
2. मध्यकालीन भारत – इरफान हबीब
3. मध्यकालीन भारत (भाग 1) – हरिश्चन्द्र वर्मा
4. मध्यकालीन भारत – एल0 पी0 शर्मा
5. मध्यकालीन भारत (एक सवेक्षण) – इम्तियाज अहमद
6. मध्यकालीन भारत (कक्षा 11 के लिए) – एन0 सी0 आर0 टी0
7. द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देलही – आई0 एच0 कुरैशी
8. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : द देलही सल्तनत – मो0 हबीब एवं के0 ए0 निजामी
9. हिस्ट्रोरियन्स ऑफ मैडीबल इण्डिया – एम0 एच0 खान
10. खलजी सुल्तान्स इन राजस्थान – ए0 के0 श्रीवास्तव।

इतिहास

स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान का राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास

डॉ॰ राकेश कुमार

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

1947 में ब्रिटिश भारत जहाँ भारत और पाकिस्तान दो राज्यों में बँटा, वहीं 1971 में पाकिस्तान से पृथक बांग्लादेश का निर्माण हुआ। इसी प्रकार एशिया व अफ्रीका में अनेक देश यूरोपीय साम्राज्य से स्वाधीन हुए, उत्तर-उपनिवेश काल में इनकी प्रशासनिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में भिन्नताएँ व्याप्त हैं। इनमें से अधिकांश परम्परायें उपनिवेशीय शासन के दौरान स्थापित हुई और कुछ परिवर्तनों के साथ निरन्तर बनी हुई है। 1947 के बाद पाकिस्तान में भारत के समान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे विस्तृत राजनीतिक संगठन का अभाव था। कांग्रेस ने धनी कृषकों, उद्योगपतियों, मध्य वर्ग जैसे सभी वर्गों का समर्थन हासिल करते हुए जनतांत्रिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया और (शासन के सैन अधिग्रहण का निवारण करते हुए) जनतांत्रिक संस्थाओं को सुरक्षित रखा।

पाकिस्तान में, मुस्लिम लीग भू-स्वामियों के राजनीतिक हितों का गठबंधन साबित हुई। 1947 से पहले यह विस्तृत आधार वाला राजनीतिक संगठन न बन सकी। 1947 के बाद यह गुटों में बँट गई और राजनीति में संगठनात्मक निर्वात बना रहा। राजनीतिक धड़ों की अन्तर्कलह और आम चुनाव कराने में असफलता ने अन्ततः 1958 में सैन्य विद्रोह के द्वारा नागरिक राजनीति को ग्रहण लगा दिया।

अयूब खान का सैन शासन भी वास्तविक राजनीतिक संगठनों के विकास के विरूद्ध था यद्यपि 1964 के सीमित मताधिकार चुनावों द्वारा आंशिक सहभागिता स्वीकृत हुई। इससे राजनीतिक संगठनों की बजाय अधिकृत व्यक्तियों के गुटों ने विधायिका व चुनाव प्रक्रिया पर प्रभुत्व जमाया।

साठ के दशक में त्वरित औद्योगिक संबृद्धि से आय एवं क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि हुई। बाईस औद्योगिक अल्पाधिकारी परिवारों में धन का संकेन्द्रण हुआ और कामगारों की वास्तविक मजदूरी स्थिर रही। अल्प राजनीतिक प्रतिनिधित्व में औद्यौगिक निवेश के लिए संसाधनों के हस्तांतरण के कारण पूर्वी पाकिस्तान में अत्यधिक असंतोष व्याप्त हो गया। इससे अन्ततः गृह युद्ध और बांग्लादेश का निर्माण हुआ 1970 के उफान में अयूब शासन के पतन के बाद पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के नेता जुल्फिकार अली भुट्टों ने समाजवादी आधार पर चुनाव लड़ा और 1977 तक शासन किया। भुट्टो के आर्थिक निर्णय बाजार-आधरित विकास के विरूद्ध रहे। राजनीतिक रूप से उन्होंने पीपुल्स पार्टी को जनतांत्रिक संगठन में बदलने में रुचि नहीं दिखाई। पार्टी आन्तरिक रूप से सत्तावादी होने के साथ-साथ प्रतियोगी राजनीतिज्ञों के प्रति निरंकुश बनी रही। 1977 के चुनावों में भुट्टो की पार्टी पर बड़े पैमाने पर अनियमितता के आरोप लगे और परिणामतः जनरल जिया उल हक के नेतृत्व में सैन्य तख्ता पलट हुआ। भुट्टो को फाँसी दी गई।

सैन्य शासन द्वारा लोकतंत्र को पाकिस्तानी समाज के लिए अनुपयुक्त बताते हुए प्रतिनिधि संस्थाओं को और कमजोर किया गया। राजनीतिक आज्ञाकारिता को लागू करने और सत्तावाद को तार्किक ठहराने हेतु धार्मिक सिद्धान्तों और रहस्यवाद का उपयोग किया गया। अफगान युद्ध और सोवियत विघटन के 'महान खेल' में पाकिस्तान का 'अग्रिम पंक्ति' के राज्य के रूप में प्रस्तुत होना कहीं अधिक दुर्भाग्यपूर्ण रहा है। इस वैश्विक परिणाम को सुगम बनाने हेतु पाकिस्तान द्वारा जनतांत्रिक अधिकारों को कुचले जाने से जन एवं धन की भारी हानि हुई।

लोकतंत्र की बहाली के लिए हुए राजनीतिक प्रदर्शनों को कुचले जाने से जिया शासन की प्रतिगामी प्रकृति प्रकट हुई। मृत्युदण्ड से लेकर सार्वजनिक रूप से कोड़े मारने तक की मध्ययुगीन प्रथा, सैन्य शासन की प्रतिशोध की नीति थी। जिया ने अपने नियन्त्रण की वैधता के लिए छद्म जनमत संग्रह कराया और 1985 में गैर-पार्टी चुनाव करवाये। उम्मीदवारों ने व्यक्तिगत क्षमता से चुनाव लड़े जिससे संस्थानीकृत राजनीति और कमजोर हुई। सैन्य शासन के अधीन इन नये राजनीतिज्ञों के लिए आर्थिक लाभ, राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा सर्वोपरि रहा। 1988 में रहस्मय विमान दुर्घटना में जिया की मृत्यु से पाकिस्तान सैनिक शासन का अन्त हुआ।

1988 से 1999 के अगले सैन्य अधिग्रहण के बीच चार आम चुनाव हुए। इसमें बेनजीर के नेतृत्व वाली पीपुल्स पार्टी और नवाज शरीफ के नेतृत्व वाली मुस्लिम लीग ने बारी-बारी से दो-दो बार सत्ता ग्रहण की। इनमें से कोई भी सरकार अपना पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी। पहली तीन को राष्ट्रपति ने बर्खास्त कर दिया जबकि चौथी 1999 के सैनिक विद्रोह द्वारा उखाड़ फेंकी गई। इस प्रकार, बीसवीं सदी के अन्त में पाकिस्तान में नागरिक राजनीति और सैन्य शासन की क्रमशः पुनरावृत्ति हुई। सत्तावाद और शक्ति के संकेन्द्रण की प्रचलित परंपरा दोनों ही में सामानय रूप से थी, जो 1947 से पूर्व की संरचना पर आधारित थी। नागरिक शासन के समय में भी व्यक्तिमूलक राजनीति का प्रभुत्व बना रहा। उम्मीदवारों के नामांकन और प्रचार अभियानों में संगठनात्मक सिद्धान्तों की अपेक्षा वैयक्तिक स्थिति निर्णायक तत्व रही। दलों में आंतरिक लोकतन्त्र और उत्तरदायित्व के अभाव से औपचारिक राजनीति में अपराधी तत्वों का प्रवेश सुगम हुआ। इससे 1990 के दशक में नागरिक राजनीति में भ्रष्टाचार और अपकृत्य को आधार मिला। लोक कार्यपालकों और व्यवसायियों के गठबंधन से अभिजन वर्ग में भी अपराधीकरण फैला और शासन तथा नैतिक अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त हुई।

उच्च स्तरीय भ्रष्टाचार से राज्य की अखण्डता और प्रभावकारिता का भी क्षरण हुआ। ब्रिटिश काल में भ्रष्टाचार निचले व स्थानीय कर्मचारियों के स्तर पर था जो स्वतंत्रता के बाद नौकरशाही के सर्वोच्च स्तरों तक फैल गया। इससे उत्तरदायित्व और पारदर्शिता का ह्रास हुआ जिससे अनाचार और बढ़ा। पुलिस, राजस्व, लोक सेवाओं, सिंचाई, न्याय पालिका के साथ-साथ स्वास्थ्य, शिक्षा, स्थानीय शासन जैसे सामाजिक सेवा क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। भ्रष्टाचार, अनियमितता और अवैधता की दुरामिभसंधि को राजनीतिज्ञों के गठजोड़ से और बढ़ावा मिला। इससे जनसमूह निरंतर शक्ति विहीन होता गया। 1947 से नाम मात्र के तीन भूमि सुधारों के बावजूद किसानों को वास्तविक भूमि हस्तांतरण नहीं हो सका। इससे उच्च कृषिकीय सोपान के वर्गहित संरक्षित रहे। राज्य कृषि आय पर कर लगाने में भी असफल रहा। राजस्व प्राप्ति का भार कथित रूप से शहरी आय पर डाल दिया गया।

प्रथम दो दशकों में औद्योगिक विकास एक महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय रहा। इसके लिए प्रारंभिक प्रयास, विदेशी विनिमय अर्जन द्वारा किये गये जो कोरिया युद्ध के समय लाभप्रद व्यापार से प्राप्त हो

रहा था। परन्तु विनिमय दर के अधिमूल्यन से कच्चे माल और पूँजीगत वस्तुओं का आयात सस्ता हुआ और कृषि निर्यात से अर्जन मन्दा हुआ या घटा; उपभोक्ता वस्तुएँ अधिक मँहगी हुई। इन नीतियों से व्यापार की शर्तें कृषि वस्तुओं के विरुद्ध और उभरते उद्योग के पक्ष में हो गई। सहायता प्राप्त ऋण और संरक्षणात्मक तटकरों से उद्योगों को और समर्थन मिला यद्यपि 1950 के दशक में कृषि आय और मजदूरों की वास्तविक मजदूरी स्थिर रही, जिससे उपभोग माँगे कमजोर रही। इस संभाव्य आर्थिक मन्दी ने 1958 की सैन्य तख्तापलट को प्रोत्साहित किया होगा।

अयूब खान शासन ने भी प्रारंभिक झिझक के बाद व्यापार समर्थक रणनीतियाँ अपनाईं। लोकतंत्र के अभाव के कारण निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर लाक सेवकों और सैन्य नेतृत्व का वर्चस्व रहा। उच्च पदस्थ नौकरशाहों और सैनय अधिकारियों के सगे-संबंधियों ने प्रत्यक्ष रूप से व्यापार की ओर रूख किया। राज्य ने खाद्य सुरक्षा के लिए अल्प मूल्यों पर आधारित राशन की दुकानों के माध्यम से हस्तक्षेप किया।

1960 के दशक में वृहद् तनाव उपजने शुरू हुए। 1965 में भारत से युद्ध के कारण आर्थिक संवृद्धि दर में गिरावट हुई। संभवत: पाकिस्तान की चीन से मित्रता के कारण अमरीकी सहायता भी कम हुई और आर्थिक तंगी बढ़ी। क्षेत्रीय विषमताओं से तनावों में और बृद्धि हुई। वास्तविक मजदूरी में स्थिरता से गरीबी बढ़ी और औद्योगिक एकाधिकारी घरानों में संपत्ति का अधिक संकेन्द्रण हुआ। इसी बीच, हार्वर्ड अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये 'प्रकार्यात्मक विषमता' मॉडल के आधार पर आधार संरचना और शिक्षा, स्वास्थ्य, कामगारों के लाभ जैसे सामाजिक क्षेत्र में सार्वजनिक व्यय घट गया। राष्ट्रीय बजट में रक्षा व्यय का भाग वृहत्तर हो गया। अनगढ़ बाजारों, औद्योगिक अकुशलता के संरक्षण और निहित औद्योगिक स्वार्थों के बढ़ते राजनीतिक प्रभाव ने कष्टों को और बढ़ाया। सत्तर के दशक में भुट्टो की पीपुल्स पार्टी सरकार ने पूर्व की आर्थिक राजनीति को नाटकीय ढंग से उलट दिया। पुनर्वितरणात्मक नीतियाँ अपनाई गई; विशाल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। बैंकों और जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण हुआ। मुद्रा का अवमूल्यन और नवीन श्रम नीति अपनाई गई। ये नीतियाँ कल्पित रूप से या दिखावे के लिए ही समाजवादी थीं। उद्योग विरोधी झुकाव संभवत: सामन्तवादी पृष्ठभूमि का परिणाम था। भूमि सुधार के उपाय भी कृषि भूमि का वास्तविक पुनर्वितरण न कर सके।

भुट्टो शासन के अन्तर्गत राज्य का हस्तक्षेप निर्णायक रूप से अर्धसामान्ती हितों की अपेक्षा बाजारी शक्तियों या बाजार कर्मियों के विरुद्ध था। अधिकांश निर्यात उद्योग, घरेलू, मध्यम एवं लघु उद्योग तथा कृषि प्रसंस्करण क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार, निजी क्षेत्र के बहिर्वेशन से पीपुल्स पार्टी को 1977 के चुनावों में भू-स्वामी वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। अत: सत्तर के दशक में निजी क्षेत्र द्वारा निवेश में कमी आई।

1985 के लगभग, निवेश स्तर कुछ बढ़ा, परन्तु यह वस्त्र उद्योग के कताई और बुनाई क्षेत्र तक ही सीमित रहा। इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया था। साथ ही उसे सब्सिडी भी प्राप्त थी। सूती वस्त्र उद्योग का पाकिस्तानी उद्योग में प्रमुख स्थान था। 1985 के बाद नय परिवेश से 'वस्त्र उद्योग लॉबी' और मजबूत हुई। विविधता के अभाव में अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक दुर्बलताएँ प्रकट हुईं। 1990 के बाद कपास उद्योग में आई अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी के साथ ही पाकिस्तान में विषाणु जनित रोगों से कच्चे कपास के उत्पादन में गिरावट से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गंभीर चोट पहुँची। नये निवेशकों ने अपना जोखिम घटाने के लिए मशीनों के आयात बिल बढ़ा-चढ़ा कर वास्तविक बिल

से अधिक का दिखाना शुरू किया। बड़े पैमाने पर अनुत्पादक ऋणों से देश के बैंकिंग और वित्तीय संस्थान दिवालिया होने लगे।

अस्सी के दशक में निजीकरण की गति धीमी और परिवर्तनीय रही। संरक्षणात्मक तटकर से आयात उदारीकरण बाधित रहा। इससे विनिर्माण क्षेत्र अकुशल बना रहा और प्रतिस्पर्धात्मक न बन सका। अस्सी के दशक में उदारीकरण के लिए पर्याप्त अनुकूल आर्थिक व राजनीतिक दशाएँ थीं, परन्तु शासकों के हित इसमें प्रमुख बाधा बने रहे।

इस रूढ़िवादिता ने भविष्य के लिए समस्यायें बढ़ा दीं। राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों की विशाल हानियों की भरपाई राजकोष द्वारा की जानी थी। दोषपूर्ण ऋणों से राष्ट्रीयकृत बैंक दिवालिया होने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में पाकिस्तान नये उभर रहे उद्योगों में प्राप्त होने वाले अवसरों का दोहन करने में असफल रहा। इस बीच पाकिस्तान में जनसंख्या वृद्धि दर तीन प्रतिशत से ऊपर हो गई जो संसार में उच्चतम दरों में एक है। सन् 2000 तक पाकिस्तान की जनसंख्या 13 करोड़ 130 को पार कर चुकी थी। अनुमान है कि इस दर से यह 2020 तक 25 करोड़ हो जायेगी। स्पष्टत: पाकिस्तान के समक्ष जीवनधारण क्षमता की प्रमुख समस्यायें होगी जिनका समाधान शासन के वश में नहीं होगा।

सन्दर्भ:

1. एस॰जे॰ बर्की, 'पाकिस्तान अण्डर भुट्टो' : 1971-77, मैकमिलन, लन्दन, 1980
2. क्रेज बैक्सटर, (सम्पा॰), 'जिया पाकिस्तान : पालिटिक्स एण्ड स्टेबिलिटी इन ए फ्रंटलाइन स्टेट', वेस्ट व्यू, बोल्डर, कोलराडो, 1985
3. विकार अहमद तथा राशद अहजद, 'द मैनेजमेन्ट ऑफ पाकिस्तान्स् इकॉनोमी' 1947-82, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1986
4. ओमर नोमन, 'द पोलिटिकल इकोनोमी ऑफ पाकिस्तान', के॰ पी॰ आई॰ लंदन, 1988
5. जूनियर लापोर्ट एण्ड एम॰ बी॰ अहमद, 'पब्लिक इन्टरप्राईजेज इन पाकिस्तान', वेस्ट व्यू प्रेस, बोल्डर, कोलराडो, 1989
6. परवेज हसन, 'पाकिस्तान इकोनॉमी एट द् क्रासरोड्स : 'पास्ट पालिसीज एण्ड प्रेजेन्ट इम्परेटिव्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1998
7. इशरत हुसैन, 'पाकिस्तान : द इकानोमी ऑफ एन इलीटिस्ट स्टेट', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1999
8. शाहरुख रफीखान, 'फिफ्टी इयर्स ऑफ पाकिस्तान्स इकॉनोमी : ट्रेडिशनल टापिक्स एण्ड कन्टेम्पोरेरी कन्सर्न्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची 1999
9. एस॰ अकबर जैदी, 'इशूज इन पाकिस्तान्स इकोनॉमी', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1999
10. इमरान अली 'विजनेस एण्ड पावर इन पाकिस्तान' (संपादित)
    ए॰ एम॰ बइसी और एस॰ जेड॰ गिलानी, 'पावर एण्ड सिविल सोसाइटी इन पाकिस्तान' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 2001
11. वीना कुकरेजा, 'कन्टम्पोरेरी पाकिस्तान : पोलिटिकल प्रोसेसेज', कन्फ्लिक्ट्स एण्ड क्राइसेस, सेज, दिल्ली, 2003

समाजशास्त्र

समाज में अंधविश्वास का सामाजशास्त्रीय विवेचन

डॉ॰ तरूण पाठक

एम.ए., पटना विश्वविद्यालय, पटना

मोटे तौर पर देखने पर अंधविश्वास अपने आप में कोई सामाजिक समस्या नजर नहीं आती है। परंतु गहराई से देखने पर यह पता चलता है कि अंधविश्वास न सिर्फ सामाजिक समस्या है बल्कि यह एक धार्मिक समस्या, आर्थिक समस्या एवं राजनैतिक समस्या भी है। इस समस्या ने कहीं न कहीं हमारी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक ढांचें में रुकावट पैदा करने की कोशिश की है। इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में अंधविश्वास नहीं होता तो आज भारत का स्थान विश्व में कहां होता।

अंधविश्वास न सिर्फ अपने आपमें एक सामाजिक समस्या है बल्कि यह अन्य सामाजिक समस्याओं की जननी है। समाज में कुछ ऐसी परिस्थितियां ही पैदा कर देता है जिनसे दूसरी तरह की सामाजिक समस्या पैदा हो जाती है।

अंधविश्वास के परिणामस्वरूप जो सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या पैदा होती है वह है सामाजिक स्तरीकरण पर आधारित अस्पृश्यता की समस्या। अस्पृश्यता हिन्दू समाज के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास का एक ऐसा कलंक है जिसके कारण कभी कभी हमें स्वयं भी अपने धर्म के मानवीय पक्ष में संदेह होने लगता है। अस्पृश्यता की समस्या उन करोड़ों हिन्दुओं की समस्या है जिन्हें धार्मिक तथा जातिगत आधार पर मानवोचित अधिकारों से वंचित करके समाज में निम्नतम स्थान देने का प्रयत्न किया जाता है। यह अंधविश्वास का ही घिनौना पक्ष है कि एक ही समाज में उत्पन्न लोगों को अलग-अलग दृष्टि से देखा जाए। इस धार्मिक अंधविश्वास को और क्या कहा जाए जबकि इस धर्म का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ मनुस्मृति में यह कह दिया गया है कि चाण्डालों और स्वपयों को गांव के बाहर रहना चाहिए। दिन में बस्ती में नहीं जाना चाहिए तथा अपने बर्तनों के उपयोग को केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। मुस्लिम शासनकाल में इन अस्पृश्यों का बहुत ही अधिक शोषण हुआ। अस्पृश्यों को मुख्य बस्ती से दूर किसी निर्मम स्थान पर रहने के आदेश दिए गए ताकि उसे किसी सार्वजनिक वस्तु को स्पर्श करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। धार्मिक कृत्यों तथा पूजा पाठ एवं मंदिर आदि में प्रवेश पूर्णतया बंद कर दिया गया। यह सब इसी अंधविश्वास के आधार पर कि मनु ने इन सबों को इसी कार्य के लिए नियुक्त किया है। इस अंधविश्वास के कारण अछूतों को राजनीति के क्षेत्र में अधिकार हीन कर दिया गया। मनुस्मृति में अछूत जातियों पर विस्तृत निर्योग्याताएं लादते हुए व्यवस्था की गयी कि ''अन्त्यजों से परिपूर्ण स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति निवास न करें.

.....ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने वाला एक धर्महीन ब्राह्मण भी राजा का सलाहकार हो सकता है लेकिन शूद्र और अन्त्यज कभी राजा के सलाहकार नहीं हो सकते। मनुस्मृति 4/61 । इससे अधिक विभेदकारी नीति और क्या हो सकती है कि न्याय के लिए मनुस्मृति में जहां ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए क्रमशः सत्य, शस्त्र एवं गउ के नाम पर शपथ लेने का विधान रखा गया वहीं अछूतों के लिए न्याय देने के पूर्व ही केवल शपथ के रूप में आठ अंगुल लंबा चौड़ा गर्म लोहा हाथ में लेकर सात पग चलने का विधान रखा गया है। मनुस्मृति–8/113, 114 । इसी का यह परिणाम हुआ कि अछूत को कोई भी सवर्ण अपनी इच्छा से अपमानित कर सकता है अथवा उसे पीट सकता था। अछूतों को व्यावहारिक रूप में ऐसी कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं थी जिसके आधार पर वे ऐसे व्यवहारों का विरोध कर सकें। मनु की व्यवस्था के आधार पर यह नियम बना दिया गया कि निम्न वर्ण का मनुष्य अपने जिस अंग से उच्च वर्णों को चोट पहुंचाएगा उसका वही अंग ही काट लिया जाएगा।

यह बात यहां उल्लेखनीय है कि वेदों में जो वर्ण विभाजन की बात मिलती है उसका आधार जाति न होकर व्यक्तियों का कर्म था। अर्थात् यह जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित था। परंतु यह हमारे धर्म गुरुओं की ही मानसिक कमजोरी या अंधविश्वास था कि उन्होंने इसे उल्टा समझा और प्रत्येक व्यक्ति के कर्म को जन्म के आधार पर व्याख्या करते हुए उसे निर्धारित किया। हाल ही में हिन्दुओं के धर्म गुरू शंकराचार्य से यह पूछा गया कि आप कर्म के सिद्धांत पर बल देते हैं तो हरिजनों के कर्म परिवर्तन के ऊपर बल क्यों नहीं देते तो उनका जवाब था कि इन हरिजनों के कर्म परिवर्तन से समाज पतन की ओर अग्रसर होगा। उन्होंने तो स्पष्ट कहा कि जो जात-पात नहीं माना वह हिन्दु नहीं है। यह अस्पृश्यता संबंधी अंधविश्वास राष्ट्रीय एकता को कमजोर बनाता है क्योंकि जो अस्पृश्य है जो अपने आपको राष्ट्र का सदस्य न समझ एक पृथक इकाई के रूप में कल्पना करने लगते हैं। यह अंर्तजातीय तनाव को बढ़ा रही है। अनेक नक्सली समूह इसी अस्पृश्यता की उपज है।

देश के आर्थिक विकास के मार्ग को इस अंधविश्वास ने और अधिक अवरुद्ध कर दिया है। यह एक सोचने वाली बात है कि जिस देश की जनसंख्या के एक बहुत बड़े हिस्से को उत्पादन के कार्य से अलग कार्य से अलग रखा जाए तो उस देश का आर्थिक विकास का स्वरूप क्या होगा। आज हम अल्पविकसित देशों की श्रेणी में आते हैं। इसका सबसे अहम कारण यह भी है कि हमने छुआछूत के कारण उन अस्पृश्यों को उत्पादन की प्रणाली से कोसों दूर रखा। इसी कारण से आर्थिक असमानता भी अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। धार्मिक अंधविश्वास का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू अपने देश में फैली भिक्षावृति की समस्या है। यह समस्या जितना आर्थिक कारणों से नहीं उत्पन्न होती है उससे अधिक यह धार्मिक अंधविश्वास के कारण पैदा होती है। भिक्षावृत्ति की समस्या किसी भी समाज में वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। किसी भी देश अथवा कोई भी समाज कितना असंतुलित अव्यवस्थित तथा नियमहीन है यह उस जगह के भिखारियों की संख्या को देखकर सहज ही बनाया जा सकता है। भारत जैसे देश में आज भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो धार्मिक अंधविश्वासों तथा कुरीतियों के कारण भिक्षावृति को एक समस्या के रूप में नहीं देखते बल्कि दान और सहायता के संदर्भ में अक्सर इसकी उपयोगिता का बखान करते हैं।

इस अंधविश्वास का एक प्रभाव यह भी पड़ा है कि लोग स्वास्थ्य सुविधाओं का पूरा लाभ नहीं उठाते हैं। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों पर लोग बीमार होने पर डॉक्टर के पास जाने के बजाए ओझा गुणी या किसी अन्य के पास जाना पसंद करते हैं। वे किसी दवा का प्रयोग न करके झाड़ फूंक, तंत्र-मंत्र का ही इस्तेमाल करते हैं। भले ही ऐसा करके वे खतरे में पड़ जाए पर अंधविश्वास इतना मजबूत है कि वह इन्हें अन्य डाक्टरी सहायता का लाभ उठाने से रोकता है। हमारे देश में शिशु मृत्यु दर का अधिक होना इसी अंधविश्वास की समस्या के कारण है। वे शिशुओं को टीका नहीं लगवाते हैं और न इंजेक्सन दिलवाते हैं। इस कारण से बच्चे अल्पायु में ही या तो मर जाते हैं या अपंग हो जाते हैं।

अंधविश्वास के कारण वेश्यावृति की भी समस्या उत्पन्न हो जाती है। यह अप्रत्यक्ष रूप से इस समस्या को बढ़ाने में मदद दे रहा है। कुछ अंधविश्वास जैसे कम आयु की लड़कियों का कुलीनता के नाम पर प्रौढ़ वृद्ध से विवाह कर देना, विधवा स्त्री को पुर्नविवाह से वंचित ही नहीं रखना बल्कि उसे अमानवीय यातनाएं भी देना, तरह-तरह के कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों पर पानी की तरह पैसा बहाकर ग्रहण में फंस जाना, पुरुष वर्ग द्वारा एक अधिकार के रूप में स्त्रियों का अपमान, तिरस्कार और विश्वास करना तथा दहेज ऐसे उदाहरण हैं जो स्त्रियों को अक्सर वेश्यावृति के लिए प्रेरित कर देती है।

दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा के अंधविश्वास के कारण युवा देवदासियों का पंडे-पुजारियों द्वारा शोषण करने के बाद में उन्हें वेश्यालय चलाने वाले दलालों के हाथों बेच देना एक सर्वविदित तथ्य रहा है। धार्मिक अंधविश्वास के नाम पर पंडों, पुजारियों, फकीरों, पादरियों को मन, तन, धन सर्वस्व अर्पित करके ईश्वर की प्राप्ति का सदैव प्रचार किया जाता रहा है। कितनी ही अंधविश्वासी स्त्रियां उनकी कुचक्रों में फंसकर सदैव के लिए अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाती है। आज भी बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक व्यक्ति अपने परिवार की किसी स्त्री के अवैध रूप से गर्भवती हो जाने पर उसे काशी, मथुरा, अयोध्या तथा दूसरे धर्म स्थानों पर प्रायश्चित के लिए बेसहारा छोड़ देता है। यहां के धर्म प्रतिनिधि तरह-तरह के आश्रयों की आड़ में अक्सर उन्हें वेश्या बनने को बाध्य कर देते हैं। आश्रयों और मठों में कितनी ही स्त्रियां केवल दान देने वाले भक्तों के उपभोग के लिए रखी जाती है। धार्मिक अंधविश्वास की आड़ में किया जाने वाला यह स्त्री शोषण आज भी निश्चय ही वेश्यावृति में वृद्धि करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। इस तरह हम देखते हैं कि अंधविश्वास बहुत सारी समस्याओं को जन्म देते हैं। भले ही यह स्वयं में कम बड़ी समस्या हो। परंतु इसके परिणामस्वरूप काफी बड़ी-बड़ी समस्याएं पैदा हो जाती है।

संदर्भ ग्रंथों की सूची:

1. भारतीय सामाजिक समस्याएं : जी.के. अग्रवाल
2. भारतीय समाज एवं संस्कृति : गुप्ता एवं शर्मा
3. भारतीय सामाजिक समस्याएं : जी.आर. मदन
4. भारत में सामाजिक समस्याएं : गुप्ता एवं शर्मा
5. भारतीय सामाजिक समस्याएं : राम आहुजा।

प्राचीन भारतीय समाज एवं शूद्र
एक समाजशास्त्रीय विवेचना

डॉ॰ प्रदीप कुमार

श्रीकृष्ण नगर कॉलोनी, इशाकचक, भागलपुर

ऋग्वेद से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में केवल दो वर्ण थे- आर्य वर्ण और दास वर्ण। कालांतर में कर्मों के आधार पर इनके विभेद हुए। आर्य भारत में स्थायी रूप से निवास करने लगे तो उन्होंने भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्गों का विभाजन किया। जो व्यक्ति यज्ञादि कर्म कराते थे उन्हें 'ब्रह्म', जो युद्ध में निपुण थे तथा लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ थे उन्हें 'क्षत्र' नाम दिया गया। शेष जनता को 'विश' कहा गया। वर्ण व्यवस्था का यह प्रारंभिक स्वरूप था। कालांतर में 'शूद्र' नामक चौथा वर्ण इसमें जोड़ दिया गया। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरूष सुक्त में सर्वप्रथम इस वर्ण का उल्लेख मिलता है जिसमें इसे ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न बताया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत :
उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रों अजायतः।।

संभवतः आर्य जाति ने अनार्यों को पराजित कर अपने सामाजिक संरचना में उन्हें स्थान देकर चौथे वर्ण शूद्र की उत्पत्ति की।[1]

रामशरण शर्मा ने शूद्रों की उत्पत्ति के उपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए कहा है कि वस्तुतः इस वर्ग में आर्य तथा अनार्य दोनों ही वर्गों के व्यक्ति सम्मिलित थे। आर्थिक तथा सामाजिक विषमता, दोनों ने ही श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। बाद में सभी श्रमिकों को शूद्र कहा जाने लगा। आर्य शिल्पियों के अनेक वंशज, जो अपने प्राचीन व्यवसाय में लगे थे, शूद्र समझे जाने लगे। [2] अथर्ववेद काल के अंत में शूद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में मान्यता मिल गयी। इस प्रकार समाज का चतुर्थ एवं सबसे निम्न वर्ग शूद्र था। विराट् पुरूष अथवा ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण उसे समाज के सभी वर्णों की सेवा करना होता था। उसे अत्यंत हेय समझा जाता था जो सभी प्रकार के अधिकारों एवं संस्कारों से रहित था। उसका जीवन पूर्णतया अपने स्वामी की दया पर निर्भर था। 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' में रामशरण शर्मा ने कहा है कि पूर्व तथा उत्तर वैदिक काल तक शूद्रों को अपवित्र नहीं माना जाता था। जब समाज कृषि प्रधान हो गया तथा वर्गों में विभाजित हो गया तब उच्च वर्ग के लोग अपने विशेषाधिकार तथा सुविधाओं की मांग करने लगे। तभी शूद्रों को अपवित्र घोषित कर दिया गया।[3]

मूलत: शूद्र श्रमिक वर्ग के लोग थे। उत्तर वैदिक काल तक कोई भी कार्य अपने स्वरूप के कारण अपवित्र नहीं माना जाता था। यहाँ तक की चमड़े का काम भी घृणा से नहीं देखा जाता था। शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान का भाव मिलता था। शूद्र राजनैतिक जीवन में भी भाग ले सकते थे। रत्नियों की सूची में भी उनके नाम मिलते हैं। रथकार एवं तक्षन इसके उदाहरण हैं।[4] राजसूय एवं राज्याभिषेक जैसे समारोहों के अवसर पर शूद्र प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे।[5]

उपनिषदों में कहीं-कहीं शूद्रों की हीनता का विरोध किया गया है। वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्म लोक में सभी समान जाते हैं तथा चाण्डाल को भी यज्ञ का अवशेष पाने का अधिकार है। पुराणों में भी उनके प्रति अच्छी भावना व्यक्त की गई है। उन्हें दान करने की अनुमति प्रदान की गयी है, तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ मोक्ष प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इस उदार भावना के विपरीत वास्तविक जीवन में उनका स्थान सम्मानीय नहीं था। सामाजिक और धार्मिक जीवन में उन्हें एक ओर सूत्रों के माध्यम से प्रतिबंधित किया जा रहा था तो दूसरी ओर थोड़ी बहुत उदारता दिखाते हुए उनसे उच्च कार्य करने की आशा व्यक्त की जा रही थी। किन्तु सामाजिक व्यवस्था के नियम और सिंद्धात इतने कठोर थे कि उनकी उपेक्षा कर पाना शूद्रों के लिये असंभव था। ब्राहाण-विरोधी धर्मों के उदारतावादी जाति सिद्धांत को देखकर कालांतर में हिन्दू धर्मशास्त्रकारों और स्मृतिकारों ने कठोर और रूढ़ीवादी होते हुये भी शूद्रों के प्रति तनिक उदार भावना भी व्यक्त की तथा ब्राह्मणीय कृत्यों और व्रत सदाचारिता के द्वारा ही शूद्रों की आध्यात्मिक उन्नति को बल प्रदान करने की चेष्टा की। धीरे-धीरे समाज में शूद्रों के दो वर्गों का विकास होने लगा। एक तो वह वर्ग जो ब्राह्मणों के निर्देशानुसार विशुद्ध आचरण और धार्मिक क्रियाओं को संपादित करता था और दूसरा वह वर्ग था जो इस विशुद्ध आचरण और सात्विक चरित्र से दूर असभ्य और असंस्कारयुक्त हीन जीवन व्यतीत करता था। पहले वर्ग के शूद्रों में ही संस्कार और धार्मिक कार्य होता था, किंतु यह सब मंत्रहीन होता था। ऐसे सन्मार्गी शूद्र मंत्रहीन धर्म का पालन करते हुए प्रशंसा के पात्र माने जाते थे।[6]

मौर्यकाल तक आते-आते हम शूद्रों की स्थिति में सुधार के लिये कुछ चिन्ह् देखते हैं। अर्थशास्त्र में उनका धर्म द्विजातियों की सेवा के साथ ही 'वार्ता' अर्थात कृषि पशुपालन और वाणिज्य भी बताया गया है।[7] 'नये क्षेत्रों को साफ करने और बसाने का कार्य सरकार द्वारा किया जाता था, और शूद्रों को बहुत बड़ी संख्या में घनी आबादी वाले इलाकों से निकालकर इन बस्तियों में लाया जा रहा था। कलिंग युद्ध से विस्थापित डेढ़ लाख लोगों को बंजर भूमि साफ करने और नयी बस्तियाँ बसाने के कार्य में लगाया गया था। इन बस्तियों में रहने वालों के लिये शस्त्रास्त्र निषिद्ध थे, उनका एक मात्र कार्य खेती करना और उनकी अतिरिक्त उपज को सरकार ले लिया करती थी। शूद्र भूमि-दासों का जन्म राज्य के नियंत्रण में हुआ था और खाद्योत्पादन के लिये बड़े पैमाने पर दास प्रथा अनावश्यक हो गयी थी। लेकिन वास्तव में शूद्रों और दासों की स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं था, सिवाय इसके कि शूद्र वैद्यानिक दृष्टि से दास नहीं होता था। अन्य वर्णों और व्यवसायों के सदस्यों को अगर इन बस्तियों में रहना आर्थिक दृष्टि से लाभकर दिखाई देता तो वे स्वेच्छा से यहाँ आकर बस जाते थे'।[8]

मौर्योत्तर काल में शूद्रों की स्थिति में काफी परिर्वतन देखने को मिलता है। शूद्रों की स्थिति समाज में उँची हो गयी, और वे वैश्यों का स्थान ग्रहण करने लगे थे। वैश्यों और शूद्रों मे विशेष अंतर नहीं रह गया था। इस समय के स्मृति (याज्ञवल्क्य) में मृत्यु के अशौच की अवधि वैश्यों के लिये उतनी ही निर्धारित की जितनी शूद्रों के लिये। ये साक्ष्य इस बात के प्रमाण है कि पूर्व मघ्य युग तक आते-आते शूद्रों का एक वर्ग निश्चित रूप से वैश्य के समकक्ष आ गया था। अलबीरूनी ने दोनों के लिये समान दण्ड की व्यवस्था की है, तथा दोनों के एक साथ ही गाँव और घर में रहने की बात कही हैं। 'मेधातिथि' और 'विश्वरूप' ने तो यह व्यवस्था दी है कि शूद्र न तो सेवक बनाये जा सकते हैं, और न ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते हैं। वे व्याकरण आदि विषयों के ज्ञाता हो सकते हैं तथा स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को वे सम्पन्न कर सकते हैं, जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट किये गये थे।[9]

पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से विशुद्ध मन और मस्तिष्क वाला शूद्र श्रेष्ठ था। शूद्रों के घोर विरोधी 'मनु' चोरी के गुण दोषों को जानने वाले शूद्र को चोरी से आठ गुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौंसठ गुना दण्ड का विधान किया है।[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों की स्थिति एक समान नहीं रही है। समाज के सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं तथा नैतिक-मूल्यों ने शूद्रों की स्थिति में वांछनीय सुधार लाया। पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थकारों और स्मृतिकारों के विचारों से भी यह स्पष्ट होता है कि समाज में शूद्रों की अवस्था निश्चित रूप से सुधरी थी।

संदर्भः

1. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ-69
2. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ-21-23
3. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ-86
4. डा०जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-140
5. महाभारत, 2. 33. 161.
6. ए. एल. बाशम, अद्‌भुत भारत, पृष्ठ-118
7. डी. एन. झा एवं कृष्ण मोहनश्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ-198-99
8. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृष्ठ-55
9. डा०जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-141
10. डा०ओम प्रकाश प्रसाद, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृष्ठ-242-43

पंचायतीराज

महिला सशक्तिकरण के विशेष संदर्भ में

डॉ॰ आनन्द वर्द्धन

एम.ए, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सशक्तिकरण की अवधारणा को महिलाओं के संदर्भ में एक विशेष अर्थ में प्रयोग 20वीं सदी के 8वें दशक के मध्य में मिलती है। क्योंकि लगभग एक दशक पूर्व महिलाओं का संसार प्रसिद्ध आंदोलन 'विमेन लिब' का प्रारंभ हो चुका था।[1] अत: इस समय तक महिला सशक्तिकरण एक वैश्विक मुद्दा बन चुका था। दलितों, शोषितों, वंचितों के सशक्तिकरण की चर्चा एवं प्रयास स्वातंत्र्योत्तर काल से ही छाया था। चूँकि स्त्रियों की स्थिति भी वंचितों, शोषितों की तरह ही थी, इसलिए उनके सशक्तिकरण पर भी ध्यान दिए जाने की कवायद शुरू हुई। सशक्तिकरण को शोषण, दमन, अन्याय तथा अन्य विषमताओं को मिटाने की दिशा में एक प्रभावी अस्त्र के रूप में देखा गया तथा सभी विषमतामूलक प्रश्नों के उत्तर के रूप में देखा गया। स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों के बारे में विचार-विमर्श को उनके सशक्तिकरण के केन्द्र बिन्दु में रखा गया। संसार भर में अनेक स्त्री-मुक्ति आंदोलनों के दौरान उभरे विमर्शों, बहसों, आलोचनाओं और मुद्दों का ही प्रतिफल हुआ कि राजनैतिक अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया गया।

हालांकि स्त्रियों की प्रस्थिति में सुधार भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन का भी मुख्य मुद्दा था। उस दौरान के सभी भारतीय समाज सुधारकों, बुद्धिजीवियों ने विधवा पुनर्विवाह का निषेध, सती प्रथा, शिक्षा में महिलाओं के साथ सख्त भेद-भाव, बाल-विवाह इत्यादि कुरीतियों में खिलाफ जंग छेड़ा। और इन कुरीतियों के मिटाने हेतु तत्कालीन शासन का भी भरपूर सहयोग किया। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन की बागडोर गाँधी जी के हाथ में आने के बाद स्त्रियों की स्थिति उत्तरोत्तर उन्नत होती गई। क्योंकि उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को उन्नत बनाने की ओर विशेष ध्यान देने की नीति अपनाई, ताकि समाज की आधी आबादी को स्वतंत्रता आंदोलन से वंचित नहीं रखा जा सकता, साथ-ही-साथ उन्होंने आजादी के आंदोलन में स्त्रियों को पूर्ण भागीदारी का मौका दिया। इसी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाने हेतु अनेक कानून बने, यथा- पिता की संपत्ति में बेटियों को भी उत्तराधिकार, स्त्रियों को अभिभावकत्व का अधिकार, तलाक देने का अधिकार, दहेज निषेद्य कानून इत्यादि।

सशक्तिकरण का आंग्ल रूपातंतरण 'एमपावरमेंट' है। जो सशक्तिकरण में 'शक्ति' यानि 'पावर' केन्द्र में है। अत: व्यापक अर्थों में सशक्तिकरण का तात्पर्य भौतिक सम्पत्ति या पूँजी, बौद्धिक संसाधन

तथा वैचारिक परिदृश्यों पर नियंत्रण प्राप्त करने की स्थिति से है। जो सत्ता या शक्ति-संबंध अस्तित्व में है उनको चुनौती देने तथा शक्ति/सत्ता के स्रोतों पर ज्यादा नियंत्रण हासिल करने की प्रक्रिया को ही सशक्तिकरण कहेंगे। अथॉरिटी यानि प्राधिकार एक न्यायसंगत सत्ता है। 'न्यायसंगति' दोनों पक्षों को दिखानी चाहिए उस पक्ष को भी जो इसका अधिकारी है और उस दूसरे पक्ष को भी, जो पहले पक्ष के 'निणयों' को मानने को बाध्य है। इसलिए सशक्तिकरण को उस प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके तहत् व्यक्ति या समूह द्वारा हासिल तथा संचालित प्राधिकार एवं सत्ता के बूते उन शक्तियों का प्रभावशाली ढंग से मुकाबला किया जाता है, जो उनके सामूहिक हितों के रास्ते में अवरोध पैदा करते हैं।[2]

स्त्री-सापेक्ष सशक्तिकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जो स्त्रियों को अपने जीवन पर स्वामित्व तथा नियंत्रण के योग्य बनाती है। यह उनके लिए चयन के अवसरों में विस्तार के जरिए संभव होता है। यह उस प्रक्रिया का नाम है जो पुरुषों की सत्ता तथा प्राधिकारिता को चुनौती देकर अथवा खारिज करके लिंगीय समानता का माहौल बनाती है। लेकिन सीमित अर्थ में स्त्री सशक्तिकरण का मतलब उस प्रक्रिया से है, जो स्त्रियों की स्थिति को परिवार के साथ-साथ समाज एवं समुदाय में बेहतर बनाती है। उसके स्तर को उन्नयन के रास्ते को शिक्षा रोजगार तथा राजनीतिक भागीदारी जैसी कार्य नीतियों के सहयोग से प्रशस्त किया जा सकता है।

भारत में महिला सशक्तिकरण को एक अवधारणा के रूप में पहली बार छठी पंचवर्षीय योजना में प्रवेश मिला। सशक्तिकरण की अवधारणा को प्रो॰ सच्चिदानंद शक्ति को चुनाव करने की योग्यता या क्षमता के रूप में देखते हैं।[3] आगे उनका मानना है कि सशक्तिकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से भी है, जो उन लोगों/जमातों को चुनाव करने के योग्य बनाता है, जो इस योग्यता से पूर्व में वंचित रहे हैं।[4] सशक्तिकरण एक परिवर्तनकारी प्रक्रिया है ऐसे लोग जो अपने जीवन में चुनाव करने में काफी सक्षम होते हैं, बहुत शक्तिशाली भी हो सकते हैं, लेकिन वे 'सशक्त' नहीं हो सकते, क्योंकि वे कभी 'असशक्त' नहीं रहे।

1947 में मिली आजादी के बाद से अब तक भारतीय राजनीति के व्यापक फलक पर स्त्रियों ने प्रत्येक धारा और प्रत्येक संगठन में अपनी हैसियत दर्ज की है। वह चाहे सत्ता और शासक दलों की राजनीति हो, या फिर संघर्ष और विकल्प की राजनीति। लेकिन हर जगह अपने को स्थापित करने के लिए उन्होंने पुरुषों के तौर-तरीके या फिर कहें कि पुरुषवादी रास्ता अख्तियार किया है। जहाँ कहीं वे पुरुषवादी रास्ते को अपनाने में सक्षम नहीं हो पाई हैं या उसे स्वीकार नहीं कर पाई है, वहाँ उन्हें या तो असफलता हाथ लगी है या फिर उन्होंने राजनीति से अपने संबंध तोड़ लिए हैं या फिर मुख्यधारा से अलग-अलग हो गई है। पुरुषवादी राजनीति की एक ज्वलंत मिसाल है राजनीति में अपराध और पैसे एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए हैं। मैं दोनों तत्व महिलाओं को राजनीति में प्रवेश पर अड़ंगा लगाते हैं। आमतौर पर औसत स्त्रियों के पास इतनी सम्पत्ति नहीं होती कि वे पुरुषों के चुनाव में पैसे खर्च कर सके। अपराध और पैसे पर आधारित राजनीति ने विरासत वाली परंपरा को मजबूत किया है तथा संघर्ष के जरिए अपने बल पर राजनीति में जगह बनाने वाली स्त्रियों के हौसले को पस्त किया है। लेकिन फिर भी इस जमात में स्त्रियाँ आगे आई हैं, और उनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है।

पिछले लगभग तीन दशकों से राजनीति में स्त्रियों के प्रवेश की एक नई प्रवृत्ति सामने आई है। जिसकी बुनियाद परिवारवाद है, यानि नेताओं की पत्नियों, बहनों, बेटियों, बहुओं की जमात। यह राजनैतिक विरासत वाली जमात से अलग है। इस जमात को पारिवारिक अधिकारों के सामाजिक विस्तार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यानी पति यदि राजनीतिज्ञ है, तो पत्नी का कोटा भी संसद या विधानसभा या स्थानीय निकाय में स्वाभाविक रूप से सुरक्षित हो जाता है। इसके लिए पत्नी, बेटी, बहू का राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय होना जरूरी नहीं है। बिहार की प्रथम महिला मुख्यमंत्री श्रीमती राबड़ी देवी इसी जमात से आनेवाली बिहार की शिखर स्त्री बनीं। दीगर बात है कि 'राजनैतिक सशक्तिकरण' की इस प्रक्रिया में ऐसी जमात भी कालांतर में राजनीति में अपनी स्वतंत्र पहचान बना लेती हैं।

बिहार में राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया में थोड़ी तेजी के आसार बिहार की दलगत राजनीति में हाल के दो विधानसभाओं के चुनाव में नजर आती है। 2005 में हुए बिहार विधानसभा चुनाव- 1 के नतीजों ने स्त्रियों की भागीदारी में बढ़त को रेखांकित किया है। वह भी तब, जबकि कुल 1265 प्रत्याशियों में स्त्रियों की तादाद महज 97 यानि मात्र 7.6 फीसदी रही। इनमें से 24 यानि 25 फीसदी ने अपनी सीटें जीतीं।[5] विधानसभा की 243 सीटों में 24 सीटों[6] पर स्त्रियों ने कब्जा जमाकर बिना आरक्षण के ही 10 फीसदी हस्सेदारी हासिल कर ली। कई सीटों पर तो वे स्थापित पुरुष उम्मीदवारों को तो कई पर दुर्दांत अपराधियों को भी पछाड़ा। इनमें कई ने विरासत वाली परंपरा का प्रतिनिधित्व किया तो कई ने संघर्ष के रास्ते विधानसभा के पायदान तक पहुँच बनाई।

नवंबर 2005 में हुए विधानसभा चुनाव- II के बाद फिर बिना आरक्षण के स्त्रियों ने 24 सीटों पर जीत दर्ज की। यानी उनकी भागीदारी 10 फीसदी है। इनमें 16 सत्ता पक्ष में है तथा आठ विपक्ष में। विधानसभा में विपक्ष के नेता पद पर राबड़ी देवी राजनीति की शिखर स्त्री हैं।

फरवरी 2005 के बिहार विधानसभा के लिए पहली बार इतनी संख्या में स्त्रियाँ निर्वाचित हुई थीं। नवंबर- 2005 के चुनावों में कुल 2135 उम्मीदवारों में से 136 स्त्रियाँ थीं, यानि पिछली बार के मुकाबले इनका प्रतिशत कम रहा। लेकिन विभिन्न दलों के उम्मीदवारों की कुल तादाद इस बार 1064 रहीं, जिनमें से 92 स्त्रियाँ रहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्न दलों ने कुल मिलाकर 8.64 फीसदी ही स्त्रियों को टिकट दिया। इन 92 उम्मीदवारों में से 24 यानी 26 फीसदी स्त्रियों ने चुनाव जीता है। निष्कर्ष यह कि पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों में चुनाव जीतने की क्षमता अधिक है। इसके कारणों की जाँच एक दिलचस्प अध्ययन का विषय है, जो स्त्री और राजनीति के सम्बंधों के कई छुपे हुए पहलुओं को उजागर कर सकता है। साथ ही स्त्रियों के राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया के बारे में भी कुछ महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भाकपा तथा माकपा ने इस बार पुन: स्त्रियों की अनदेखी की। जहाँ भाकपा ने दो महिलाओं को उम्मीदवार बनाया वहीं माकपा ने किसी भी महिला को उम्मीदवार नहीं बनाया। हालांकि भाकपा (माले) ने कुल 11 फीसदी महिला उम्मीदवारों को टिकट दिया था। लेकिन तीनों वामदलों में से एक भी महिला विधानसभा के लिए निर्वाचित नहीं हो सकीं। इस बार लिबरेशन वामदलों का अगुआ जरूर बना है, किन्तु एक भी क्रांतिकारी महिला कामरेड के बगैर। वामपंथ के समग्रता में अपनी इस असफलता पर विचार करने का मुख्य मुद्दा है।

बिहार में स्थानीय निकाय के चुनावों में सभी स्तरों पर 50 फीसदी स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित कर वर्त्तमान सरकार ने हजारों की संख्या में महिलाओं की राजनीति और सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित की। स्थानीय निकाय में विजित स्त्रियों की वर्गीय, जातीय, पृष्ठभूमिगत संरचना शोध और अध्ययन का प्रमुख मुद्दा है। इससे सामाजिक बदलाव के साथ-साथ राजनैतिक सशक्तिकरण के महत्वपूर्ण आयाम सामने आ सकेंगे।

पंचायत चुनाव में महिलाओं के लिए 50 फीसदी आरक्षण के बजाय आधी आबादी को त्रि-स्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था में पूरा अधिकार देना कहीं ज्यादा समीचीन होगा। विश्व के किसी भी देश ने प्रत्यक्ष राजनैतिक सत्ता के किसी भी स्तर पर स्त्रियों के लिए 50 फीसदी आरक्षण का प्रावधान अभी तक नहीं किया है। विश्व में स्वीडन एकमात्र ऐसा देश है जहाँ बिना आरक्षण के 40-50 फीसदी तक स्त्रियाँ सत्ता के शीर्षस्थ निकाय में पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से अपनी भागीदारी दर्ज करती आई हैं।

बिहार में 1978 में जनता पार्टी की सरकार ने पंचायत चुनाव कराए थे। तब परिवर्त्तन की लहर का असर था। यह सरकार विरोधीभासी चरित्र वाले कई दलों के एकदल में संगठित होने के बावजूद सत्ता के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखनेवाली सरकार थी। पंचायत चुनाव तो हुए किन्तु पंचायतीराज स्थापित करने में सरकार सफल नहीं हो पाई। स्त्रियों को 33 फीसदी आरक्षण के क्रांतिकारी फैसला को कानून बनाकर पी॰वी॰ नरसिंह राव सरकार ने पंचायतीराज को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। बिहार की राजद सरकार ने 21वीं सदी में बिहार का पहला पंचायत चुनाव- 2001 में सम्पन्न कराया। 24 सालों के अंतराल हुए पंचायत चुनावों का यह राजनैतिक-लोकतांत्रिक शो खून-खराबे में डूबा हुआ था। बिहार की राजग सरकार ने एक कदम आगे बढ़ते हुए स्त्रियों को 50 फीसदी तथा अति-पिछड़ों को भी उचित आरक्षण देकर गैर-दलीय आधारों पर ताजा चुनाव कराए। इस ताजा चुनाव में भी हिंसा हुई, लेकिन पिछले चुनाव के मुकाबले बहुत कम।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

(1) कुमार, तरुण (2007) नारी एवं नारीवाद, तर्क-वितर्क, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 44.

(2) मंडल, बी॰बी॰ : (2005) एमपावरमेंट ऑफ अनऑरगेनाइज्ड वूमन वर्कर्स इन इण्डिया, बेनी ए॰ एक्का तथा अनिरुद्ध प्रसाद (सं॰), सोशल एमपावरमेंट थ्रू डेवलपमेंट इन्टरवेंशन्स, जेवियर इन्स्टीच्यूट ऑफ सोशल सर्विस राँची.

(3) सच्चिदानन्द : (2007) एमपावरमेंट ऑफ दलित्स थ्रू पंचायतीराज : द बिहार एक्सपीरीयंस, सीरीयल्स पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.

(4) वही.

(5) जेंडर स्टडीज यूनिट : (2007) पटना.

(6) चुनाव आयोग, बिहार विधानसभा चुनाव- 2006 रिपोर्ट.

समाजशास्त्र

नारी सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी का योगदान
एक विश्लेषण

डॉ॰ अनुपम गौतम

एम.ए. पीएच. डी., मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

भूमिका

महिला सशक्तिकरण एक प्रक्रिया का नाम है, जिसमें महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के प्रयासों का पुनर्बलन किया जाता है, ताकि वे अपने दब्बू प्रकृति के आवरण से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर एवं स्वावलंबी बन सके। यह प्रयास उनकी योग्यता का चतुर्दिक सशक्तिकरण करता है, ताकि उनकी अभिरुचि स्पष्ट हो सके, संसाधनों का समुचित उपयोग किया जा सके और परिवार एवं समुदाय में सहभागी संबंधों का पूरा लाभ उठाया जा सके। सशक्तिकरण का अर्थ किसी कार्य को करने या रोकने की क्षमता से है, जिसमें महिलाओं को जागरूक करके उन्हें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य संबंधित साधनों को उपलब्ध कराया जाये। ताकि उनके लिए सामाजिक न्याय और पुरुष महिला समानता का लक्ष्य हासिल हो सके। यह सच है कि आज महिलाओं ने अपने आप मुख्यधारा में शामिल होने का प्रयत्न कर रही है। परन्तु उनके इस विकास में उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ सूचना प्रौद्योगिकी का भी अत्यंत योगदान है जिसने मानसिक तौर पर नारी को निरन्तर विकास की ओर प्रगतिशील किया है और वह परस्पर अपने साक्ष्य की ओर बढ़ते हुए सम्पूर्ण भूमंडल को अपनी मुट्ठी में बंद करने हेतु उत्सुक हो सकी है। लेकिन रुकावटें अब भी हैं और उसे नित्य समकालीन समस्याओं से संघर्ष कर अपना अस्तित्व कायम करना है तथा विकास की ओर अग्रसर रहना है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह बतलाना है कि महिला सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी ने किस प्रकार महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी का सम्पूर्ण उपयोग कर महिला को सबल एवं आत्मनिर्भर बनाने के उपाय भी खोजने का प्रयत्न किया गया और यह भी दर्शाया गया है कि भारत सरकार को अपनी विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वयन कर महिलाओं तक खास कर ग्रामीण महिलाओं तक सूचना प्रौद्योगिकी को पहुँचाया जाए जिसमें उनका सबलीकरण हो सके।

विश्लेषण

महिला सशक्तिकरण की शुरुआत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 08 मार्च 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस से माना जा सकता है। पुनः महिला सशक्तिकरण की पहल 1985 में महिला अन्तर्राष्ट्रीय

सम्मेलन नौरोबी में की गई। 1975 से 1985 के दशक को महिला दशक, 1974 को महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप मे मानाया गया। भारत ने भी महिला सशक्तिकरण के लिए अनेक कदम उठाएँ। 31 जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन हुआ जिसके माध्यम से सदियों से पिछड़े, शोषित, एवं उपेक्षित नारी वर्ग के विकासार्थ विशेष घ्यान दिया जा रहा है। वर्ष 2001 में भारत सरकार ने ''महिला सशक्तिकरण वर्ष'' घोषित किया तथा राष्ट्रीय महिला शक्ति सम्पन्न नीति 2001 की घोषणा की।

सूचना प्रौद्योगिकी एक वृहद अवधारणा है, जिसमें सूचना प्रक्रिया और उसके प्रबंध सभी पहलू शामिल हैं। भारत में यूरोपियों के आगमन से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की नई अवधारणा का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश सरकार ने यूरोप में हो रहे वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों का प्रयोग भारत में ब्रिटेन के हितार्थ किया, लेकिन अपरोक्ष रूप से भारत में अंग्रेजों के माघ्यम से ही यूरोप में होने वाले विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का प्रवेश प्रारम्भ हो गया। महिला सशक्तिकरण में सूचना एवं प्रौद्योगिकी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज शिक्षा के क्षेत्र में, स्वास्थ्य के क्षेत्र में रोजगार के क्षेत्र में, महिला आन्दोलन के क्षेत्र में, सामाजिक उत्थान आदि के क्षेत्र मे महिलाओं के विकास में सूचना प्रौद्योगिकी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

दिखने में चाहें सशक्तिकरण की बात कितनी भी आकर्षक क्यों न लगे, एक कड़वी सच्चाई यह है कि अधिकांश स्त्रियों के लिए अपनी क्षमता और प्रतिभा के विकास की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं। महिला आन्दोलन के प्रारंभिक दौर में मीडिया लगातार स्त्रियों के खिलाफ समाज के विविध अपराधों के प्रति ध्यान आकर्षित करता रहा। 1980 के दशक में इस प्रकार के अपराधों की खबरें रोजमर्रा की बात बन गई। सार्वजनिक जीवन और सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से स्त्रियों के समानता की चर्चा जोर-शोर से होती रही है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज सूचना प्रौद्योगिकी युग में भी महिला शिक्षा के सम्पूर्ण मुद्दे एकदम उदासीन हैं। क्योंकि स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद केवल 54 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर हैं जबकि पढ़े-लिखे पुरुषों का प्रतिशत 75 है। शिक्षा प्रणाली का आज जो स्वरूप है, दरअसल वह गरीबों, जनजातियों, दलितों और अल्पसंख्यक समूहों को अशक्त बनाने का जरिया बन गया है। इस वर्ग में शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक वंचित स्त्रियाँ और लड़कियाँ रही हैं दूसरी ओर बुनियादी शिक्षा संबंधी सार्वजनिक रिपोर्ट में प्रकाशित 17 समाचार-पत्रों के सर्वेक्षण से पता चला कि 1998-99 में समाचार पत्रों में विदेशी निवेश और प्रौद्योगिकी हस्तांतरणों पर 8549 लेख, विदेश व्यापार पर 3431, रक्षा पर 2652 और शिक्षा पर केवल 988 लेख छपे। इस बात से यह प्रमाणित होता है कि सूचना एवं प्रौद्योगिक का उपयोग शिक्षा के प्रसार में कम योगदान था। मगर आज इसका प्रयोग इस क्षेत्र में ज्यादा हो रहा है।

हालांकि भारत में हार्डवेयर और साफ्टवेयर की भारी कीमतों की वजह से कम्प्यूटर का व्यापक उपयोग नहीं हो पा रहा है। लेकिन इंटरनेट से दूर शिक्षण के जगत में क्रांतिकारी बदलाव आ रहा हैं। 80 के दशक में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी ने स्कूलों में कम्प्यूटर क्रांति का आह्वाहन किया था। फलत: इसका कहीं न कहीं प्रभाव लड़कियों की शिक्षा पर पड़ा और इस प्रकार महिला सशक्तिकरण के मार्ग में आगे की ओर बढ़ी हैं। आज तो महिलाएँ धड़ल्ले से इस का प्रयोग कर अपना चहुमुखी विकास कर रही है। मगर आवश्यकता इस बात की है कि इसे गाँवों तक पहुँचाया जाए जिससे गाँवों की महिलाओं का भी विकास हो सके।

महिला आन्दोलन के इतिहास पर नजर डाली जाए तो इसके विकास में मीडिया की अहम् भूमिका रही है। यह मात्र संयोग नहीं है कि सामयिक महिला आन्दोलन उभरने और मजबूत होने के दौरान ही महिला पत्रकारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। लेकिन अगर महिलाओं से जुड़े मुद्दों के कवरेज को मात्रा की दृष्टि से देखा जाए तो स्थिति उत्साहपूर्वक नहीं लगती। सोनिया वथला ने पाँच अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अध्ययन किया, जिसके लिए 1981ए 1975ए 1959 व 1993 वर्षों के एक-एक नमूने को शामिल किया था। इस अध्ययन का निष्कर्ष था कि स्त्रियों से संबंधित 57% समाचार अपराध और हिंसा की खबरों के थे। नमूनों में शामिल किए गए 584 संपादकीयों में से केवल 8 ही महिलाओं के मुद्दों के बारे में थे। दिलचस्प बात यह थी कि 1981 से 1993 तक हिंसा की खबरों में भी कमी आई। 1980 के दशक में जब महिला संगठनों ने हिंसा का मुद्दा उठाया और दहेज मौतों और बलात्कार के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की थी, तब मुकाबले हिंसा की खबरों में अब कोई नई बात नहीं रह गई। पिछले लगभग डेढ़ दशक में यह अवधारणा जोर पकड़ने लगी है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने महिला आन्दोलन को अधिक प्रखर बनाया तथा महिला के आन्दोलन को सफल बनाकर अपनी माँग को मनवाने की भूमिका अदा की। अत: महिला सशक्तिकरण में सूचना प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चाहे वह महिला आन्दोलन को आगे बढ़ाकर या ज्ञान का द्वीप महिलाओं में जलाकर।

मध्यवर्गीय परिवारों की दिन-प्रति-दिन की दुनिया को दर्शाने वाले धारावाहिकों की शुरुआत से महिलाओं के लिए एक सुखद परिणाम निकला था। इन्होंने हिन्दी फिल्मों की स्त्रियों को दी जाने वाली संकीर्ण उबाऊ भूमिकाओं से हटकर नायिका, खलनायिका, सास-बहू के झगड़ों से दूर, स्त्री को नई छवि और पहचान दी है। अब कॉलेज की लड़कियों, कामकाजी महिलाओं, कठोर माताओं, कारोबरी महिलाओं, तड़क-भड़क वाली युवतियों और अन्य की भूमिकाएँ अधिक दिखने लगी है।

आजकल महिला चरित्रों पर आधारित कई धारावाहिक तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्त्तन में जीवनशैली के चयन का धर्मसंकट प्रदर्शित कर रहे हैं जिसमें विवाह पर स्त्री/पुरुष गमन, तलाक, पुर्नविवाह की समस्याओं को उच्च सामाजिक ड्रामा के रूप में पेश किया जाता है। कुछ अन्य धारावाहिक बदलती परिस्थितयों से जूझते परिवारों को दिखा रहे हैं। अब चाहे ये परिवर्त्तन कमाऊ बेटी के नौकरी से या बहू के विद्रोही स्वभाव के कारण हो। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अभी भी कई महिला सशक्तिकरण के लिए प्रयास करते नजर आते हैं। फलत: ये धारावाहिक या मनोरंजन के साधन भी महिला सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इंटरनेट का विशाल कौतूहलपूर्ण संसार भी दुनिया के साथ जुड़ने और संपर्क स्थापित करने की असीम संभावनाएँ पेश करता है। नेट पर भी स्त्री-पुरुष भेद परिलक्षित हो रहा है, क्योंकि नेट पर संपर्क स्थापित करने वालों में पुरुषों की अधिकता है। इसका एक भयावह परिणाम इंटरनेट पर अश्लीलता के प्रसार के रूप में सामने आया है। नेट उन्नत प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल में साइबर सेक्स के प्रसार के लिए स्त्रियों का शोषण, उन्हें वस्तु बनकर पेश करने का चलन है।

परंतु सिर्फ इंटरनेट महिलाओं का शोषण ही मात्र नही करते बल्कि इस माध्यम से महिलाओं का चहुमुखी विकास भी होता है। आज महिलाएँ अपने ज्ञान का विकास इस माध्यम से कर रही हैं, पश्चिम के अच्छे प्रभावों का अपने पर उतार रही हैं तथा महिला सशक्तिकरण के लिए विदेशों में हो रहे प्रयासों को समझ रही हैं। अत: इंटरनेट महिलाओं को उत्पाद की वस्तु बनाकर बेच रहा है तो दूसरी ओर महिलाओं को अनेक ज्ञान प्रदान कर उसे सबलीकरण भी कर रहा है।

यदि स्त्रियों व लड़कियों के सशक्तिकरण के लिए जन संचार माध्यमों का इस्तेमाल करना है तो यह जरूरी हो जाता है कि सबसे पहले तो महिला विकास के दृष्टिकोण से मीडिया के कार्य का विवरण एकत्र किया जाए और फिर उसका आकलन किया जाए। ऐसे दृष्टिोण से मीडिया का अध्ययन एक अनवरत प्रक्रिया बन जानी चाहिए। ऐसे अध्ययनों के निष्कर्षों का प्रसार किया जाना चाहिए तथा मीडिया और उसके काम काज को जनसाधारण के लिए पारदर्शी और स्पष्ट बनाया जाना चाहिए। वृत्त चित्र निर्माताओं में महिलाओं की एक अच्छी खासी संख्या है। ये लोग जनसाधारण और महिलाओं को ध्यान में रखकर कई क्रांतिकारी सामाजिक फिल्में बना रहे हैं। इन लोगों की फिल्मों के प्रदर्शन के लिए दूरदर्शन पर स्थान उपलब्ध कराने से देश में लोकतंत्र और विकास की बहस को आगे ले जाने में मदद मिलेगी। आज अनेक ज्ञान के माध्यमों की वृद्धि से अशिक्षित महिलाएँ भी कैमरे का संचालन कर रही हैं, जिससे उनको रोजगार मिल रहा है और महिलाएँ सबलीकृत हो रही हैं। अहमदाबाद में सेवा संगठन ने ऐसी कामकाजी महिलाओं को अपने ही यथार्थ को दर्शाने के लिए वीडियो फिल्में बनाने का प्रशिक्षण दिया था। तिलोनियां में एस. डब्ल्यू. आर. सी. में ग्रामीण महिलाओं को कम्प्यूटर का कुशल इस्तेमाल सिखाया जा रहा है।

जहाँ तक इंटरनेट का सवाल है तौली-कार्पुज जैसे आर. टी. सी. विशेषज्ञों का कहना है कि विकासशील विश्व के सामने ऐसी सस्ती बुनियादी नेट सेवाएँ विकसित करने की चुनौती मौजूद है, जो साइबर कैफे, लाईब्रेरियों आदि के माध्यम से लोगों को तत्काल उपलब्ध हो। तौली कार्युज ऐसी अर्न्तराष्ट्रीय संचार नीतियाँ और मानकों के निर्धारण पर जोर देता है, जो स्त्रियों की और उनसे जुड़े मुद्दों की मीडिया कवरेज की गुणवत्ता व मात्रा पर ध्यान दे सके।

संचार माध्यमों ने भी महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया है। महिलाएँ अब अपने आप को स्वतंत्र एवं पुरुषों के बराबर अगर महसूस कर रही हैं, तो उसके पीछे सबसे बड़ा कारण है– संचार माध्यम। कहानी घर-घर की, क्योंकि सास भी कभी बहू थी, देश में निकला होगा चाँद आदि सीरियलों ने सारी चेतना के साथ उसकी संवेदना और सोच को भी अवसरवादी बना दिया है। परिणामत: विवाहेत्तर संबंधों का प्रचलन भारतीय समाज में भी बढ़ता जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:

1. भारतीय समाज की संरचना – एन. सी. ई. आर. टी.।
2. द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वूमेन– एम. एन. श्रीनिवास।
3. भारतीय महिलाएँ : दशा एवं दिशा – सुभाष शर्मा।
4. वीमेन एण्ड सोसायटी इन इंडिया – नीरा देसाई।
5. वीमेन वेलफेयर एंड डेवलपमेंट – डी. चौधरी।
6. कुरुक्षेत्र – दिसम्बर 2001 एवं दिसम्बर 2007।
7. योजना – मार्च 2004 व अक्टूबर 2008।
8. बदलते भारत की समस्याएँ – जे. पी. सिंह।
9. भारत - 2001 तथा भारत . 2008।
10. प्रतियोगिता दर्पण– दिसम्बर 2005ए सितम्बर 2008 तथा नवम्बर 2008।

समाजशास्त्र

नक्सलवाद का समाजशास्त्र

डॉ॰ अनुराधा गौतम

एम.ए. पीएच.डी., मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

क्या नक्सलवाद, मार्क्सवाद- लेनिनवाद के सहारे भारत एक सशक्त विकल्प बन कर उभरा है? क्या यह देश के बहुसंख्यक सर्वहारा जन के अमन-चैन, समृद्धि और सुख की विरोधी विचारधारा है? या फिर एक भटका हुआ आंदोलन और अतिवाद का एक धूर्त तरीका है? अधैर्य की उपज है, जिसके मूल में हिंसा है, या फिर लुटे हुए आमजन के अस्तित्व की मात्र एक लड़ाई है?

नक्सलवाद की उत्पत्ति का इतिहास कई विविध घटनाओं से अटा पड़ा है। आज भी तेलुगु भाषी लोगों का प्रवास जारी है। उन्होंने आदिवासी जनता का निर्ममता से शोषण करके उन्हें अल्पमत में धकेल दिया है। विडम्बना तो यह है कि जिन क्षेत्रों में नक्सली नेतृत्व उभरा है, वो अब तक पूर्णत: आदिवासियों की धरती पर ही केन्द्रित है, लेकिन कोई भी उस विभेद को पहचान सकता है जो आदिवासियों की आकांक्षाओं एवं नक्सलियों के निदान में विद्यमान है। साम्यवादियों की नेतृत्व में तेलंगना विद्रोह, जिसे हम किसानों की बगावत कह सकते हैं, इसका एक उदाहरण है, जो हैदराबाद रियासत के दरम्यान 1946 से 1951 के बीच में हुई थी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया था। सामंती जमींदारों के खिलाफ किसानों और मजदूरों का यह विद्रोह नालगोंडा जिले से प्रारंभ होकर वारंगल और बिहार तक फैल गया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने किसानों को गुरिल्ला युद्ध की नीति अपनाने को उकसाया और लगभग तीन हजार गांव किसानों के कब्जे में आ गये थे। उस दौरान जमींदार या तो मारे या फिर भगा दिये गये थे। विजयी ग्रामीणों ने अपने क्षेत्र का प्रशासन चलाने के लिये सोवियत संघ की तर्ज पर कम्यून स्थापित कर लिया। इस आंदोलन के अगण्य नेताओं में पी. सुंदरैया, एम. बासवापुनय्या, सी. राजेश्वर राव, रावी नारायण रेड्डी जैसे नेताओं के अलावा हसन नासिर, शायर मखमूद, रामचंद्र रेड्डी आदी शामिल थे। अगर हम नक्शा देखें तो नेपाल सीमा से लेकर पश्चिम बंगाल, झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और आंध्रप्रदेश तक नक्सलियों का प्रभाव बन गया है। पिछले साल बारूदी सुरंग के विस्फोट और रेलवे ट्रैक को उड़ाकर वे ऐसे खतरे पैदा कर चुके हैं।

'सेंटर फॉर पॉलिसी एल्टरनेटिव' के प्रमुख मोहन गुरुस्वामी का मानना है कि मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्र को अधिकार केंद्र बनाकर लगातार विद्रोह से देश का कुल 626 जिलों का एक चौथाई भाग आज नक्सलवाद की चपेट में आ चुका है और देश की 20 करोड़ से अधिक जनता किसी न किसी रूप में विद्रोही भारतीय राष्ट्रराज्यों से सशस्त्र संघर्ष में जुटे हुये हैं। मूलत: ऐसे बगावत ही नक्सलवाद हैं। भारत के आदिवासी इलाके, नक्सलवाद जिसे 'माओवाद' के नाम से भी जाना जाता है। अलगाव की भावना से लबरेज माओवादियों ने अपनी सैद्धांतिक सोच को आदिवासी लोगों में ठूंस-ठूंस कर भरने की कोशिश की है और उसमें सफल भी होते रहे हैं।

गौरतलब है कि पहली बार 1967 में पश्चिम बंगाल के उत्तरी भाग 'नक्सलबाड़ी' जो दार्जीलिंग जिले में आता है और सिलिगुड़ी इसका उपमंडल मुख्यालय है। नक्सलबाड़ी हिमालय की तराई में है और इसके पश्चिम में मेची नदी है जिसके दूसरे छोर पर नेपाल है। नक्सलबाड़ी के आस-पास कृषि-भूमि, चाय बगान और जंगलों से घिरा छोटे-छोटे गांव हैं। चारू मजूमदार और कनु सान्याल के नेतृत्व में शुरू हुआ किसान विद्रोह ही बाद में नक्सलवादी के नाम से जाना गया। चारू मजूमदार और कनु सान्याल का मानना था कि भारतीय मजदूरों और किसानों की दुर्दशा के लिये सरकारी नीतियां जिम्मेदार हैं जिसकी वजह से उच्च वर्गों का शासन-तंत्र पर दबदबा हो गया है और यह सिर्फ सशस्त्र क्रांति से ही खत्म किया जा सकता है।

हालांकि उसी वर्ष मजूमदार और सान्याल सी.पी.आई. 'एम' से अलग हो कर 'आल इंडिया कॉ-आर्डिनेशन कमेटी ऑफ कम्युनिस्ट रिवोल्युशनरीज' बनाई, जिसने बाद में 1969 में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी' का गठन किया। 1967 के नक्सलबाड़ी विद्रोह ने आंध्रप्रदेश के पहाड़ी और दूरस्थ जिले श्री कारकुलम के अनेक नौजवान साम्यवादियों को प्रेरित किया और यहां भी कृषक क्रांति की शुरुआत गुरिल्ला आंदोलन के साथ हुई। गुरिल्ला आंदोलन का मतलब था उन जमींदारों को बर्बाद करना जिनके शोषण के शिकार आदिवासी किसान थे। हालांकि 1970 के दशक के मध्य तक श्री कारकुलम आंदोलन को पूर्णत: कुचल दिया गया। बावजूद सी.पी.आई. 'एमएल' पूर्णत: फिर से संगठित हो गई जो आंध्र प्रदेश में समय-समय पर अपना हस्तक्षेप भी करती रही है। गौरतलब है कि आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की 'लाल पट्टी' जहां दलितों और आदिवासियों को विकास का कोई लाभ नहीं मिला है वे खुलकर विद्रोही नक्सलियों का साथ दे रहे हैं। 'लाल पट्टी' का मतलब पूर्वी भारत के दरिद्रता से ग्रस्त उन क्षेत्रों से है, जहां नक्सली काफी मात्रा में हैं। ये वो इलाके हैं जहां भयानक निरक्षरता और निर्धनता है। ये क्षेत्र आंध्र प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखंड, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल के कई भागों में है। कहने की जरूरत नहीं कि ये जिले देश के निर्धन जिलों में से एक हैं। यदि बिहार में प्रति व्यक्ति सकल घरेलु उत्पाद अन्य किसी भी प्रदेश के मुकाबले कम है तो उत्तरप्रदेश और उड़ीसा भी गरीब प्रदेश हैं। रही बात छत्तीसगढ़ या आंध्र प्रदेश के तेलंगना की, तो यहां आज भी आर्थिक समानता, सामाजिक अधिक्रमिक व्यवस्था और जबरदस्त जातीय विभाजन है। इसके अलावा यहां के लोग किसी एक ही धंधे पर ही आश्रित हैं। खनन और वनन के अलावा कृषि ही यहां की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है।

दूसरे शब्दों में कहा जाये तो लाल पट्टी क्षेत्र में आने वाला समाज सामंती विभाजन के कारण बंटा हुआ है। बहुत से इलाकों मे स्वदेशीय आदिम आबादी है, जो समाज के अन्य वर्गों के संबंधों से अलग-थलग है। बिहार और झारखंड में जातीय एवं जनजातीय स्तर पर विभाजन है और कहीं न कहीं इन मतभेदों के साथ हिंसा का भी रिश्ता जुड़ा हुआ है। आंध्र प्रदेश के तेलंगना क्षेत्र में भी जबरदस्त जातीय विभाजन है। छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में निर्धन लोग बड़ी संख्या में हैं। यही कारण है कि इन जंगली इलाकों के लोगों ने पुलिस, वन और आवाकारी विभाग वालों के प्रति गहरी नफरत पाल रखी है। जाहिर है यह नफरत उन तमाम सरकारी मशीनरी के लिये है, जिससे आम आदमी का वास्ता पड़ता है।

बहरहाल नक्सलियों की ओर से खतरे बढ़ते जा रहे हैं क्योंकि अब वे सिर्फ जंगलों और उसके आस-पास अपनी गतिविधियों को चलाने में विश्वास नहीं रखते हैं बल्कि उन्होंने आर्थिक गतिविधियों को भी चुनौती देना शुरू कर दिया है। दरअसल वे पश्चिम बंगाल में पिछले तीस साल

से अधिक समय से शासन कर रहे सीपीआई (एम) की गलत नीतियों की वजह से पैदा गुस्से को आवाज दे रहे हैं। उधर छत्तीसगढ़ में नक्सल संगठनों ने बिल्कुल निचले स्तर से अपनी जड़ जमाया हुआ है। छत्तीसगढ़ में सबसे पहले आदिवासियों को बिचौलियों और तेंदू पत्ता के ठेकेदारों के खिलाफ एकजुट किया गया यह आंदोलन आज सरकार के लिए एक बड़ी चुनौती बन चुका है। सरकारी व्यवस्था के अपराधीकरण और पुलिस के पंगु होने का नतीजा ही है कि छत्तीसगढ़ में नक्सलवाद का प्रसार तेजी से बढ़ा है जिससे बच्चों की नई पीढ़ी नक्सलवादी बनने को विवश है।

आज झारखंड, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, बिहार के कई जिलों में आधे से अधिक नक्सली ऐसे हैं, जिनकी उम्र 16 साल से कम है। शुरुआती दौर में नक्सली संगठनों द्वारा इन बच्चों का इस्तेमाल केवल सूचना के आदान-प्रदान के लिए किया जाता था। कथित खुली सभा या जन अदालत में सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने का काम बच्चे करते थे। लेकिन अब ऐसा नहीं है। नक्सली संगठन भाकपा माओवादी द्वारा इन दिनों बच्चों को हथियार चलाने और बारूदी सुरंग बिछाने का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। गौरतलब है कि नक्सली दस्ते में शामिल अधिकांश बच्चे दलित, पिछड़े और आदिवासी वर्ग के हैं। कुछ बच्चे ऐसे भी हैं, जिनके परिवार वाले पुलिस या भूपतियों की सेना के हाथों मारे गए और जिनके पास लौटने के लिए कोई अब घर तक नहीं है।

हमारे देश में नक्सलवाद का विस्तार एक बहुत बड़े वर्गों के द्वारा बहुत व्यवस्थित ढंग से किया गया जिसकी परिणति आदिवासियों को चुकानी पड़ी। इतिहास गवाह है कि विश्व भर के देशज लोग, यानी ऐसे लोग जो किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहते हैं, उन्हें जंगली बनाया गया और लूटा गया। ये आदिवासी आज भी भारत की कुल जनसंख्या का आठ प्रतिशत हैं तथा अति वंचित और दमन के शिकार हैं। भारत सरकार ने इन अनुसूचित जनजाति के 573 समुदायों की पहचान की है, और आरक्षित सीटों का हकदार बनाया है। सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय गोंड है, जिनकी संख्या करीब 74 लाख है। दूसरे नंबर पर संथाल है। जिनकी आबादी 42 लाख है। सबसे छोटा आदिवासी समुदाय चैमल्स है, जो अंडमान द्वीप में पाया जाता है और जिसकी कुल आबादी मात्र 18 है। मध्य भारत देश के बड़े आदिवासी समुदायों का घर है और आदिवासियों की कुल जनसंख्या का करीब 75 फीसदी यहां वास करता है। आदिवासी किसी राज्य या क्षेत्र विशेष में नहीं हैं, बल्कि पूरे देश में फैले हुये हैं। ये कहीं नक्सलवाद से जूझ रहे हैं तो कहीं अलगाववाद की आग में जल रहे हैं। जल, जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर चला आ रहा है।

गौरतलब है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशकों में आदिवासियों का शोषण बेहिसाब हुआ है। फिर चाहे ये शोषण ईसाई मिशनरियों द्वारा किया जाता रहा हो या फिर उन्हें भारतीय संपदा से दूर रखकर। गैर-आदिवासी व्यापारियों द्वारा आदिवासियों की सत्य-निष्ठा के साथ धोखा-धड़ी होना और उनकी ईमानदारी पर प्रश्नचिह्न लगना तो आज भी आम बात है। इसलिये यह कहना गलत होगा कि नक्सली केवल आदिवासी हैं! जबकि सच्चाई यह है कि हर वर्ग का, हर वह व्यक्ति जिसका शोषण हो रहा है, जिसकी आंखों के सामने उसकी मां, बहन, बेटी और बहू की इज्जत लूटी जा रही है, वह नक्सलवादी बन रहा है! कल्पना करके देखें माता-पिता की आंखों के सामने उनकी 13 से 16 वर्ष की उम्र की लड़की का सामूहिक बलात्कार किया जाता है और स्थानीय पुलिस उनकी रिपोर्ट तक दर्ज नहीं करती! स्थानीय जन-प्रतिनिधि आहत परिवार को संरक्षण देने के बजाय बलात्कारियों को पनाह देते हैं! निर्दोष को फंसा दिया जाता है। बेकसूर होते हुए भी वह कई वर्षों तक जेल में

सड़ता रहता है। इस दौरान जेल गये व्यक्ति का परिवार, खेती, पशु आदि सब बर्बाद हो जाते हैं। उसकी पत्नी या बेटी को अगवा कर लिया जाता है या उन्हें रखैल बनाकर रख लिया जाता है।

अनेक बार तो 15 से 20 वर्ष के युवाओं को ऐसे मामलों में फंसा दिया जाता है और उनकी सारी जवानी जेल में ही समाप्त हो जाती है। जब कोई सबूत नहीं मिलता है तो वर्षों बाद अदालत इन्हें रिहा कर देती है, ऐसे लोगों का न तो कोई मान-सम्मान होता है और न ही इनके जीवन का कोई मूल्य होता है। परिणाम नक्सल का एक और वृक्ष खड़ा हो जाता है। समाज शास्त्रियों का मानना है कि केवल आदिवासी ही नक्सलवाद के संवाहक हैं, यह पूर्णत: सत्य नहीं है! वर्तमान में आदिवासी की दशा, इस देश में सबसे बुरी है। इस बात को स्वयं भारत सरकार के आंकड़े ही प्रमाणित करते हैं। आदिवासियों के साथ दलित नेतृत्व ने हर मार्चे पर कुटिल विभेद किया है। इसकी भी वजह है। आदिवासियों के शोषण का हथियार स्वयं सरकार ने दलित नेतृत्व के हाथ में थमा दिया है।

इस देश के संविधान में अनुसूचित जाति यानी 'दलित' एवं अनुसूचित जनजाति यानी 'आदिवासी' नाम के दो आरक्षित वर्ग प्रारम्भ से ही बनाये गये हैं। जिन्हें संक्षेप में 'एससी' एवं 'एसटी' कहा जाता है। यही संक्षेपीकरण सम्पूर्ण आदिवासियों का और इस देश के इंसाफ पसन्द लोगों का दुर्भाग्य बन गया है। इन 'एससी' एवं 'एसटी' दो अक्षरों को आजादी के बाद से आज तक इस देश के सभी राजनेताओं और नौकरशाहों ने पर्यायवाची की तरह प्रयोग किया है। इन दोनों वर्गों के उत्थान के लिये बनायी गयी नीतियों में कहीं भी इन दोनों वर्गों के लिये अलग-अलग नीति बनाने पर ध्यान नहीं दिया गया। सरकार की इन नीतियों के चलते 'एससी' एवं 'एसटी' वर्गों के कथित हितों के लिये काम करने वाले सभी संवैधानिक, सरकारी, गैर-सरकारी एवं सामाजिक जगहों पर देशभर में केवल 'एससी' के लोगों ने ऐसा कब्जा जमाया कि आदिवासियों के हित दलित नेतृत्व के यहां गिरवी हो गये। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो दलित नेतृत्व ने 'एससी' एवं 'एसटी' के हितों की रक्षा एवं संरक्षण के नाम पर केवल 'एससी' के हितों का ध्यान रखा गया।

अब तक केन्द्र या राज्यों की सरकारों द्वारा यह तक नहीं पूछा गया कि 'एससी' एवं 'एसटी' वर्गों को अलग-अलग करके कितने लोगों या जातियों का उत्थान किया गया है? यदि संसद में कभी प्रतिशत मामलों को लेकर चर्चा भी हुई तो प्रगति रिपोर्ट भेजने वाले और उनका सत्यापन करने वाले दलित ही हुये। जिन्हें आमतौर पर इस बात से कोई सारोकार नहीं होता कि आदिवासियों के हितों का संरक्षण हो रहा है या नहीं और आदिवासियों के लिये आवंटित बजट दलितों के हितों पर क्यों खर्चा जा रहा है या क्यों लैप्स हो रहा है?

इसे विडंबना ही कहें कि ऐसे ब्यूरोक्रेट्स को दलित नेतृत्व का पूर्ण समर्थन मिलता रहा है। यहां यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि दलित नेतृत्व में सभी लोग आदिवासियों के विरोधी या दुश्मन नहीं हैं, बल्कि आम दलित तो आज भी आदिवासी के प्रति बेहद संवेदनशील है। गौरतलब है कि कुछेक लोगों ने 'एससी' एवं 'एसटी' वर्गों की कथित एकता के नाम पर हर जगह कभी न समाप्त किया जा सकने वाला कब्जा जमा रखा है। संख्या की दृष्टि से देखा जाये तो प्रशासन में भी आदिवासी दलितों की तुलना में आधे से भी कम हैं। जिस देश में हर जाति एक राष्ट्रीय पहचान रखती हो, उस देश में एक वर्ग में बेमेल जातियों को शामिल कर देना और संवैधानिक रूप से दो भिन्न वर्गों को एक ही डंडे से हांकना भी नक्सलवाद का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।

आंकड़े निकाल कर देखें कि 'एससी' एवं 'एसटी' में से किस जाति की महिलाओं के साथ बलात्कार अधिक होते हैं? किस जाति के लोग बलात्कार अधिक करते हैं और किस जाति की महिलाओं के साथ बलात्कार होने पर सजा दी जाती है एवं किस जाति की महिला के साथ बलात्कार होने पर मामला पुलिस के स्तर पर ही रफा-दफा कर दिया जाता है या फिर अदालत में जाकर कोई सांकेतिक सजा के बाद समाप्त हो जाता है? मानव अधिकार आयोग, महिला आयोग आदि के द्वारा सलटाये गये मामले बताते हैं कि इनमें से कितने लोगों को न्याय या मदद मिलती है? अफसरों में जिनकी गोपनीय रिपोर्ट गलत या नकारात्मक लिखी जाती है, उनमें किस वर्ग के लोग अधिक हैं तथा नकारात्मक गोपनीय रिपोर्ट लिखने वाले कौन हैं?

ऐसी असंवेदनशील, असंवैधानिक, विभेदकारी और प्रशासनिक व्यवस्था में आश्चर्य इस बात का नहीं होना चाहिये कि नक्सलवाद क्यों पनप रहा है, बल्कि आश्चर्य तो इस बात का होना चाहिये कि इतना अधिक क्रूरतापूर्ण दुर्व्यहवार होने पर भी केवल नक्सलवाद ही पनप रहा है? लोग अभी भी आसानी से जिन्दा हैं तो सिर्फ इसलिये कि उन्हें लोकतंत्र में विश्वास है?

संदर्भ:

- श्रीकाकुलम शहर उत्तर-पूर्वी आंध्र प्रदेश में श्रीकाकुलम जिले का मुख्यालय है। इसी नाम से श्रीकाकुलम विधान सभा क्षेत्र, श्रीकाकुलम लोक सभा क्षेत्र और श्रीकाकुलम नगरपालिका भी है। मुस्लिम शासन के दौरान यह गुलशनाबाद (लोगों का शहर) नाम से जाना जाता था और मुस्लिम फौजदारों का मुख्यालय होता था। ब्रिटिश शासकों ने इसका नाम शिकाकोल कर दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात इसका नाम पुन: बदल कर श्रीकाकुलम कर दिया गया।
- नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम के विद्रोहों पर सारगर्भित एवं संक्षिप्त इतिहास की जानकारी हेतु ह्यूमन राइट्स वॉच के लिए पैट्रिशिया ग्रोसमैन द्वारा प्रकाशित 'ह्यूमन राइट्स इन इंडिया : पुलिस किलिंग्स ऐंड रूरल वायलेंस इन आंध्र प्रदेश' पढ़ें।
- वेलामा आंध्र प्रदेश की सामंती जमींदार जाति या सामाजिक समूह है। उन्होंने 14वीं और 15वीं शताब्दी में आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, विदर्भ के कुछ हिस्सों और पूरे तेलंगाना पर राज किया था। आंध्र के कुछ हिस्सों पर तो उनका 19वीं शताब्दी तक शासन रहा था। वेलामा को आंध्र प्रदेश के सर्वाधिक शक्तिशाली समुदायों में एक माना जाता है।
- नक्सलाइट्स इन आन्ध्र प्रदेश : हैव वी हर्ड द लास्ट ऑफ द पीस टाक्स? द्वारा के. बालागोपाल (इकॉनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, मार्च 26-अप्रैल 01, 2005)
- आदिवासिस ऑफ साउथ उड़ीसा : एन्ड्योरिंग पॉवर्टी, संजय कुमार, इकॉनोमिक ऐंड पॉलिटीकल वीकली (27 अक्टूबर-2 नवम्बर, 2001)
- 'ट्राइबल आइडेन्टिटी इन इंडिया : एक्सटिंक्शन ऑर एडेप्टेशन' नामक पुस्तक 1996 में इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय, भोपाल द्वारा प्रकाशित की गई थी।
- जादूनाथ सरकार द्वारा लिखित 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' के पृष्ठ 338 से 344 तक। आरिएंट ब्लैक स्वान आई एस बी एन 978-81-250-3690-6
- एस बी चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित और मित्तल पब्लिकेशन्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'सोशल साइंस ऐंड सोशल कनसर्न' में इन्दिरा देव का लेख 'डवलपमेंट ऐंड द फ्यूचर ऑफ ट्राइबल्स'।

जाति आधारित आरक्षण
एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ॰ शेखर राजपाल

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, डी.एन.एस. कॉलेज, भुसिया (रजौन), तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं, प्रथम वर्ग को उच्च या सबल वर्ग कहा जाता है तथा दूसरे वर्ग को दलित या शोषित, निम्न, वंचित वर्ग के नाम से जाना जाता है। निम्न एवं वंचित वर्ग शुरू से ही उच्च या सबल वर्ग के शोषण का शिकार रहा है तथा उसे समाज में तिरस्कार तथा हेय दृष्टि से देखा जाता है उच्च तथा निम्न के इस भेद को मिटाने तथा देश में समानता की स्थापना हेतु स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय संविधान में संविधान निर्माताओं द्वारा इस हेतु सामाजिक न्याय की स्थापना की गई, ताकि वंचित वर्ग को समाज की मुख्य-धारा में लाया जा सके वंचित वर्ग को उच्च वर्ग के समान लाने हेतु संविधान में शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमता मौजूद हैं। अत: सामाजिक न्याय को आरक्षण नीति के माध्यम से दलित-आदिवासी शोषित समाज तक ईमानदारी से लागू किया जाना चाहिए ताकि समाज का यह वर्ग राष्ट्र की मुख्य-धारा में शामिल हो सके और समाज का यह कमजोर वर्ग अपने अधिकारों एवं उपलब्धियों तथा वर्तमान स्थिति के परिदृश्य से परिचित हो तथा उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक चेतना आ सके।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति की भूमिका प्राचीनकाल से ही निर्णायक रही है और आज भी व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसका स्थान काफी हद तक जाति पर निर्भर करता है। प्राचीन जातीय सामाजिक व्यवस्था की ही तरह आधुनिक युग में भी कुछ जातियों को प्रतिष्ठा एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि कुछ जातियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, आज जो सामाजिक व्यवस्था हमारे सामने है मूलत: वह वर्ण-व्यवस्था का ही विकृत स्वरूप है, प्रारम्भिक वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज में मुख्य रूप से चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। इनके अपने-अपने व्यवसाय थे, वैदिक काल में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म-निर्धारित नहीं था जन्म पर आधारित जाति प्रथा का प्रारम्भ वैदिकोत्तर काल में माना जाता है। धीरे-धीरे समाज में यह विश्वास गहरा होता गया कि जाति प्रथा ईश्वरीय देन है बाद में वर्ण-व्यवस्था के ही परिणामस्वरूप भारतीय समाज हजारों जातियों और उपजातियों में बँट गया।

जाति की कठोरता और जटिलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई दूसरों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाली भारतीय सभ्यता स्वयं अपनी सामाजिक रूग्णता के कारण विकृत होने लगी समाज में निम्न जातियों को अछूत कहा जाने लगा और उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया जाने लगा। परिणामस्वरूप अनेक व्यवसायों में उनका प्रवेश लगभग असम्भव हो गया। उन्हें अपनी आजीविका

के लिए समाज की उच्च जातियों की दया-दृष्टि पर निर्भर रहना पड़ा। इन सबके कारण वे शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़ गए उनकी दशा अत्यन्त दयनीय बन गई उनकी यह दरिद्रावस्था स्वतन्त्र्योत्तर काल में भी सुधार नहीं सकी स्वन्त्रता के बाद भी निम्न और पिछड़ी जातियों के लोग नारकीय जीवन व्यतीत करने पर विवश रहे है। जब भारत सरकार ने 1957 में अनुसूचित जातियों की प्रथम सरकारी सूची जारी की तो उसमें ऐसी 1100 जातियों का उल्लेख था बाद में पिछड़ी जातियों पर नियुक्त मण्डल आयोग ने 3743 जातियो को पिछड़ी जातियों में आकलित किया।

सामाजिक न्याय की अवधारणा-स्वतन्त्रता सामाजिक न्याय का यद्यपि एक आवश्यक व महत्वपूर्ण तत्व है। तथापि अधिक निश्चित अर्थ में सामाजिक न्याय से आशय आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थापना है। स्वतन्त्रता कतिपय बुनियादी अधिकारों की कल्पना करती है जो व्यक्ति के नैसर्गिक विकास के लिए जरूरी है, किन्तु अधिकारों का शायद ही कोई अर्थ है यदि समाज की रचना असमानता के सिद्धान्त पर हुई हो। एक न्यायपूर्ण व्यवस्था वह है जो जितनी अधिक विषमता होती है अन्याय व शोषण की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होती है।

संविधान एवं सामाजिक न्याय-भारतीय संविधान के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक न्याय उसकी आत्मा है, संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक न्याय को मूल उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि संविधान का उद्देश्य अपने सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता तथा व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता का विकास करना है। भारत में आरक्षण नीति की अवधारणा-आरक्षण नागरिक भेदभाव की नीति का एक अंग है, इसका उद्देश्य निर्योग्यिता, वंचित एवं पीड़ित लोगों को सामाजिक न्याय दिलाना है। इसमें सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों के लोगों को सार्वजनिक महत्व क कतिपय क्षेत्रों में सामान्य प्रतिस्पर्धा से पृथक् कुछ स्थान आरक्षित किया जाता है। साथ ही उनके लिए सफलता के अवसर सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रतिस्पर्धा के नियमों में कुछ शिथिलता भी बरती जाती है।

संम्प्रभु भारत सहित विश्व के अधिकांश देशों में जहाँ इसका प्रावधान है। यह कमोवेश विवाद का विषय बना हुआ है, सामान्य नागरिकों से लेकर राजनेता और बुद्धिजीवी वर्गो तक के लोग इस प्रश्न पर दो खेमों में बँटे हुए है, एक आरक्षण समर्थक है और दूसरा आरक्षण विरोधी हैं। एक आरक्षण के पक्ष में तकरीर करता है। जबकि दूसरा उसकी खिलाफत करता है। वस्तुतः दोनों पक्षों में मतान्तर और विवाद सामाजिक न्याय के प्रश्न पर नहीं है, अपितु सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में आरक्षण के औचित्य को लेकर है, सच पूछा जाए तो विवाद आरक्षण के औचित्य के प्रश्न पर भी उतना नहीं हैं जितना कि आरक्षण की पात्रता सीमा और अवधि को लेकर है।

इतिहस बताता है कि वैसे भी आरक्षण कमजोर वर्गो को अनायास नहीं मिला करते। मनुष्य के विकास क्रम में समर्थो के हक में समाज की सारी सम्पदा, सारे अवसर और सारी सम्भावनाएं आरक्षित हुआ करती थीं। शेष सभी वंचित होते ज्यों-ज्यों बदलते सामाजिक -आर्थिक -राजनीतिक परिवेश में किसी अन्य वर्ग का दखल अनिवार्य होता गया उसे भी आरक्षणों में कुछ-न-कुछ मुनासिब टुकड़ा मिल गया स्वतन्त्रता के बाद दलित वर्गो को सरकारी नौकरियों तथा विधानमण्डलों में मिला आरक्षण यही रेखांकित करता है, इन आरक्षणों ने बराबरी के समाज के लिए एक ऐतिहासिक भूमिका

निभाई है पर अब वह जैसे विकास के उत्प्रेरक के रूप में एक डेड एण्ड पर पहुँचने जा रहा है दरअसल इन आरक्षणों से फायदा उठाने वालों की अपनी स्वतन्ता वर्ग दृष्टि भी बनी है। भारत में स्वतन्त्रता के बाद पिछड़े वर्गों (अ. जा./अ. ज. जा./अ. पि. व.) के कल्याण एवं सुरक्षा के लिए आरक्षण सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान तथा सेवा सुरक्षा की व्यवस्था-भारत के संविधान द्वारा सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय और प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता दी गई हैं। राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत, अनुच्छेद-46 में, यह व्यवस्था की गई है कि-"राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के विशेष रूप से, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी में अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षा करेगा।"

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान में उपेक्षित, कमजोर व असुरक्षित वर्गों का सम्पूर्ण विकास सुनिश्चित करने हेतु सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सेवा सम्बन्धी सुरक्षणों तथा चुनींदा संरक्षणात्मक उपायों की व्यवस्था की गई है ताकि उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में समाज के अन्य वर्गों के बराबर लाया जा सके। आरक्षण से राष्ट्र दुर्बल होने के बजाय मजबूत ही होगा-प्रतिभा दो तरह की होती हैं-एक नैसर्गिक, और दूसरी स्वप्रयास से विकसित पहली श्रेणी की प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त होती है जो सवर्ण और पिछड़ा दोनों में से किसी के भी पास हो सकती है। लेकिन स्वप्रयास से विकसित प्रतिभा अवसर मिलने पर ही विकसित होती है। अवसर पर किसी खास वर्ग का एकाधिकार होना भी देश और समाज की सेहत के लिए ठीक नहीं है। वैसे भी दलित, कमजोर और पिछड़ा वर्ग के लोग भारतीय वर्ण व्यवस्था के तहत सदियों से शोषित रहे हैं अतः उनको आरक्षण देकर आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया जाता है तो कोई अन्याय नहीं होगा और देश कमजोर होने के बजाय मजबूत ही होगा।

आरक्षण के प्रावधान को आगे बढ़ाने के लिए जोर देती रहती है जबकि अन्य जातियों आर्थिक आधार पर आरक्षण के लिए जोर देती रहती हैं भारत में जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों तथा हितों की पूर्ति के लिए नीति निर्माताओं को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण- तमिलनाडु में नडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि सामान्य रूप से भारत में पंचायत विधान मण्डल, संसद सभी चुनावों में जाति गत समीकरण अहम भूमिका निभाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

(1) रोज ऑफ कॉनिफिलिक्ट एमांग द वर्किंग वुमेन – पुष्पा सिन्हा।
(2) द चेंजिंग पोजीशन ऑफ इंडियन वुमेन – एम. एन. श्रीनिवास।
(3) रिजर्वेशन एज ए स्ट्रेडजी फोर पॉलिटिक्स एम्पावरमेंट – रचना सुचिनमयी।
(4) वीमेन वेलफेयर एण्ड डेवलपमेंट – डी. चौधरी।
(5) रोल ऑफ वुमेन इन पंचायती राज दि एडमिनिस्ट्रेटर, Vol XLI।
(6) सूचना एवं जन-सम्पर्क विभाग – जून – 2008 तथा मई –2008।
(7) कुरूक्षेत्र मई, 2007 व अगस्त 2008।

हिन्दी साहित्य में लघुपत्रिका आन्दोलन की सामाजिकता

सुभाषा तिवारी

शोध छात्रा, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

साहित्य के सामाजिक प्रयोजनों, सरोकारों एवं साहित्य की सामाजिकता के अभियानों की चर्चा खूब होती रही है। आरा से निकलने वाली 'मित्र' ने तो साहित्य की सामाजिकता का रचनात्मक 'अभियान' अपना नारा ही घोषित कर दिया। आम आदमी के जीवन से किताबों को और प्रकारान्तर से साहित्य को अनुपस्थित किया जा रहा है। एक बड़ी आबादी को श्रम की संस्कृति के विरुद्ध उकसाया जा रहा है। श्रम की संस्कृति की जगह 'पाप कल्चर' जैसी अन्तर्विरोधी संस्कृति को महिमा मंडित किया जा रहा है, इस षड्यंत्र में सर्वाधिक सक्रियता 'इलेक्ट्रानिक मीडिया' ने दिखाई है, लेकिन अफसोस प्रिंट मीडिया भी बहती गंगा में हाथ धोने से पीछे नहीं रहा। दूरदर्शन ने समाज के स्थस्नय के लिए क्या किया? व्यक्तिवादिता, मक्कारी, धूर्तता, स्वार्थपरता, चाटुकारिता, मुनाफाखोरी, एय्याशी एवं आरामतलवी को 'इंजेक्ट' करने का काम किया है, लोगों की चेतना में फकत एक रोटी की खातिर न जाने कितने लोग हाड़तोड़ मेहनत करते हैं। दिन भर यह दूरदर्शनी संस्कृति उन्हें रातों को 'इलीट कल्चर' के बोध में ढेल देती है। यह 'पाप कल्चर' है जो भ्रमों की विराट् दुनिया रचती है। आम आदमी कटु-कठोर यथार्थ से पलायन की सुविधा पा जाता है। यह सिर्फ दु:खों से ध्यान हटाने की तरकीब है, दु:खों के विरोध की, उनसे संघर्ष की कोई तकनीक नहीं ऊर्जा भी नहीं। एडीर्नो ने लिखा है कि पाप कल्चर- कठमुल्ला, समाज से कटा हुआ और उन्मादी मनुष्य निर्मित करता है। जो हताश होता है और पलायनवादी भी। जाहिर है ऐसी संस्कृति, साहित्य को हाशिए पर डालने की साजिशें तो रचेगी ही। मिथिलेश्वर ठीक ही चिन्तित हैं कि अपने घर-परिवार में, समाज के विभिन्न हिस्से एवं आयोजनों में साहित्य की उपेक्षा और अनुपयुक्तता का एहसास हम करने लगे हैं, या हमें कराया जाने लगा है''[1]। उन्होंने उस विभीषिका की तरफ भी ध्यान दिलाया है जब हम अपने-अपने द्वीपों में अपनी स्वेच्छा से कैद कर दिए जाएँगे,'' तब सम्भवत: अपने माध्यम के साथ अपने समाज परिवार एवं घर में निपट अकेले होते जाना हमारी नियति हो जायेगी। यह हमारे समाज का और एक व्यापक असर वाले माध्यम के निरर्थक हो जाने का सच है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता''[2] लब्ध प्रतिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि ''किताबों की बदौलत आप एकान्त में देशकाल की यात्रा करते हैं। अच्छी किताबों का पाठक होना, सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य की बहुत बड़ी पहचान है''[3] श्री त्रिपाठी का किताबों से मतलब साहित्य से है। और इसमें कोई विवाद नहीं

कि लघु पत्रिकाओं के बिना साहित्य को बचा पाना ही मुश्किल है। परमानन्द श्रीवास्तव तो कहते हैं कि दरअसल लघु पत्रिकाओं के बिना साहित्य का इतिहास ही नहीं लिखा जा सकता[4]। ऐसे में लघु पत्रिकाओं की भूमिका और बढ़ जाती है। एक समाज जिसका 'लुम्पेनाइजेशन' किया जा रहा है, जिसमें क्रमशः प्रतिरोधी स्वरों को (जिसमें साहित्य भी शामिल है) हाशिए पर डाला जा रहा है; लघु पत्रिकाओं की जिम्मेदारी कुछ अधिक ही प्रतीत होने लगती है। शंभुनाथ कहते भी हैं कि, ''यह बौद्धिक प्रतिवाद का बचा हुआ मंच है''[5] लघु पत्रिकाएँ ही हैं जो उपभोक्तावाद और बाजारवाद के हमलों के बीच मानवीयता को बचा सकती है। क्योंकि 'ये उनकी निर्मितियाँ हैं जिनके दिल जुझारू विचारों एवं कलाओं से भरे होते हैं''।

वस्तुतः लघु पत्रिकाओं के सामने सबसे बड़ी चुनौती है और रही है कि समाज में जरूरी परिवर्तन किए जाएँ। परिवर्तन कामी शक्तियों को बल प्रदान करे। आजादी के ठीक बाद जब व्यावसायिक घरानों ने साहित्य को अपने घर की चेरी बनाने की कोशिशें की, साहित्य को बेच कर मुनाफा कमाने का प्रयास किया, उस समय बड़ी संख्या में लघु पत्रिकाओं ने प्रतिरोध का वातावरण बनाया एवं उस प्रतिरोध को आन्दोलन का रूप दिया। आज फिर त्रासद स्थिति है। व्यावसायिक घरानों ने अपनी उन तमाम पत्रिकाओं को बंद कर दिया जिनमें वे कभी साहित्य की छौंक मारा करते थे। कागजों के दाम बढ़े इमरजेंसी लगी, छपाई मंहगी हुई। पढ़ने की संस्कृति पर हमले किए गए लेकिन लघु पत्रिकाएँ अभी भी जीवित है। एक अनुमान के मुताबिक आज करीब चार सौ के आस-पास हिन्दी में लघु पत्रिकाएँ निकल रही है, तब रमेश उपाध्याय का कथन बड़ा अजीब लगता है कि ''लघु पत्रिकाओं के दिन पूरे हो गए[6]।''

शंभुगुप्त लघु पत्रिकाओं को 'इंजिन' कहते हैं जिनके बिना साहित्य की गाड़ी का चलना मुश्किल है[7] लेकिन उस समाज की भी कल्पना कम मुश्किल नहीं प्रतीत होती जहाँ साहित्य की कोई संस्कृति ही न हो। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य ने ये साबित किया है कि समाज के स्पन्दनों पर अभी भी उसकी पकड़ है। इन्हीं लघु पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य समाज में संवेदनाएँ रोपता है, मानवीयता को हरा-भरा रखता है। ऊँचे मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है।

आम तौर पर लघु पत्रिकाएँ मानवीय स्वतंत्रता की ही संवाहक होती हैं इसके बावजूद कि बाजारवाद ने साहित्य को भी काफी क्षति पहुँचाई है। अपसंस्कृति के तात्कालिक हमलों से क्षणिक तौर पर यह प्रतीत हो सकता है कि साहित्य की जगह सिकुड़ती जा रही है लेकिन साहित्य की प्रकृति भी 'अग्निपक्षी' की तरह है, जो बार-बार मर कर बार-बार जीवित हो उठती है।

परमानन्द श्रीवास्तव ने लघु पत्रिकाओं के जरूरी आदर्शों को गिनाते हुए यह बताया है कि, ''अपने कठिन समय को परिभाषित करना, उन ज्वलंत सवालों के परिप्रेक्ष्य में, जो आज के समाज को तीखे ढ़ंग से प्रभावित कर रहे हैं''[8] यानी सामाजिक सरोकारों को एक बार फिर उन्होंने साहित्य एवं साहित्यिक प्रत्रिकाओं के मूल स्वर के रूप में रेखांकित किया है।

शंभुनाथ कहते हैं कि, ''साहित्य लेखन एक मुश्किल काम है, पर इससे ज्यादा मुश्किल है एक साहित्यिक संस्कृति बनाना''[9] बेशक और तब तो और जब तमाम तरह की सत्ताएँ साहित्य की दुनिया को अनुकूलित करने में लगी है। बाजार की सत्ता हो, अर्थ की सत्ता हो, राजनीतिक सत्ता हो या

समाज की अन्य वर्चस्वशाली शक्तियाँ हो। लेकिन परमानन्द श्रीवास्तव ठीक ऐसे ही समय में उस विचार को चिन्हित करते हैं जो इन लघु पत्रिकाओं के पीछे सबसे बड़ा सम्बल बन खड़ा होता है, ''लघु पत्रिकाओं में स्वीकृत नवीनता को अक्सर एक विचारधारा का बल प्राप्त होता है, जो प्रभुता सम्पन्न वर्ग को चुनौती देने वाली हों, जो सामाजिक परिवर्तन की वाँच्छित कल्पना की पक्षधर हो, जो जनता के संघर्ष से जुड़ी हो''[10]।

सामाजिक परिवर्तन की इच्छा एवं जनता के संघर्षों से तीव्र जुड़ाव ही लघु पत्रिका आन्दोलन के मूल में रहा। समाज की उन्हीं स्थितियों से उपजे तनाव एवं उसकी अभिव्यक्ति ने लघु-पत्रिका आन्दोलन में सूत्रधार की भूमिका निभाई।

'नये पत्ते (1953) 'नयी कविता (1954) निष्कर्ष (1955) इत्यादि पत्रिकाओं के प्रकाशन ने हिन्दी साहित्य में कई नई बहसों को जन्म दिया। समवेत (1956) सागर आकलन (1956) कथा कहानी (बिल्ली) ने न सिर्फ अपने समय के नवलेखन को ही रेखांकित किया अपितु कई नव विमर्शों को भी आमंत्रित किया। विचार को लेकर भी तीखी बहसें जारी रही। प्रगतिशीलों एवं परिमलियों के बीच की वैचारिक बहसों ने परस्पर एक-दूसरे खेमें को रचनात्मक ऊर्जा से तो लैस किया ही, उनमें सांगठनिक एवं प्रकाशन से संबंधित सक्रियता भी भरी। 'कथा कहानी' - ने इसी समय 'राज्याश्रय बनाम सेठाश्रय की बहस को बड़ी गम्भीरता से चलाया था। नई कहानी और कविता के आन्दोलन इसी दौर की परिणतियाँ हैं।

नक्सलवादी आन्दोलन को भी लघु-पत्रिकाओं ने वैचारिक समर्थन दिया। इमर्जेन्सी के दिनों में तमाम तरह के प्रतिबन्धों को झेलते हुए भी जीने का माद्दा इन्हीं लघु पत्रिकाओं ने दिखाया। न जाने ऐसी कितनी बहसें, लघु पत्रिकाओं के द्वारा संचालित की गई एवं प्रचारित-प्रसारित की गई जो कहीं भी-कभी भी किसी व्यावसायिक पत्रिका की सीमा और क्षमता से बाहर ही पड़ती। लघु पत्रिकाएँ इन्हीं अर्थों में और सार्थक हो उठती हैं कि वे एक सतत संवाद भी होती है। जनता और समकालीन वैचारिकी के बीच एक सेतु। 1950 में प्रकाशित 'नई चेतना' सही अर्थों में सृजनात्मक लेखन के प्रति प्रतिबद्ध पत्रिका के रूप में सामने आती है।

'नया साहित्य' ने एक नई गति प्रदान की साहित्यिक लेखन से लेकर साहित्य के वातावरण तक। इसके सम्पादक प्रकाश चन्द्र गुप्त थे। मई 1951 का अंक काफी विवादास्पद रहा। जैनेन्द्र विषयक यशपाल के आलेख से और उसके बाद राम विलाश शर्मा को लेकर की गई सम्पादकीय टिप्पणियों से। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'प्रतीक' की अपनी विशिष्ट पहचान है। मुख्य रूप से सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन के सम्पादन में प्रयाग से प्रकाशित प्रतीक ने बाद में कई श्रेष्ठ अंक दिए। विश्व साहित्य के प्रति जागरूकता के परिणामस्वरूप हरीश रायजादा के सम्पादन में ''विश्वसाहित्य'' नामक पत्रिका ने प्रमुख भाषाओं की कुछ प्रतिनिधि रचनाओं को पहले ही अंक में प्रकाशित कर साहित्य की हलचलों को कुछ और बढ़ाया।

1956 में इलाहाबाद से 'सृजन' बद्रीनाथ तिवारी के सम्पादन में, प्रकाशित हुआ जबकि 1953 से ही इलाहाबाद परिमल की ओर से रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में 'नए पत्ते' निकल ही रहा था। प्रगतिशील खेमे की ओर से भी दुष्यन्त कुमार के सम्पादन में ''विहान'' का प्रकाशन प्रारम्भ

हुआ। मध्य प्रदेश भी साहित्य सर्जना के लिहाज से काफी उर्वर रहा है। और साहित्यक सांस्कृतिक गतिविधियों के लिहाज से तो हर वक्त दो कदम आगे ही। इसी सक्रियता की निष्पत्ति लघु पत्रिकाओं के प्रकाशन के रूप में होती है। 1955 में श्रीकांत वर्मा ने रायपुर से 'नयी दिशा' त्रैमासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। हालाँकि पीछे मूल प्रेरणा मुक्तिबोध की ही थी परन्तु मध्य प्रदेश के लगभग सारे लेखकों ने इसे समृद्ध करने में अपना-अपना योगदान किया था।

लेकिन साठ के दशक की सर्वाधिक प्रभावपूर्ण पत्रिका 'वसुधा' थी। हरिशंकर परसाई के सम्पादन में इस पत्रिका ने प्रगतिशील वातावरण के निर्माण की जिस गौरवशाली परम्परा की नींव डाली थी, वह प्रो॰ कमला प्रसाद की प्रतिबद्ध वैचारिकी एवं कुशल सम्पादन में अद्याविधि अक्षुण्ण है।

वैसे साठ के दशक की अन्यानेक पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने लघु पत्रिकाओं के आन्दोलनात्मक स्वरूप को समृद्ध किया था। जैसे - कलकत्ता से राम बहादुर सिंह 'मुक्त' के द्वारा 'क्षितिज', नलिन विलोचन शर्मा ने पटना से 1957 में कविता को केन्द्र में रखकर 'कविता', वाराणसी से एक अन्य कविता को केंद्रित पत्रिका 'कवि', तो दिल्ली से कहानी पर केन्द्रित 'कथा कहानी' एवं राजस्थान के अजमेर से 'लहर'। राजस्थान के ही लेकिन जयपुर से 1960 में कृष्णवल्लभ शर्मा के सम्पादन में 'निष्ठा' निकली। इन्हीं छोटी-मोटी लेकिन गम्भीर कोशिशों का सुफल रहा कि लघु पत्रिकाएँ खुद तो संजीदा हुई ही; तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य में इन्हें संजीदगी से लिया भी जाने लगा। यह सही है कि कुछ अवसरवादी लोगों ने लघु पत्रिका आन्दोलन की शक्ति का निहित स्वार्थों के लिए दुरूपयोग भी किया। तमाम लेखकों ने उस दौर को 'भयंकर व्यक्तिवाद एवं अराजकता का दौर'[11] बताया है। यह भी कि 'इनका (लघु पत्रिकाओं का) उद्देश्य अत्यन्त संकुचित था। वे किसी बृहत्तर साहित्यिक या सामाजिक उद्देश्य से नहीं, बल्कि मान्यता और प्रतिष्ठा करने के लिए निकाली गई थी''[12]।

लेकिन यह दशक लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन के सकारात्मक पक्षों के लिए ज्यादा जाना जाता है। सर्वप्रथम एक महत्वपूर्ण तथ्य लक्षित करने योग्य यह है कि लघु पत्रिकाएं ठीक इसी दशक में व्यावसायिक पत्रिकाओं से सीधे-सीधे मुठभेड़ को सन्यस्त हुई। अब इनकी उपेक्षा संभव नहीं रह गई थी। इनकी धार सभी महसूस करने लगे थे। इनके प्रभाव से वाकिफ भी होने लगे थे। और इनकी शक्ति के आगे समर्पण भी करने लगे थे। हालाँकि दिनमान साप्ताहिक के 18 मार्च 1966 के अंक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लघु पत्रिकाएँ महात्वाकांक्षाएं शीर्षक आलेख में लघु पत्रिकाओं को खारिज कर देने की एक कोशिश तो की थी। परन्तु रमेश बक्षी जो प्रारम्भ से ही व्यावसायिक प्रतिष्ठानों-पत्रिकाओं से जुड़े रहे थे, अचानक साहित्यिक पत्रकारिता की ओर उन्मुख हुए एवं 'आवेश' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि कि इस दशक का सबसे बड़ा अवदान रहा 'लघु पत्रिका' प्रदर्शनी और लघु पत्रिकाओं पर गोष्ठी का आयोजन। कई मायनों में यह ऐतिहासिक रहा। प्रथमत: यह कि लघु पत्रिकाओं से जुड़े हुए लोग कोई छोटी जमात के नहीं है। यह जान कर कि 128 पत्रिकाएँ निकल रही है, तत्कालीन लघु पत्रिका आन्दोलन एक नई गति से भर उठा। सुदूर अंचलों से गाँवों-कस्बों से लघु पत्रिका के प्रति प्रतिबद्ध लोगों का दिल्ली जैसी जगह में जुटना ही बड़ी बात थी।

इस संगोष्ठी एवं प्रदर्शनी ने यह भी किया कि लघु पत्रिकाओं की 'रेंज' की सही जानकारी हो गई। यह भाव भी विन्यस्त हुआ कि जनोन्मुखी-प्रतिबद्ध साहित्य लघु पत्रिकाओं में ही छप रहा है, और यह भी कि व्यावसायिक पत्रिकाओं का बहिष्कार लेखकों के चरित्र को और भाँजता ही है। लघु पत्रिका में छप रहे साहित्यकार इस हीनता ग्रन्थि से भी बाहर आए कि वे व्यावसायिक पत्रिकाओं में छप रहे और छाप रहे महान् साहित्यकारों की कृपा से ही साहित्य की दुनिया में है।

संदर्भ सूची:

1. मिथिलेश्वर, प्रवेशांक 'मित्र', सम्पादकीय, पृष्ठ 4
2. वही
3. विश्वनाथ त्रिपाठी, हरेप्रकाश को साक्षात्कार देते हुए, दैनिक हिन्दुस्तान, पटना, साप्ताहिक परिशिष्ट 'कृति' 17 मई 2005
4. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 179
5. शम्भूनाथ, मित्र -1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 58
6. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994
7. शम्भूनाथ, मित्र-1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 60
8. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 183
9. शम्भूनाथ, मित्र-1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 61
10. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 180
11. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994 देवेन्द्र चौबे, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994
12. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994

हिन्दी साहित्य में आंचलिकता की संभावनाएं और सीमाएं

रणविजय पासवान

पचीस कुर्वा, हाजीपुर

हिन्दी साहित्य में एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में आंचलिकता की चर्चा किये बगैर सृजन के धरातल पर उसका उपयोग काफी पहले से होता रहा है। रचनाओं को जीवंत एवं यथार्थ पूर्ण बनाने के लिए रचनाकार स्थानीय स्पर्श एवं रंग का उपयोग लंबे समय से करते आ रहे हैं। कविताओं एवं नाटकों में तो इस उपयोग को यत्र-तत्र ही देखा जा सकता है। लेकिन कथा-साहित्य में इस उपयोग ने एक व्यापक फलक प्राप्त किया है। इस संदर्भ में आचार्य शिवपूजन सहाय के उपन्यास ''देहाती-दुनिया'' एवं उनकी कुछ कहानियों में बिहार के भोजपूरी गांवों की छवि एवं संस्कृति देखी जा सकती है। प्रेमचंद्र के ''प्रेमाश्रम'', ''कर्मभूमि'', ''रंगभूमि'', और ''गोदान'' उपन्यासों एवं कहानियों में बनारस तथा बनारस के आसपास के गांवों के सजीव चित्र से साक्षात्कार किया जा सकता है। वृंदावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में नदियों एवं जंगलों का काव्यमय वर्णन, बुंदेलखण्ड के नर-नारियों को, वेशभूषा एवं उनके रीति-रिवाज तथा अंचल की भौगोलिक विशेषताओं को देखा जा सकता है। नागार्जुन के उपन्यास ''वरूण के बेटे'', ''बलचनमा'', ''दुखमोचन'', ''नई पौध'', ''बाबा बटेसरनाथ'' में बिहार के मिथिलांचल के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थितियों से अवगत हुआ जा सकता है। निराला के उपन्यास ''बिल्लेसुर बकरिहा'' में एक क्षेत्र विशेष के आंचलिक सौंदर्य का दर्शन किया जा सकता है।

जैसा कि विदित है, उपर्युक्त अधिकांश कृतियां फणीश्वर नाथ रेणु के ''मैला आंचल'' से पहले की हैं। बिना किसी आंचलिक आग्रह के लिखी गयी ये कृतियां अपने अंचल के रंग एवं रस में सनी मालूम पड़ती हैं। लेकिन इनकी चर्चा आंचलित कृतियों के रूप में न होकर यथार्थवादी, सामाजिक एवं अपनी जमीन से जुड़ी हुई कृतियों के रूप में होती रही। इस क्रम में जब फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास ''मैला आंचल'' का प्रकाशन 1954 में हुआ तो अचानक आंचलिकता को साहित्य की एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में चर्चित होने और विस्तार पाने का अवसर मिल गया।

अपने उपन्यास ''मैला आंचल'' की भूमिका में रेणु ने स्पष्ट लिखा है–मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। बिहार राज्य का एक जिला है...मैंने इस के एक हिस्से से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास-कथा का क्षेत्र बनाया है।''

अपनी इस भूमिका के अनुसार सचमुच रेणु ने पूर्णिया अंचल के एक गांव ''मेरीगंज'' को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। अपने वर्ण्य विषय को परिवेश गत ईमानदारी के साथ केंद्र में रखकर

उपन्यास के तत्वों में क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए रेणु ने एक नई चेतना का विकास किया। नायकत्व किसी व्यक्ति को न देकर एक अंचल को दिया। अंचल को समग्र रूप में उजागर कर सकने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी। भाषा, शिल्प, कथ्य सबका प्रयोग अपने अंचल को हू-ब-हू प्रस्तुत करने में लगाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संदर्भ में रेणु को पूरी रचनात्मक सफलता मिली। ''मैला आंचल'' एक उपन्यास नहीं, आजादी के बाद पूर्णिया अंचल की बनती-बिगड़ती स्थितियों का एक जीवंत दस्तावेज है। शायद ''मैला आंचल'' की इन्हीं विशेषताओं को देखकर कुछ आलोचक उसे हिंदी साहित्य की प्रथम आंचलिक कृति मानते हैं। लेकिन कुछ अन्य आलोचकों का मत है कि अगर रेणु ने अपने उपन्यास की भूमिका में उसे आंचलिक उपन्यास न कहा होता तो संभवत: प्रेमचन्द, शिवपूजन सहाय, नागार्जुन आदि की कृतियों की भांति उनकी कृति को भी सामाजिक, यथार्थवादी और अपनी जमीन से जुड़ी हुई सशक्त कृति कहा जाता। इस संदर्भ में मैं इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता कि हिंदी साहित्य की प्रथम आंचलिक कृति कौन है। हां, यह निर्विवाद सत्य है कि आंचलिक साहित्य की व्याख्या, परिभाषा और अर्थ ''मैला आंचल'' के प्रकाशन के बाद ही हिंदी जगत में चर्चाओं का विषय बना है।

आंचलिक शब्द अंचल से बना है। अंचल शब्द का अर्थ एक क्षेत्र विशेष होता है। वह क्षेत्र विशेष जो भौगोलिक सीमाओं से घिरा होता है। अत: आंचलिक शब्द का अर्थ हुआ भौगोलिक सीमाओं से घिरे किसी खास क्षेत्र की विशेषताएं। लेकिन साहित्य के दायरे में जब हम आंचलिक शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ मात्र इतना ही नहीं होता है। आंचलिक साहित्य में भौगोलिक सीमाओं से घिरे किसी क्षेत्र विशेष का सिर्फ परिचय ही नहीं होता, उस क्षेत्र का संपूर्ण जीवन, वहां की सभ्यता-संस्कृति तथा वहां की तमाम बहुआयामी एवं बहुरंगी स्थितियां उभरकर सामने आ जाती हैं। फणीश्वर नाथ रेणु के शब्दों में-''इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी, गुलाल भी, कीचड़ भी, चंदन भी, सुंदरता भी और और कुरूपता भी-यानी आंचलिक साहित्यकार किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाता है। हिंदी में आंचलिक साहित्य का आविर्भाव कैसे और किन परिस्थितियों के तहत हुआ, इस संबंध में अनेक मत प्रकाश में आये हैं। कुछ लोगों ने इसे पाश्चात्य साहित्य की देन कहा है तो कुछ लोगों ने इसे भारत की ही अन्य प्रांतीय भाषाओं की कृतियों का अनुकरण बताया है। एक प्रांतीय भाषा की कृतियों का अनुकरण बताया है।

एक प्रांतीय भाषा की कृति को लेकर ''मैला आंचल'' के ऊपर भी यह आरोप लगाया गया था। लेकिन निराधार और बेबुनियाद होने की वजह से ये आरोप देर तक ठहर नहीं पाये। जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है, हिंदी साहित्य में आंचलिक तत्व एक लंबे समय से सृजन को अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित करते आ रहे थे। इस क्रम में रेणु ने महसूस किया कि अंचल विशेष के स्पर्श एवं उसके हल्के-फुल्के तत्वों के समावेश से ही जब रचनाएं जीवंत हो उठती हैं तो अगर पूरी की पूरी कृति आंचलिकता पर ही आधारित हो तो क्या कहना! और रेणु ने ''मैला आंचल'' लिख डाला। इसके अतिरिक्त आजादी के बाद अपने पिछड़े अंचल पूर्णिया की बनती-बिगड़ती स्थितियों को गहराई के साथ उजागर कर राष्ट्र का ध्यान उस ओर खींचना चाहा।

भारत गांवों का देश है। गांवों के विकास में ही भारत का विकास सन्निहित है। इस दृष्टि से आजादी के बाद के गांवों की संक्रमण शील और संश्लिष्ट तस्वीर पेश करना रेणु को जरूरी लगा। यह समय की मांग थी। इस बिंदु पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी का आंचलिक साहित्य पश्चिम से आयातित या प्रादेशिक भाषाओं की अनुकृति नहीं, मौलिक देन है। हिन्दी साहित्य में एक

लंबे समय से इसके तत्वों की मौजूदगी देखी जा सकती है। हिन्दी के आंचलिक साहित्य का अध्ययन-मूल्यांकन करने के बाद आंचलिकता से संबंधित जो प्रमुख तत्व सामने आये हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. किसी अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति का अंकन और वहां के प्राकृतिक सौंदर्य का काव्यमय वर्णन
2. कथा का आधार वह अंचल विशेष हो जहां की सभी प्रमुख लोककथाओं का उसमें समावेश हो
3. लोक संस्कृति का गहराई के साथ चित्रण
4. वहां की संस्कृति पर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक प्रभाव का वर्णन
5. उस अंचल में शोषण, अन्याय, असमानता और सर्वग्रासी भ्रष्टाचार के खिलाफ उठती नवीन जन-चेतना का रेखांकन
6. उस अंचल की बोली, लोकोक्तियों एवं मुहावरों का संतुलित एवं अनुपातिक प्रयोग

''हिदी उपन्यास-साहित्य का उद्‌मव और विकास'' नामक अपने शोध प्रबंध में डॉ. लक्ष्मीकांत सिन्हा ने आंचलिक उपन्यासों के दो प्रमुख भेद बताये हैं-

(1) रहस्यात्मक

(2) चित्रात्मक

डॉ. लक्ष्मीकांत सिन्हा के अनुसार रहस्यात्मक आंचलिक उपन्यास ज्यादातर पश्चिम में ही लिखे गये हैं, जबकि हिंदी के प्राय: सभी आंचलिक उपन्यास चित्रात्मक ही हैं।

फणीश्वर नाथ रेणु ने ''मैला आंचल'' के बाद पूर्णिया जिले के ''परानपुर'' गांव को कथा-क्षेत्र बनाकर ''परती परिकथा'' नामक अपने दूसरे आंचलिक उपन्यास की रचना की। यह बात दूसरी है कि ''परती परिकथा'', ''मैला आंचल'', के महत्व को नहीं पा सका। लेकिन एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास के रूप में उसका महत्व अक्षुण्ण है। रेणु ने ''जुलूस'', ''दीर्घतपा'', ''कितने चौराहे'' और ''पलटू बाबू रोड'' नामक और आंचलिक उपन्यास लिखे जो अपनी रचना वैशिष्ट्य के लिए निरंतर सराहे जाते रहे हैं। रेणु के प्रसिद्ध एवं चर्चित आंचलिक साहित्य को देखते हुए जब उनसे पूर्व के आंचलिक साहित्य पर विचार किया जाता है तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि प्रेमचंद, नागार्जुन, शिवपूजन सहाय, वृंदावन लाल वर्मा आदि साहित्यकारों ने अपने प्रतिपाद्य विषय को असरदार एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आंचालिक तत्वों का प्रयोग किया, जबकि रेणु ने आंचालिकता को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया और ''मैला आंचल'' की भूमिका में आंचलिक उपन्यास का जिक्र कर अपनी कृति में उसकी व्याप्ति दिखाई। निस्संदेह फणीश्वर नाथ रेणु हिंदी के आंचलिक साहित्य के केंद्रबिदु हैं। साथ ही आंचालिक साहित्य की श्रेष्ठता के निकष भी।

रेणु के समकालीन और परवर्ती साहित्य में अनेक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों का सृजन हुआ, जिससे हिंदी के आंचलिक साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। समयाभाव के कारण विस्तार के साथ यहां सबका जिक्र संभव नहीं हो पाएगा। कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं-उदयशंकर भट्‌ट का'' सागर, लहरें और मनुष्य'', अमृतलाल नागर का ''बूंद और समुद्र'', रामशरण मिश्र का ''पानी के प्राचीर'', शिवप्रसाद सिंह का ''अलग-अलग वैतरणी'', विवेकी राय का ''सोना माटी'', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का ''मुर्दाघर,'' जगदीश चंद्र का ''धरती धन न अपना'', गोविन्द मिश्र का ''लाल पीली जमीन'', कृष्णा सोबती का ''जिंदगी नामा'', हिमांशु जोशी का ''कगार की आग'' आदि।

चूंकि हिंदी के सफल आंचलिक रचनाकार रेणु एवं कुछ अन्य रचनाकारों ने पिछड़े ग्रामीण अंचलों को ही अपने सृजन का क्षेत्र बनाया है, इसीलिए यदा-कदा यह प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि क्या आंचलिक साहित्य सिर्फ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर ही आधारित हो सकता है। लेकिन हिंदी के संपूर्ण आंचलिक साहित्य के अध्ययन के बाद इस सवाल का जवाब स्वत: मिल जाता है। शिवप्रसाद मिश्र रूद्र की औपन्यासिक कृति ''बहती गंगा'' एक ऐतिहासिक आंचलिक उपन्यास है। इसमें काशी की 1750-1950 की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया गया है। इसे आंचलिक इसलिए माना गया है कि काशी के उस समय की मस्ती, उल्लास, उस समय की संस्कृति, रहन-सहन, बात-विचार, मुहावरे- लोकोक्तियों और स्थानीय रंग का गहरा चित्रण किया गया है। राघेय राघव की औपन्यासिक कृति ''काका'' में मथुरा के नागरिक अंचल की तत्कालीन तस्वीर पेश की गयी है। अमृतलाल नागर की औपन्यासिक कृति ''सेठ बांकेमल'' में आगरा नगर के एक क्षेत्र राजामण्डी'' का चित्रण किया गया है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने भी अपने उपन्यास ''मुर्दाघर'' में एक बड़े शहर के पिछड़े हिस्से को ही विषय बनाया है। इस प्रकार हम पाते हैं कि सिर्फ ग्रामीण क्षेत्र ही नहीं, नगर के पिछड़े और बहु प्रचारित विकास से वंचित उस हिस्से को भी आंचलिक साहित्य का विषय बनाया जा सकता है, जिसकी सभ्यता-संस्कृति अभी मिश्रित नहीं हुई है। इससे भी आगे हिंदी के रचनाकारों ने जाति और पंथ विशेष को भी केंद्र बिंदु में रखकर अनेक आंचलिक कृतियों का प्रणयन किया है। उदाहरण के रूप में भरतपुर के आस-पास रहने वाली करनट नामक नटों की एक उपजाति को विषय बनाकर रांगेय राघव ने ''कब तक पुकारूं'' नामक अपनी औपन्यासिक कृति की रचना की है। उदयशंकर भट्ट ने ''सागर, लहरें और मनुष्य'' में बंबई के समुद्र-तट पर रहने वाले मछुआ-समाज को तथा ''शेष-अशेष'' में साधुओं के जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने उपन्यास ''रथ के पहिये'' में मध्य प्रदेश के करंजिया जनपद में रहने वाली गोंड जाति का चित्र प्रस्तुत किया है।

इस बिंदु पर यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी के आंचलिक साहित्य ने न सिर्फ कथ्य के स्तर पर नवीनता का प्रतिपादन किया, बल्कि अभिव्यक्ति की नयी भंगिमाओं और रचनात्मक वैशिष्ट्य को रेखांकित किया। संक्रमणशील और संश्लिष्ट ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने तथा पिछड़े अंचलों के जन-जीवन की हलचलों से लोगों को रू-ब-रू करने में आंचलिक साहित्य की भूमिका असाधारण महत्व की रही है। एक अंचल विशेष के ऊपर केंद्रित होने की वजह से आंचलिक साहित्य को साम्प्रदायिक या क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने वाला साहित्य नहीं कहा जा सकता। विभिन्न अंचलों पर लिखे गये आंचलिक साहित्य के अध्ययन से यह बात जाहिर हो चुकी है कि विभिन्न संस्कृतियों के चित्रण के बावजूद जीवन का सूत्र और भारतीयता का रंग एक है-यानी आंचलिक साहित्य हमें विभिन्न संस्कृतियों की अनेकता में एकता का दर्शन कराता है, जिससे राष्ट्रीय अखंडता की भावना कहीं से भी खंडित नहीं, बल्कि और मजबूत जान पड़ती है।

संदर्भ:

1. 14 भारतीय उपन्यास-तुलसी नारायण सिंह।
2. आज और आज से पहले-कुंअर नारायण।
3. आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद-खगेन्द्र ठाकुर।
4. आज के दौर की अखबारनवीसी-प्रभात।
5. आज के रंग नाटक एक तुलनात्मक अध्ययन-बिंदु भट्ट।

भारतेन्दु काल की पत्रकारिता में राष्ट्रवाद

अभिषेक रंजन

शोध छात्र, नेट, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

पत्रकारिता एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जिसमें हमारे जीवन की विभिन्नताओं, नित्य-न्यूनताओं और दैनिक घटनाओं आदि को शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत करने की अतुल क्षमता है। वस्तुतः यही वह माध्यम है, जिसके अन्तर्गत हम विश्व-जीवन से संयुक्त होते हैं। आज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों की बहुधंधी एवं व्यस्तता प्रधान जीवन में समाचार पत्र हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। जिस तरह शारीरिक भूख शांत करने के लिए भोजन जरूरी है, उसी प्रकार मानसिक तृप्ति के लिए तथा दैनिक जीवन के लिए ये अनिवार्य बनते जा रहे हैं।

पत्रकारिता का लक्ष्य महान् होता है। वह जन सामान्य की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करती है और मनोरंजन का कार्य भी करती है। समाज का कोई भी पक्ष या राष्ट्र की कोई भी चिन्ता पत्रकारिता के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाती है। जन समान्य में फैली हुई संकीर्णताओं (छूआछूत, अंधविश्वास और रूढ़ियाँ) के संबंध में समय-समय पर टिप्पणियाँ लेख एवं फीचर आदि प्रकाशित कर पत्रकार जनमानस को देश-काल और परिस्थितियों के अनुकूल विचारों में ढालने का काम करते हैं। यही नहीं बल्कि पत्र-पत्रिकाओं में दैनन्दिन समाचारों और लोक-समस्याओं का भी समावेश होता ही है।

किसी राष्ट्र या जाति के उद्धार में बहुमुखी शक्तियाँ जब समवेत होकर उठ खड़ी होती हैं तब उसकी मुक्ति का द्वार प्रशस्त होता है। यह सिद्धान्त तो सार्वभौम है किन्तु इसका उदाहरण विरल ही मिलता है। इसका कारण यह है कि इस नवचेतना का आधार राष्ट्र के अतीत की उस गहराई में होता है जिसमें परम्परा के अधिकतम शाश्वत तत्त्व जीवित रहते हैं। वे (तत्त्व) जब मुखर होते हैं तब उस राष्ट्र की सहज शक्ति भागीरथी की भाँति उद्दाम बनकर प्रवाहित होने लगती हैं। एक यक्ष प्रश्न यह है कि ये तत्त्व मुखर हों कैसे? राष्ट्रों की जिजीविषा अपने अतीत के ऐश्वर्य एवं वैभव के साथ जब तक सम्बद्ध रहती है और जब तक उनकी जीवनी-शक्ति उसे ही अपने लिए अमृत प्रवाह का उद्‌गम मानकर युग के साथ चलने का प्रयत्न करती हैं, तब तक उस राष्ट्र एवं जाति की आत्मा पाश मुक्त बनी रहती है। उसकी पार्थिव पराधीनता झंझावात या सामयिक प्रवाह की भाँति आकर चली जाती है। सांस्कृतिक अवगुंठन खुलते ही उसका अपना ही आलोक उसे प्राप्त होने लगता है और उस पर चलकर वह जाति अपना भविष्य पुनः सुस्थिर कर लेती है।

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास इस देश की राजनीतिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक जागृति और नवचेतना का प्रेरणाप्रद इतिहास है। देश की स्वाधीनता प्राप्ति में हिन्दी पत्रकारिता का ऐतिहासिक योगदान है। सन् 1826 ई० की 30 मई को, 'कोलटोला मुहल्ले के 37 नम्बर आमड़ातल्ला गली,

कलकत्ता से 'उदण्तमार्तण्ड' पत्र प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक पं० युगलकिशोर सुकुल थे। इसके सम्पादन और प्रकाशन में उनकी मूल दृष्टि राष्ट्रीय उत्थान तथा राष्ट्र भाषा हिन्दी के उन्नयन की थी। इस बात का उन्हें हार्दिक खेद था कि हिन्दी भाषा भाषियों की अपनी स्वतंत्र पत्र-पत्रिकाएँ नहीं हैं और लोगों को अंग्रेजी तथा बंगला भाषा के पत्रों से काम चलाना पड़ रहा है।

इस प्रकार हिन्दी पत्रकारिता का उदय राष्ट्रीय उन्नति तथा सांस्कृतिक नवचेतना के जागरण की भावना से हुआ। इनके मूल में व्यावसायिकता नहीं अपितु त्याग, तपस्या और बलिदान की निष्ठा थी। हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि भले ही बंगाल रही हो पर उसकी कर्म-भूमि हिन्दी भाषी प्रदेश ही हैं। इनमें भी वाराणसी, प्रयाग, मथुरा और खंडवा आदि को इसका विशेष गौरव प्राप्त है।

इसमें से वाराणसी को बहुत पहले से ही भारत की सांस्कृतिक राजधानी होने का गौरव प्राप्त है। देश की साहित्यिक और संस्कृतिक विरासत पर इसकी अमिट छाप अंकित है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी इसका विशेष अवदान है। प्रदेश के पूर्वी जिलों की पत्रकारिता को भी इसने प्रभावित किया है और उसे नयी दिशा प्रदान की है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता युग-बोध का प्रतिबिंब है। तत्कालीन भारत की गतिविधि, स्वराष्ट्र के उत्थान-पतन तथा क्षेत्र विशेष की ज्वलन्त समस्याएँ आदि इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं से ही प्रतिध्वनित होती हैं। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हिन्दी पत्रकारिता के पथ-विस्तार में भारतेन्दुयुग की पत्रकारिता मील का प्रथम प्रस्तर का स्तंभ है।

भारतेन्दु काल में प्रकाशित जिन प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं का न्युनाधिक विवरण आज प्राप्त है, उनमें से अधिकतर लघु-पत्र थे, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व तो है हीं। सन् 1898 ई० में प्रकाशित 'दिग्दर्शन' को हिन्दी का प्रथम पत्र मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि भारतेन्दुयुग के आविर्भाव के लगभग 30 वर्ष पूर्व हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ हो चुका था फिर भी यह अपनी आरम्भावस्था में ही थी। इस अवधि में 'उदन्त मार्तण्ड', 'हिन्दी बङ्गदूत', 'प्रजामित्र', 'बनारस अखबार', 'जगद्दीपक', 'साम्म', 'सुधाकर', 'बुद्धि प्रकाश', 'समाचार सुधावर्षण' और 'प्रजाहितैषी' आदि पत्र प्रकाशित हुए थे किन्तु उनमें अपेक्षित वैचारिक परिपक्वता तथा भाषिक प्रौढ़ता नहीं आ पायी थी। उनकी प्रतिपूर्ति हुई 'कविवचन सुधा' के प्रकाशन द्वारा। 1867 ई० से 1885 ई० के बीच, प्रकाशित होने वाली भारतेन्दु की इस पत्रिका को पत्रकारिता-क्षेत्र में 'भारतेन्दुयुग' के श्री गणेश की संज्ञा दी जा सकती है। भारतेन्दुयुग में धर्म, राजनीति, समाज और साहित्य में जिस प्रकार के परिवर्तन होते रहे, उन्हें ये पत्र सतत एवं यथावत दिग्दर्शित करते रहे हैं। इस युग में अंग्रेजों और भारतीयों के बीच संबंधों में जो दरार पड़ी थी, उसके सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है – ''सन् 1869 ई० से सन् 1899 ई० तक का काल अंग्रेजों की अनीति, भारतीय हितों के प्रति उनका उपेक्षा-भाव, भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करने वाला उनका प्रयत्न, सिविल सर्विस के लिए आयु सीमा कम करना, भारतीय प्रेस को अपंग बनाने के गार्हित प्रयत्न-इन सब कारणों ने मिलकर भारतीयों और अंग्रेजों के बीच वैमनस्य की एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी।''[1]

इन विषम परिस्थितियों से उत्पन्न जनमानस की मानसिकता को प्रतिबिंबित करने तथा राष्ट्रोत्थान में भारतेन्दुकालीन पत्रकारों एवं लेखकों का विशिष्ट योगदान है। इनमें भी भारतेन्दु जी अग्रणी हैं। हिन्दी पत्रकारिता के उत्थान में भारतेन्दु का वही स्थान है, जो बंगला पत्रकारिता में श्री राजाराम मोहन

राय का है। इस युग की हिन्दी पत्रकारिता पर भारतेन्दुजी के व्यक्तित्व की अमिट छाप अंकित है। तत्कालीन युग में हिन्दी को लेकर बड़ी ऊहापोह की स्थिति रही। उसके प्रायोगिक स्वरूप को निर्धारित करने की भी समस्या थी। ऐसी उलझनपूर्ण स्थिति में भारतेन्दुजी का भाषा संबंधी निम्न सिद्धान्त हिन्दी भाषी क्षेत्र के पत्रकारों और लेखकों के लिए मार्ग दर्शक सिद्ध हुआ–

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।''[2]

राष्ट्रप्रेम और समाजोत्थान संबंधी भारतेन्दु जी का गद्य पद्यमयी पंक्तियाँ तत्कालीन बलिदानी स्वतन्त्रता प्रेमियों के हृदय में खलबली मचाने वाली सिद्ध हुई थी। अपने एक नाटक में उन्होंने अंग्रेजों के नर-पिशाच रूप को चित्रित करते हुए भगवान को भी धिक्कारा है –

''दुष्ट जवन बरबस तुव संतति घास-साग जा काटैं।
एक-2 दिन सहस-2 नर सीस काटि भुव पाटैं।।
ह्वै अनाथ आरत कुल विधवा विलपहिं दीन-दुखारी।
बलकरि दासी तिनहिं, तुम नहिं लजत खरारी।।''[3]

भारतेन्दुयुग में मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों की संख्या सर्वाधिक थी। इन पत्रों में सामाजिक घटनाओं से संबद्ध निबंधों, वार्ताओं तथा उपन्यासों को तो स्थान दिया ही जाता था साथ समाचारों पर टिप्पणियाँ भी प्रकाशित होती थीं। उपदेयता की दृष्टि से इस युग की पत्रिकाओं ने निस्सन्देह जन-जागृति का स्वर मुखर करने में अविस्मरणीय योगदान किया। भारतेन्दुकाल में विदेशी शासन के प्रति भारतीयों में जो असन्तोष व्याप्त था, उसको तत्कालीन पत्रकार अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रोत्थान के लिए आम जनता में जागृति का मन्त्र फूँक रहे थे। उस युग की भारतीय जनता अपने कर्तव्यों और अधिकारों को भूल कर कायरों का बाना पहन चुकी थी। उसका स्वाभिमान मृतप्राय हो गया था। इस स्थिति से उद्वेलित होकर भारतेन्दु की ही भाँति पं० प्रताप नारायण मिश्र भी विचलित हो गये थे। वे देशभक्ति को सुकर्म मानते थे। उससे बढ़कर उनके लिए और कोई अन्य कर्म धर्म नहीं था। स्वदेश की उन्नति के लिए हिन्दी भाषा की उन्नति को भी वे अनिवार्य मानते थे। मिश्र जी को इस बात का सबसे बड़ा दु:ख था कि हिन्दुस्तान में हिन्दी की अपेक्षा उर्दू और अंग्रेजी का प्रचार कहीं अधिक हो गया था। लेकिन उनको पूर्ण विश्वास था कि एक दिन ऐसा आयेगा जब हिन्दी का प्रचार सम्पूर्ण भारत में होगा–

''छोड़िहि उर्दू राक्षसी अबते पिंड हमार।
दिन हिन्दी के फिरहिंगे भयो उचित विचार।।
आर्य देश की नगरी सब गुणागरी आय।
यामें कछु संदेह नहीं पै न सुनत कोउ हाय।।''[4]

श्रीबालकृष्ण भट्ट का हिन्दी पत्रकारिता और गद्य साहित्य के निर्माण में ऐतिहासिक अवदान है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा राष्ट्रीय चेतना को बलवती बनाने के निमित्त अपने साहित्यिक अनुष्ठानों में भट्ट जी ने आर्थिक कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं का जिस त्याग, बलिदान एवं निष्ठा से सामना किया, वह असाधारण और अभूतपूर्व है।

भट्ट जी के निबंध साहित्यिक दृष्टि से तो उच्चकोटि के हैं ही, राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति के विचार से भी वे पठनीय और मननीय है। सन् 1877 ई० तथा 1909 ई० की कालावधि में प्रकाशित भट्ट जी के ये निबंध राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना को जागृत करने के साथ ही उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में देश की स्थितियाँ क्या थीं, इसके भी परिचायक हैं। भारतीयों को धिक्कारते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने 'हमारा दास्य भाव' शीर्षक लेख अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण शैली में लिखा है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है –

''वे गौर वर्ण हैं तुम कृष्ण वर्ण, वे वीर हैं तुम कायर, उनमें एकता है तुममें फूट, वे सशस्त्र हैं, तुम निःशस्त्र, वे एक जाति के तुम अनेक खण्डों में विभक्त हो, उनके सर्वांग में बल है, तुम्हारा आधा अंश लकवा का मारा है, वे सब एक साथ के खाने वाले हैं तुम चूल्हा-चौका के पीछे हैरान हो, तुम्हें धरम पीछे डालता है वे धरम को पुरजे-पुरजे उड़ा डालने वाले हैं वे कपड़े और फैशन के नये-नये तराश-खराश में लगे हैं, तुम भद्दे सोने चाँदी के जेवरों से लद जाने को खूबसूरती मान बैठे हो, उनके लिए समस्त भूगोल हस्तमाल के समान हो रहा है, तुम जहाँ जाओ वहीं निकाले जाओ, सबठौर निषेध, कहीं पैमारी नहीं, वे अपने मूल्क और जाति के लिए जान दे देने वाले, तुम देश और जाति तथा देशानुराग को काली के खणर में झोंक अपना पेट भरने वाले हो, वे अपने देश के मित्र, तुम देश के शत्रु, वे प्रभूणां प्रभु तुम गुलाम दर गुलाम।''[5]

'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से भट्ट जी द्वारा राष्ट्रोत्थान में किये गये अमूल्य योगदान के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है '' 'हिन्दी प्रदीप' गद्य साहित्य का ढर्रा निकालने के लिए निकाला गया। इसमें संदेह नहीं कि 'कविवचन सुधा' के बाद 'हिन्दी प्रदीप' ही वह पत्र रह गया था जो अपने पाठकों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर सका। राष्ट्रीय तथा सामाजिक समस्याओं पर स्वतन्त्र विचार प्रकाशन के कारण यह पत्र महत्त्वपूर्ण हो गया और 'कविवचन सुधा' के बाद इसे ही सबसे अधिक ख्याति मिली।''[6]

19वीं शताब्दी के अन्तिम तीन-चार दशकों में बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और पंजाब आदि प्रान्तों में कई श्रेष्ठ साहित्यिक एवं राजनैतिक पत्र प्रकाशित हुए। इस दौर का श्रीगणेश हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'कविवचन सुधा' (बनारस 1867 ई०) से मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'हरिचन्द्र मैग्जीन' (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) और 'बालबोधिनी' का सम्पादन भारतेन्दु बाबू ने किया, जो हिन्दी पत्रकारिता में अविस्मरणीय रहेंगे। इसी कालक्रम में 'हिन्दी प्रदीप' (बालकृष्ण भट्ट), 'ब्राह्मण' (प्रताप नारायण मिश्र), 'सारसुधानिधि' (पं० सदानन्द जी), 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' (पं० बंशीधर बाजपेयी), 'उचित वक्ता' (पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र), 'भारत जीवन' (बाबू रामकृष्ण वर्मा), 'हिन्दोस्तान' (पं० मदन मोहन मालवीय), 'शुभचिंतक' (पं० रामगुलाम अवस्थी), 'हिन्दी बंगवासी' (अमृत लाल चक्रवर्ती), 'साहित्य सुधा निधि' (देवकी नन्दन खत्री), और 'सरस्वती' (सं० मण्डल राधाकृष्णदास, और किशोरी) आदि पत्रों की भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता तथा राष्ट्रोत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारतेन्दुयुग की इन पत्र-पत्रिकाओं ने जहाँ हिन्दी पत्रकारिता के नये युग का शुभारंभ किया, वहीं राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की भावना भी सुदृढ़ की। युवक उद्यमी बनें और आर्थिक दृष्टि से

आत्मनिर्भर हों, यहीं भारतेन्दुयुगीन पत्रिकाओं का सन्देश था। 'कविवचन सुधा' के नीतिपरक पद्य में ही भारतेन्दु ने अपने युग की पत्रकारिता की लक्ष्योन्मुखता इन शब्दों में व्यक्त की थी–

'खलजनन सो सज्जन दुखी मत होहिं, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृतवानी सब कहै।।'[7]

सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संघर्ष के दस वर्षों बाद भारतेन्दु का उपर्युक्त आह्वान देश के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। यही नहीं भारतेन्दु मण्डल और उनके युग के अन्य प्रमुख साहित्यकारों तथा पत्रकारों का योगदान भी अविस्मरणीय रहेगा। इनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमधन', बालकृष्ण भट्ट, वंशीधर बाजपेयी, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र और पं० मदन मोहन मालवीय आदि ने अपनी पत्रकारिता की ओजस्विता के माध्यम से राष्ट्रोत्थान में अति विशिष्ट योगदान दिया।

शोध-संदर्भः

1. डॉ० ईश्वरी प्रसाद, भारत का इतिहास, भाग-2, पृ० 345.
2. भारतेन्दु समग्र, सम्पादक-हेमन्त शर्मा, पृ० 228, हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।
3. प्रज्ञा, भारतेन्दु स्मृति अंक-31, पृ० 207.
4. प्रताप लहरी, पृ० 189.
5. हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता, डॉ० लक्ष्मी शंकर व्यास, पृ० 39.
6. उपरिवत्, पृ० 39.
7. सम्पादक - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, (10 जनवरी 1872 ई०)

भारत में भाषा की प्रगति में हिन्दी का योगदान

शिप्रा प्रभा

शोध छात्रा, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश भारतवर्ष बहुभाषा-भाषी देश है। लगभग सैंकड़ों से अधिक बोलियां इस देश में बोली जाती है किन्तु संविधान में स्वीकृत भाषाओं की संख्या 14 है। किसी भी स्वाधीन देश में राष्ट्र ध्वज, राष्ट्रगान और राष्ट्रीय वेश उस देश की प्रतीकात्मक पहचानहोता है जब कि, राष्ट्रभाषा देश की शिराओं में प्रवाहित होने वाली उस जीवंत रूधिर की धार की तरह होती हैं जिसका संबंध व्यक्ति की आत्मिक ऊर्जा और भावात्मक संवेदनों से होता है। रक्त बुद्धि से अधिक बली है, और अधिक ज्ञानी भी क्यों कि बुद्धि सोचती है और शोणित अनुभव करता है। राष्ट्रभाषा के बिना जन-जन का न तो पारस्परिक संपर्क संभव है और न देशवासियों में एकता की भावना का विकास हो सकता है। भावात्मक एकता की बात करने वाले राजनीतिज्ञ न जाने क्यों इस बात को भूल जाते हैं कि विदेशी भाषा के माध्यम से स्वदेश और स्वदेशी के प्रति आत्मीयता का विकास आकाश कुसुम सूंघने की तरह ही होगा। आजादी मिले आधी सदी से भी ज्यादा समय गुजर जाने के बाद भी आज हिन्दी की जो स्थिति है उसके लिए अंग्रेज या अंग्रेजी बिल्कुल जिम्मेदार नहीं हैं। अगर इसके लिए कोई सर्वाधिक जिम्मेदार है तो वह है अंग्रेजियत। अंग्रेजियत एक संस्कृति है, एक संस्कार है जो भारतीय जनमानस में बड़े आकर्षण के साथ आधुनिकता और विज्ञान के नाम पर घर करती जा रही है। यही वह विषय है जो हमारे जातीय संस्कार और गौरव बोध का हनन कर हमें अस्मिता शून्य बनाता जा रहा है। हिन्दी के विकास, प्रचार-प्रसार और संवर्द्धन के लिए शासकीय सहायता, प्रयत्न, प्रेरणा, और अनुदान कभी भी प्रेरक नहीं रहे। विगत दो सौ वर्षों के इतिहास की साक्षी 18वीं और 19वीं शताब्दी रही हैं। राजाश्रय की उसने न तो कामना की और न सहज रूप में राजाश्रय उसे सुलभ हुआ। परतंत्र भारत में हिन्दी की जो स्थिति थी उसे दयनीय नहीं कहा जा सकता। विदेशी व्यापारियों के सामने भारत में माध्यम का प्रश्न आरंभ से भारत में था और अंग्रेज, फ्रेंच, डच पोर्तुगीज आदि सभी जो सभी ने अपनी सूझ-बूझ इसे हल किया था।

प्रसिद्ध भाषा शास्त्री सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक में एक डच यात्री जॉन केटेलर जो सन् 1664 में सूरत में व्यापारी वर्ग में जो भाषा बोली जाती थी वह भाषा माध्यम की समस्या उसके सामने भी थी। वह स्वयं डच भाषी था, किन्तु सूरत के आस-पास व्यापारी वर्ग में जो भाषा बोली जाती थी वह हिन्दी गुजराती का मिश्रित रूप था और उसका व्याकरण हिन्दी परक था। अत: जॉन केटेलर ने डच भाषा में हिन्दी का प्रथम व्याकरण लिखा। सन् 1719 में ईसाई प्रचारक बैंजामिन शुल्गे

मद्रास आया और उसने ग्रेमेटिका हिन्दोस्तानिक नाम से देवानागरी अक्षरों में हिन्दी व्याकरण की रचना की। उसी समय हेरासिम लेवेडेफ नामक क्रिश्चन पादरी ने भाषा पंडितों की सहायता से शुद्ध और मिश्रित पूर्वी हिन्दुस्तान की बोलियों का व्याकरण अंग्रेजी में लिखा।

यह सब बताने का अभिप्राय यह है कि गुजरात और मद्रास जैसे अहिन्दी प्रदेशों में विदेशी विद्वानों ने भाषा ज्ञान के लिए एवं माध्यम भाषा के लिए जिन व्याकरण ग्रंथों का निर्माण किया वे हिन्दी व्याकरण थे। अर्थात् उस भाषा के व्याकरण थे जो दो सौ वर्ष पहले इस देश की लोकप्रिय सार्वभौम भाषा थी। उसका विकास किसी दबाव, लालच, शासकीय प्रबंध का लक्षण नहीं है। जीवन के विविध व्यापारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहार में लाई जाने वाली वह प्रत्येक भाषा जो अपना संसर्ग दूसरी भाषाओं से बनाए रखती है, और ज्ञान के नित नूतन संदर्भों से जुड़ती रहती है, वह अपनी जीवन्तता बनाए रखती है। अर्थात् व्यवहार धर्मिता और गतिमयता-भाषा की प्रगति को सूचित करने वाी दो प्रमुख विशेषताएं हैं। भाषा की प्रगति तब मानी जाती है। जब एक ओर वह अधिक प्रौढ़ होती चलती है तो दूसरी ओर उसका प्रसार होता जाता है। पहली स्थिति उसके अर्थ गर्भत्व को संकेतित करती है। और दूसरी उसकी व्यापक स्वीकृति को। पहली स्थिति में उसका अंतरंग विकसित होता है और दूसरी स्थिति में बहिरंग प्रोद्भासित होता है। दोनों के संयोग से भाषा समृद्ध और विशेष प्रभावशालिनी बनती है। जब हम हिन्दी के विकासशील होने की बात कहते हैं तो उसका अभिप्राय भी यही है कि एक ओर उसका अंतरंग विकसित हुआ है तो दूसरी ओर उसे व्यापक स्वीकृति भी मिली है।

सामान्यत: यह अपेक्षा किसी भी भाषा से की जा सकती है किन्तु हिन्दी से इसकी विशेष अपेक्षा इसलिए है क्योंकि संविधान के अनुसार यह संघ की राजभाषा है और विभिन्न प्रदेशों के बीच संपर्क भाषा की भूमिका का निर्वाह उसे करना है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि, हिन्दी किन दिशाओं में है, और कितनी विकसित है? और उसके विकास की क्या अपेक्षाएं हैं? हिन्दी उन अपेक्षाओं को कहां तक पूरा कर पा रही है, या फिर कौन से साधक तत्व हैं और उनसे कैसे निपटा जाए? भाषा के जिस द्विपक्षीय विकास की बात यहां कही गयी है उसे क्रमश: गुणात्मक विकास एवं संख्यात्मक विकास कहा जा सकता है। गुणात्मक विकास ही उसके संख्यात्मक विकास का कारण रहा है अत: आज भी हमें उसके गुणात्मक विकास की ओर अधिक सक्रिय और सजग रहने की आवश्यकता है। गुणात्मक विकास की भी दो दिशाएं हैं। 1. ललित साहित्य सृजन, 2. ज्ञानात्मक साहित्य की रचना और उसकी अभिव्यक्ति का विकास। आज जिस संदर्भ में हिन्दी पर विचार किया जा रहा है वह ललित साहित्य की प्रौढ़ता को लेकर नहीं है।

राष्ट्र के समक्ष जो चुनौती है वह व्यावहारिक धरातल पर भाषिक संपर्क और उसके माध्यम से पारस्परिक सहयोग की भूमिका तैयार करने की है। नयी तकनीक, नये आविष्कार और विज्ञान की अनन्त उपलब्धियों और संभावनाओं को हमें अपनी भाषाओं के माध्यम से उजागर करना है। इस दिशा में भी यद्यपि प्रयत्न हो रहे हैं पर जितने और जिस गति से हो रहे हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। जिस भाषा को सदियों से विदेशी भाषाओं के शासन ने दबोचे रखा, उससे एक दम से किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती फिर भी यदि प्रयास ईमानदारी से किए जाएं तो 62-63 वर्ष कम नहीं होते। इस दिशा में भौतिक चिंतन एवं लेखन के साथ हमें अंतर्राष्ट्रीय जगत से संपर्क बनाए रखना होगा। आज का युग अंतरावलंबन का युग है। विकसित देशों में भी अपनी समृद्ध भाषा में लिखे गए साहित्य के अतिरिक्त उत्तरदेशीय भाषाओं में लिखे गए साहित्य से लाभ उठाया जाता है। आज हम इंटरनेट के जरिए किसी भी देश के पुस्तकालय में प्रवेश पा सकते हैं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं भी इसके जरिए

विश्व भर में आसानी से पढ़ीजा रही है। अतः समस्त वातायनों को बन्द करके हिन्दी को सिंहासनारूढ़ कराने की बात हम नहीं कहते। हिन्दी की संपूर्ण प्रतिष्ठा के बावजूद ज्ञान-विज्ञान के नवीन स्रोतों की जानकारी के लिए समृद्ध भाषाओं के उपयोग की आवश्यकता पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता। विधागत विशेष ज्ञान के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ ज्ञान के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ हिन्दी को अन्तर्देशीय व्यवहार की भाषा के रूप में भी पनपना और विकसित होना है।

पारस्परिक व्यवहार के अपने तकाजे होते हैं। भाषा के संदर्भ में ये तकाजे उसकी रूप रचना से संबंध रखते हैं। यहां रूप रचना से अभिप्राय भाषा की शब्द संपदा, पारिभाषिक शब्दावली का गठन, अभिव्यक्ति की सरलता या बोधगम्यता, तथ्यपरकता और विषय संबद्धता से है। व्यावहारिक धरातल पर व्यहृत होने वाली किसी भी भाषा को इन्हें या ऐसे ही अनेक तत्वों को अपने में समाहित करना पड़ता है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि व्यावहारिकता का अर्थ भाषा की स्वच्छन्दता या मनमाना प्रयोग नहीं है। व्यावहारिक और मानक भाषा में कोई अन्तर्विरोध भी नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी भाषा की तैयारी का अर्थ है उसके मानक रूप का सर्वसुलभ और सहज बोधगम्य रूप में तैयार होना। व्यवहार भाषा के रूप में हिन्दी की श्रेष्ठता और सिद्धता का आधार है उसकी शब्द संपदा।

किसी की शक्ति और संपन्नता केवल इस बात पर निर्भर नहीं होती कि वह अपने शब्द कोष में कितने शब्द संभाले हुए है बल्कि यह देखना भी जरूरी है कि उसमें नवीन शब्दों के निर्माण की कितनी क्षमता और शब्दों को आत्मसात करने की कितनी उदारता है। हिन्दी में ये दोनों ही विशेषताएं विद्यमान हैं। मध्यकालीन कवियों ने अरबी-फारसी के न जाने कितने शब्दों को न केवल अपनी भाषा में छपा लिया बल्कि उन्हें हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार ढाल भी लिया था। यह क्रम चलता रहना चाहिए था। हिन्दी की मौजूदा स्थिति निराशाजनक तो कदापि नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है भाषागत राजनीति में न उलझकर हिन्दी को अपने हित के लिए दृढ़ता से उस नीति का अनुसरण करना होगा जिससे वह और अधिक समृद्ध और सशक्त होती जाए और उसकी सर्वग्राह्यता बनी रहे।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. अच्छी हिन्दी संभाषण और लेखन–तेजपाल चौधरी
2. आधुनिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी भाषा और सहित्य–आनन्द मोदक
3. आदिकालीन हिन्दी भाषा और सहित्य–प्रेम शंकर मिश्रा
4. ऐतिहासिक भाषा विज्ञान–राजमल बोरा
5. भारत का भाषा सर्वेक्षण–सर जॉर्ज इब्राहिम गिरयार्सन
6. भारत सरकार की राजभाषा नीति–अरविन्द कुलश्रेष्ठ
7. भारतीय भाषाएं और हिन्दी–ओम प्रकाश केजरीवाल
8. भाषा, बहुभाषिता और हिन्दी–प्रणव कुमार बंधोपाध्याय
9. भाषा भूगोल–कैलाश चन्द्र भाटिया

स्वतंत्रता आन्दोलन और हिन्दी पत्रकारिता

दशरथ प्रजापत

वरीय व्याख्याता, जे.एस. कॉलेज, चन्दौली, सीतामढ़ी (बिहार)

भारत के पत्रकार मूलत: जनता का प्रतिनिधि मानकर पत्रकारिता के क्षेत्र में आए थे। यदि सही ढंग से आंका जाए तो स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि पत्रों एवं पत्रकों ने ही तैयार की, जो आगे पत्रकार बनने के लिए प्रेरित किया। पं. बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू एवं डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि सभी पत्रकारिता से संबद्ध रहे। कांग्रेस भी जब दो विचारों में विभाजित हुई, उस समय भी गरम दल का दिशा-निर्देश 'भारतमित्र', 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'नृसिंह', केशरी एवं रणभेरी आदि पत्रों ने किया तथा नरम दल का 'बिहार बंधु', 'नागरीनिरंद, 'मतवाला', 'हिमालय' एवं 'जागरण' ने किया।

पत्रकारों के संघर्ष का युग

भारतेन्दु युग मात्र साहित्यिक युग ही नहीं, अपितु स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय जागरण का युगबोध कराने वाला युगदृष्टा का युग था। महात्मा गांधी के लिए यही प्रेरक युग कहा जाना पत्रकारिता का शाश्वत सत्य होगा। स्वतंत्रता आंदोलन के लिए राजनेताओं को जितना संघर्ष करना पड़ा, उससे तनिक भी कम संघर्ष पत्रों एवं पत्रकारों को नहीं करना पड़ा। बुद्धिजीवी, ऋषियों की मौन साधना, तपस्या और त्याग इतिहास की धरोहर है, जिसे मात्र साहित्य तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, बल्कि स्वतंत्रता की बलिवेदी पर आहुति करने वालों को शृंखलाबद्ध समूह के रूप में भी माना जाना चाहिए।

तकनीकी रूप में प्रारंभिक पत्रकार स्वयं रिपोर्टर, लेखक, लिपिक, प्रूफरीडर, पैकर, प्रिंटर, संपादक एवं वितरक भी थे। क्रूरता, अन्याय, क्षोभ, विरोध, क्लेश, संज्ञास एवं गतिरोध उनकी दिनचर्या थी, फिर भी वे अटल थे, अडिग थे, क्योंकि उनके समक्ष एक लक्ष्य था। वे देशभक्त थे। देशभक्त के समक्ष सभी अवरोधों, प्रतिरोधों एवं बाधक विचारों का खंडन उनका उद्देश्य था। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक नीतियों के समक्ष सरकारी सहायता कौन कहे, साधारण सहिष्णुता भी उपलब्ध नहीं, जो आज सर्वत्र दृष्टव्य है। भले ही इनकी दिशाविहीनता के कारण उन आदर्शों के निकट नहीं है। उस समय न नियमित पाठक थे, न नियमित प्रेस अथवा प्रकाशन। मुद्रण के लिए दूसरे प्रेसों के समक्ष हाथ-पांव जोड़कर चिरौरी करनी पड़ती थी, ताकि कुछ अंक निकल पाएं। ग्राहकों और पाठकों की स्थिति यह थी कि महीनों-महीनों पत्र मंगाते थे और पैसा मांगने पर वे वापस कर देते थे। ऐसी स्थिति में प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रार्थना, तगादा, चेतावनी और धमकियों के लिए कतिपय शीर्षकों में प्रकाशन होता था—जैसे 'इसे भी पढ़ लें' विज्ञापन एवं सूचना के रूप में आदि-आदि।

उदंड मार्तंड से शुरूआत

नि:संदेह हिंदी का सर्वप्रथम समाचार पत्र 'उदंड मार्तंड' 30.05.1826 को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, जिसके संचालक पं. युगल किशोर थे एवं सन् 1891 को गोरखपुर से मुद्रित 'विद्याधर्म दीपिका' भारत वर्ष की सर्वप्रथम नि:शुल्क पत्रिका थी, किन्तु आंग्ल महाप्रभुवों के प्रभाव में चल रहे पाठकों के अभाव में यह पत्रिका भी अनियमित होते-होते काल-कवलित हो गई। भारत वर्ष की पत्रकारिता इसी पृष्ठभूमि में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंकुरित हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापनोपरांत कई स्वतंत्र व्यापारी भी यहां प्रवेश पा चुके थे। ये व्यापारी भारतीय जन जीवन के साथ अपनत्व स्थापित कर स्वतंत्र पत्र-पत्रिका निकालने को तत्पर हुए। विलियम बोल्टस प्रथम व्यापारी था जिसने 1764 में प्रथम विज्ञापन प्रसारित किया कि 'कंपनी शासकों की गतिविधियों से जन सामान्य को अवगत कराने के लिए वह पत्र निकालना चाहता है। कंपनी इस विज्ञापन को पढ़ते ही उसे देश निर्वासित कर इंग्लैंड वापस भेज दिया। अंग्रेजों का पत्र, पत्रिकाओं एवं पत्रकारिता के खिलाफ दमन का श्रीगणेश यहीं से प्रारंभ हुआ, किन्तु वोल्टस द्वारा लगाया हुआ बीज अंकुरित होकर अगस्टस हिकी के हाथों में आकर एक पत्र के रूप में प्रस्फुटित हो गया जिसका नाम पड़ा 'बंगाल गजट एंड कलकत्ता जरनल एडवर टाइजर' जिसने 'हिकीगजट' के नाम से 1780 में प्रथम पत्र के रूप में जन्म लिया। वारेन हेस्टिंग्स उस समय भारत वर्ष का गवर्नर जनरल था, जो अपने अथवा अपने मंत्रिमंडल के प्रतिकूल एक साधारण आलोचना भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। हिकीगजट इसका कटु आलोचक बन गया और फलस्वरूप 14.11.1780 को प्रथम दमनात्मक प्रहार के रूप में इस पत्रिका को जो डाक से भेजने की सुविधा प्राप्त थी, उसे छीन ली गई। आलोचना तीव्रतर बढ़ती गई, जिसके चलते जेम्स अगस्टस को कारागार में डाल दिया गया और अंतत: उसे देश से निर्वासित कर दिया गया। इसी शृंखला में एक दूसरे पत्रकार विलियम हुआनी को भी निर्वासित किया गया। अन्य प्रदेशों से भी जो पत्र निकालते थे उनके लिए सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य किया गया। मद्रास से 'इंफ्रेस' ने बिना लाइसेंस प्राप्त किए 'इंडिया हेराल्ड' निकालना प्रारंभ कर दिया। इसके लिए इनको कानूनी कार्रवाई के तहत गिरफ्तार किया गया और अंत में इन्हें भी निर्वासित कर इंग्लैंड भेज दिया गया।

प्रेस संबंधी प्रथम कानून

18वीं शताब्दी के अंत तक लगभग 20-25 अंग्रेजी पत्रों का प्रकाशन हो चुका था जिसमें प्रमुख थे बॉम्बे हेराल्ड, बॉम्बे कैरियर, बंगाल हरकारू, कलकत्ता कैरियर, मॉर्निंग पोस्ट, ओरियंट स्टार, इंडिया गजट तथा एशियाटिक मिरर आदि। पत्र-पत्रिकाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि अंग्रेजों की दमनात्मक कार्रवाइयों को भी उसी अनुपात में बढ़ाने के लिए बाध्य करती गई। सन् 1799 में लार्ड वेलसली ने प्रेस संबंधी प्रथम कानून बनाया कि पत्र प्रकाशन के पूर्व समाचारों को सेंसर करना अनिवार्य है तथा अन्य शर्तें इस तरह लागू कर दी गई।

(क) पत्र के अंत में मुद्रक का नाम एवं पता स्पष्ट से छापा जाए।

(ख) पत्र के मालिक एवं संपादक का नाम पता एवं आवास का पूर्ण विवरण सरकारी सेक्रेटरी को दिया जाए।

(ग) सेक्रेटरी के देखे बिना पाठ्य सामग्री छापी नहीं जाए एवं

(घ) प्रकाशन रविवार को बंद रखा जाए।

अब तक के सभी पत्र अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हो रहे थे तथा सभी पत्रों के संपादक भी अंगेज थे, फिर भी विरोधात्मक स्थिति में केवल इन्हें निर्वासित कर देना ही पर्याप्त दंड माना जाता था। बाद में सरकार के किसी कार्य पर टीका-टिप्पणी करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया जो बेलेसली से लार्ड मिंटो तक चला। भारतीय पत्रकारिता इसे बेहद दुष्प्रभावित हुई। लार्ड हेस्टिंग्स के गवर्नर जनरल बनते ही उपर्युक्त शर्तों में ढील बरती गई, जिसके अंतर्गत प्रकाशन के पूर्व सेंसर की प्रथा समाप्त करते हुए रविवार को प्रकाशन समाप्त कर निम्न आदेश जारी किए गए–

- सरकारी आचरण पर आक्षेप लगाने वाला समाचार नहीं छापा जाए।
- भारतवासियों के मन में शंका उत्पन्न करने वाला समाचार नहीं छापा जाए।
- धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाए।
- ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा पर आंच आने वाला समाचार नहीं छापा जाए।
- व्यक्तिगत दुराचार विषयक कोई चर्चा पत्रों में नहीं की जाए।

भारतीय भाषाओं के समाचार पत्र

इन शर्तों के बावजूद हेस्टिंग्स का रवैया उदारवादी था, इसलिए इनका पालन सख्ती से नहीं हो पाया फलतः भारतीय भाषाओं में भी पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें प्रमुख पत्र थे–कलकत्ता जर्नल 1818, बंगाल गजट 1818, दिग्दर्शन 1818, फ्रेंड ऑफ इंडिया 1819, ब्रह्मनिकल मैग्जिन 1822, संवाद कुमुदिनी 1822, मिरातुल अखबार 1822 आदि। इनमें कलकत्ता जर्नल एवं संवाद कुमुदिनी सबसे उग्र थे, क्योंकि उस समय भारतीय जीवन के अग्रदूत के रूप में राजा राममोहन राय नेतृत्त्व कर रहे थे। हेस्टिंग्स के अवकाशग्रहण के बाद तथा जॉन आडम के नए गवर्नर जनरल के रूप में आते ही, पत्रों की स्वतंत्रता पुनः समाप्त हो गई और 04.04.1823 को प्रेस संबंधी नए कानूनों द्वारा ये प्रतिबिंब फिर लगा दिए गएः

- कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह सरकारी स्वीकृति के बिना फोर्ट विलियम के आबादी वाले क्षेत्रों में कोई समाचार पत्र, पत्रिका, विज्ञप्ति अथवा पुस्तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं करेगा, जिस पर सरकारी नीति एवं कार्य पद्धति पर टीका-टिप्पणी हो।
- लाइसेंस प्राप्ति के लिए जो आवेदन पत्र दिए जाएं उसके साथ शपथ पत्र भी दिया जाए जिसमें पत्र, पत्रिका, पुस्तक, मुद्रक, प्रकाशक एवं प्रेस मालिक का पूर्ण विवरण सहित भवन विवरण भी दिया जाए, जहां से प्रकाशन होगा।
- बिना लाइसेंस प्राप्त किए पत्र प्रकाशित पाए जाने पर प्रकाशक को चार सौ रुपया जुर्माना अथवा चार महीने कैद की सजा दी जाएगी।
- छापाखाने के लिए भी लाइसेंस अनिवार्य बनाया गया। बिना लाइसेंस के छापाखाने को जब्त कर, मालिक को छह माह का कारावास एवं एक सौ रुपया जुर्माना होगा।
- जिस पत्र का प्रकाशन रोका गया है। उसके वितरक को भी एक हजार रुपया जुर्माना तथा दो माह का कारावास का दंड होगा।

इन प्रतिबंधों का पूरे देश में घोर विरोध किया गया, जिसके फलस्वरूप बंगाल का 'मिरातुल अखबार एवं कलकत्ता जर्नल' की आहूति हो गई। सन् 1828 में विलियम बेंटिक के गवर्नर जनरल

का प्रभार लेते ही उपयुक्त कानून हटाए तो नहीं गए, किन्तु कार्यान्वयन में उदारता बरती गई। सन् 1835 में 'सर चार्ल्स मेटकफ' के कार्यभार लेने के बाद भी, वही उदारनीति बरकरार रही और अंततः 03.08.1835 में इन्हें समाप्त कर दिया गया, किन्तु नियंत्रण रखने के लिए कुछ नियम बनाए गए। इस उदार नीति के कारण 1839 में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या इस तरह हो गई–कलकत्ता में 26 यूरोपियन पत्र थे। इसके अतिरिक्त दिल्ली, लुधियाना एवं आगरा से भी पत्र प्रकाशित होने लगे। सर सैय्यद अहमद खां द्वारा 1839 में ही 'सैयदुल अखवाराय' दिल्ली का पत्र लोकप्रिय हो गया।

इस प्रकार प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के लिए पूरे भारत वर्ष में पत्र, पत्रकारों एवं पत्रकारिता का चैतन्यपूर्ण परिवेश सृजित हो गया। लॉर्ड केनिंग ने इस सुलगती आग की गहराई को महसूस कर भारतीय पत्रों पर नियंत्रण के लिए 13.03.1857 को प्रेस संबंधी नए कानून बनाकर सरकारी नियंत्रण बरकरार रखा।

- इंडियन पैनल कोड में संशोधनः लॉर्ड मैकाले द्वारा 1836 में जो धारा 110 लगाई गई थी उसे 1860 में समाप्त कर दिया गया।
- रेगुलेशन ऑफ प्रिटिंग प्रेस एंड न्यूजपेपर्स एक्ट 1876ः इस अधिनियम के अनुसार समाचार पत्रों एवं पुस्तकों के प्रकाशन की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। इंडियन पैनल कोड में एक नई धारा जोड़कर आपत्तिजनक लेखकों को दंडित करने का प्रावधान कर दिया गया। इन प्रावधानों का विरोध करने वाले प्रमुख पत्रों में 'स्टेट्समैन', 'पायोनियर', 'अमृत बाजार पत्रिका' तथा 'टाइम्स ऑफ इंडिया' प्रमुख थे।
- गैगिंग प्रेस एक्ट ऑफ 1878ः स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम 1857 के बाद पत्रकारों के बीच नवजागरण उत्पन्न हुआ जो मूलतः भारतेन्दु युग का प्रथम चरण बना। इनके नेतृत्व में पत्रकार 'स्व' से निकलकर 'देशहित' में अग्रसर हुए। इस युग के प्रमुख पत्रों में 'बिहार बंधु', 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजिन', 'ब्राह्मण', 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि', 'हिन्दी वंशावली', 'हिन्दी प्रदीप' एवं उचित वक्ता आदि अग्रणी रहे।
- वर्नाकुलर प्रेस एक्ट 1878ः भारतेन्दु युग से प्रस्फुटित उत्साह देखकर अंग्रेज घबरा उठे एवं इस कानून द्वारा देशी भाषा के पत्रों के संपादकों, प्रकाशकों एवं मुद्रकों के लिए एक शर्त अनिवार्य कर दी गई कि वे कोई ऐसा प्रकाशन नहीं करें जिससे घृणा एवं द्रोह उत्पन्न हो। अंग्रेजी पत्रों को मुक्त रखा गया, किन्तु 1880 में लॉर्ड रिपन के आने पर वर्नाकुलर एक्ट 07.09.1881 में रद्द कर दिया गया। उसकी उदार एवं सुधार नीतियों के कारण सर्वत्र उल्लासपूर्ण वातावरण फैल गया। सन् 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।
- ऑफिशियल सिक्रेट्स एक्ट ऑफ 1889ः लॉर्ड रिपन की उदारता अंग्रेजों के लिए असह्य हो उठी। अंग्रेजी पत्रों ने सरकार को 'कार्यालय गोपनीय प्रविष्टीकरण' को 17.10.1889 से लागू करने के लिए बाध्य कर दिया। उसके द्वारा किसी योजना का प्रकाशन कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया। वस्तुतः योजना का अर्थ राष्ट्रीय जागरण से संबंधित था।
- राजद्रोह अधिनियम 1898ः लार्ड कर्जन के 1898 में कार्यभार ग्रहण करते ही भारतीय समाचार पत्रों पर नियंत्रण करना पुनः प्रारंभ कर दिया गया, क्योंकि अब तक लखनऊ से 'हिन्दुस्तानी अवध बिहार', 'विद्या विनोद', 'एडवोकेट' से मेरठ 'शाइना-ए-हिन्दी',

'अनीस-ए-हिन्द' इटावा से 'आलवसीर', बरेली से 'यूनियन' तथा इलाहाद से 'अभ्युदय' आदि राष्ट्रीय स्तर पर शंखनाद कर रहे थे।

- प्रेस एक्ट 1910: बीसवीं सदी के प्रारंभ होते ही विभिन्न घटनाओं ने राष्ट्रीय स्तर पर झंझावत उत्पन्न कर दिया जिसमें 1904 का बंगाल विभाजन भी प्रमुख था। सुधार के बहाने सरकार ने विभिन्न समितियों का गठन किया, किन्तु 1910 में यह अधिनियम पारित हो ही गया। इसके बाद अंतत: 1922 में यह कानून रद्द कर दिया गया।
- प्रेस एंड अनऑथराइज्ड न्यूजपेपर्स 1930: वाइसराय इरविन ने देशव्यापी आंदोलन को देखकर इस अध्यादेश को मई-जून से लागू कर 1910 की संपूर्ण पाबंदियों को पुन: लागू कर जमानत की राशि 500 से बढ़ाकर, हैंडबिल एवं पर्चों पर भी प्रतिबंध लगा दिया।
- प्रेस बिल 1931: पूरा देश एवं राजनेता 'राउंड टेबुल कान्फ्रेंस' में व्यस्त थे और सरकार ने इसी बीच अध्यादेश को कानून के रूप में इसे पेश कर पारित करा लिया। इसके अंतर्गत समाचार एवं पत्रों के शीर्षक, संपादकीय टिप्पणियों को बदलने का भी अधिकार सुरक्षित रख लिया गया।

इसके बाद 1935 में भारतीय प्रशासन कांग्रेस के हाथ में आ गया और फलत: समाचार पत्रों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सन् 1939 में द्वितीय विश्व युग प्रारंभ होते ही कांग्रेस सरकार को पदत्याग करना पड़ा और पत्रों की स्वतंत्रता पुन: नष्ट हो गई जो 1947 तक चली। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1950 में नया कानून बना जिसके द्वारा लगभग सभी प्रतिरोध समाप्त कर दिए गए।

सन्दर्भ:

1. आधुनिक पत्रकारिता: अर्जुन तिवारी
2. भारतीय पत्रकारिता: राकेश कुमार
3. भारतीय पत्रकारिता का इतिहास: जे. नटराज
4. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और उत्तर प्रदेश की पत्रकारिता: ब्रह्मानन्द
5. भारतीय पत्रकारिता तब और अब: संजय कुमार
6. बिहार में पत्रकारिता का इतिहास: विजय भास्कर।

भारतीय साहित्य में दलित चिंतन

डॉ॰ उपेन्द्र कुमार

व्याख्याता, हिन्दी विभाग, बी.बी.एन. कॉलेज, बगहा, औसामी, पश्चिम चम्पारण

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में 'दलित' से अभिप्राय उन लोगों से है जिन्हें जन्म, जाति या वर्णगत भेदभाव के कारण शताब्दियों तक सामाजिक न्याय और मानवाधिकार से वंचित रहना पड़ा है। मुख्य रूप से वर्ण व्यवस्था में शूद्र समझी जाने वाली जातियां, छुआछूत की प्रथा के शिकार अछूत, हरिजन और गिरिजन दलित वर्ग के अंतर्गत आते हैं। सामाजिक विडंबना यह है कि मध्यकाल में स्त्री को भी इसी प्रकार के भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार होना पड़ा, इसलिए इस वर्ग में संपूर्ण समाज की आधी आबादी समझी जाने वाली स्त्री जाति भी शामिल है। शूद्र और स्त्री को ढोल और पशु की भांति ताड़ना का पात्र घोषित करने वाली परंपरा ने अमानुषिक अत्याचार करके इन वर्गों को इस प्रकार पददलित किया कि इनकी अस्मिता तक विलीन हो गई। आज जब हम दलित विमर्श की बात करते हैं तो एक ओर तो हम इसका संबंध भूमंडलीकरण के साथ उभरे उत्तर आधुनिक विमर्श से जोड़ते हैं तथा दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण के उस अधूरे रह गए पक्ष के साथ जोड़ते हैं जिसका नेतृत्व एक ओर तो राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, बालगंगाधर तिलक और महात्मा गांधी जैसी महान आत्माओं ने तथा दूसरी ओर ज्योति बा फुले, पेरियार, नारायण गुरु और डॉ॰ बाबा साहब भीमराव अंबेडकर जैसी परिवर्तनकामी विभूतियों ने किया। नवजागरण की पहली परंपरा के नेतागण जहां 'सुधार' की नीति में विश्वास रखते थे वहीं दूसरी परंपरा के नेताओं का विश्वास 'परिवर्तन' में था। उत्तर आधुनिक विमर्श ने हाशिए के वर्गों को केन्द्र के वर्ग बनाने की पहल करके दूसरी परंपरा के इसी विश्वास को नया संदर्भ प्रदान किया और विभिन्न भारतीय भाषाओं में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में दलित विमर्श तीव्रता के साथ उभरा। इस प्रकार भारतीय समाज और साहित्य के संदर्भ में दलित विमर्श का अभिप्राय है वर्णाश्रम व्यवस्था अथवा तथाकथित मनुवादी या ब्राह्मणवादी व्यवस्था में अस्पृश्यता, दमन और दलन के शिकार निम्न वर्ण या अंत्यजों की पीड़ा की केंद्रीय विमर्श के रूप में स्वीकृति। और इस दलित विमर्श का ध्येय है जाति उन्मूलन।

भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य का उभार भारतीय समाज व्यवस्था के परिवर्तन का द्योतक है। यह विडंबना हीं है कि समस्त प्राणियों में एक ही परम तत्व के दर्शन करने वाला तथा वर्ण व्यवस्था को गुण और कर्म के आधार पर निर्धारित करने वाला समाज एक समय इतना कट्टर हो गया कि निम्न वर्ण या जाति में जन्म लेने वालों को सब प्रकार के अवसरों से मनुष्य और मनुष्य में जन्म के आधार पर भेदभाव करते हुए, वंचित किया जाने लगा। इस सारी व्यवस्था के लिए आज प्रायः 'मनुस्मृति' को जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है और उन ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों एवं घात-प्रतिघातों की उपेक्षा कर दी जाती है जिन्होंने एक सुचिंतित सामाजिक व्यवस्था को जड़, प्रगति विरोधी, मानव विरोधी एवं समाज विरोधी रूढ़ में बदल दिया।

भारत की लंबी गुलामी का एक बड़ा कारण भारतीय समाज की रूढ़ग्रस्त और सड़ी-गली जाति व्यवस्था और छुआछूत की कुरीति को माना जा सकता है। इसीलिए नवजागरण और स्वतंत्रता आंदोलन के पुरोधाओं ने भारत को इस कलंकपूर्ण प्रथा से मुक्त कराने का यथाशक्ति प्रयास किया। यही कारण है कि भारत के संविधान में अनुच्छेद 15 (2 बी.) के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया कि जाति के आधार पर भारत के किसी भी नागरिक के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। इसके अलावा लंबे समय तक सामाजिक शोषण और दमन का शिकार रही हरिजन और गिरिजन जातियों को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के रूप में अलग से सूचीबद्ध किया गया ताकि इनके लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके। इन प्रयासों के सुपरिणाम सामने आने लगे हैं जिनमें से एक है भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य की नई प्रवृत्ति का विकास।

भारत ही नहीं पूरे दक्षिण एशिया में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में चली मानवाधिकारों की हवा ने दलित चेतना को प्रवाहित करने में बड़ा योगदान किया है। इस क्षेत्र के दलित साहित्यकार जहां एक ओर परंपरागत काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र को अपर्याप्त मानते हुए साहित्य की नई कसौटी की खोज कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वे अफ्रीका और अमरीका की अश्वेत जातियों के साहित्य से भी प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं। काव्यभाषा में भी इससे सुनिश्चित परिवर्तन आया है, क्योंकि दलित साहित्य मनोरंजन और आनंद के लिए नहीं, समाज को झकझोरने और जगाने के लिए लिखा जा रहा है। इसीलिए कभी-कभी उसका तेवर प्रगतिशील और जनपक्षीय साहित्य के अन्य आंदोलनों के समान प्रतीत होता है। म्लेच्छ, अछूत, दस्यु, दास तथा और न जाने कितने गालीवाचक शब्दों से पुकारी गई जातियों ने दलित साहित्य (दलितों द्वारा रचित चेतना संपन्न साहित्य) के रूप में अपने 'अनुभव' को उच्च वर्ण के साहित्यकारों के 'अनुमान' की तुलना में मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफलता पाई है। अनुभव की मुख्यता होने के कारण यह साहित्य मूलतः आत्मकथात्मक है। हिन्दी में 1980 के बाद कई दलित आत्मकथाएं आईं और चर्चित हुई (मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान), दलित साहित्य की वार्षिकी का प्रकाशन आरंभ हुआ (जयप्रकाश कर्दमः 1999), दलित कविता सामने आई (ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराज सिंह बेचैन, रजतरानी, सुदेश तनवीर), दलित पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ (अपेक्षा, शंबूक, युद्धरत आम आदमी), दलित उपन्यासों की रचना हुई (छप्परः जयप्रकाश कर्दमः 1994) तथा समीक्षा के क्षेत्र में दलित विमर्श को व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई। इतना ही नहीं, हिन्दी साहित्य के इतिहास का दलित विमर्श की दृष्टि से पुनर्पाठ भी आरंभ हुआ जिसके परिणामस्वरूप भक्ति साहित्य को नई दृष्टि से व्याख्यायित किया गया तथा बीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन भी दलित चेतना के संदर्भ में किया जाने लगा। इसी से 1994 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' को हिन्दी दलित साहित्य की प्रथम रचना के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई।

यहां यह याद रखना जरूरी है कि फुले और अंबेडकर के प्रभाववश दलित विमर्श का यह विस्फोट सर्वप्रथम मराठी के साहित्य में दिखाई दिया। उसके बाद हिन्दी, तेलगु, मलयालम, कन्नड़ और तमिल आदि विविध भारतीय भाषाओं में गत शताब्दी के अंतिम दो दशकों में यह प्रवृत्ति क्रमशः लगभग साथ-साथ विकसित हुई। इस साहित्य प्रवृति ने साहित्य के केंद्रीय आख्यान के रूप में वर्णविरोधी आख्यान को स्थापित करने का प्रयास किया है जिससे जहां एक ओर दलित अस्मिता को सफलतापूर्वक रेखांकित किया जा सका है, वहीं दूसरी ओर असंतोष और आक्रोश की परिणति जातिवादी क्रोध, प्रतिहिंसा और घृणा के रूप में भी सामने आई है—जो इस आंदोलन का चिंताजनक

पक्ष है। दलित राजनीति ने भी दलित साहित्यकारों को प्रभावित किया है। विशेषकर दलित पैंथर, बहुजन समाज पार्टी और द्रविड़ विचारधारा वाली पार्टियों में इन्हें अनुकूलता नजर आती है, जो स्वाभाविक भी है। मंडल आयोग संबंधी बहसों का भी दलित साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। निश्चय ही दलित साहित्य एक नवीन सामाजिक ऐतिहासिक आख्यान की रचना कर रहा है। परंतु दलित राजनीति द्वारा उसके असंतोष और आक्रोश के अपने निहित स्वार्थ हेतु उपयोग की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

दलित साहित्य का उद्देश्य एकदम साफ है और वह है दलित मुक्ति। इसके लिए परंपरागत हिन्दू वर्ण व्यवस्था का बहिष्कार करते हुए बाबा साहेब अंबेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था इसीलिए दलित साहित्यकारों को बौद्ध धर्म की वर्णविहीन व्यवस्था में अपने लिए पर्याप्त संभावनाएं दिखाई देती हैं। यही कारण है कि मलयालम और तमिल समाज में दलित आंदोलन बड़ी सीमा तक हिन्दू विरोध, ब्राह्मण विरोध और संस्कृत विरोध का पर्याय प्रतीत होता है। ब्राह्मण-अब्राह्मण के कट्टर भेदभाव से ग्रस्त यह समाज दलित के नाम पर समाज को नए सिरे से विघटित करके एक सर्वथा दलित वर्चस्व वाले समाज के संघटन की कल्पना करता है। मलयालम दलित चिंतक कंचा इल्लय्या जब यह घोषणा करते हैं कि बीस-तीस वर्षों के भीतर अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा बन जाएगी, हिन्दू धर्म एक सामाजिक-धार्मिक शक्ति के रूप में नष्ट हो जाएगा और वेद, उपनिषद तथा गीता से प्रेरणा प्राप्त करने वाले साहित्य के स्थान पर अंबेडकरवादी दलित साहित्य सर्वव्यापी हो जाएगा, तो वे वास्तव में दलित विमर्श को स्वार्थ और घृणा की राजनीति का शिकार बनाने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। ऐसे चिंतक दलित साहित्य को उत्तर-आधुनिक विमर्श के बजाय उत्तर-हिन्दू विमर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके बावजूद यह सत्य है कि अंबेडकरवादी यह साहित्य दलित की मुक्ति की खोज ज्ञान की मुक्ति के रूप में करता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बुद्ध ने ज्ञान को उच्च वर्णों के शिकंजे से मुक्त कराया था तथा स्वतंत्र भारत में दलित विमर्श उसी कार्य को करना चाहता है। इसके लिए उसे संवैधानिक शक्ति भी प्राप्त है। यह हर्ष का विषय है कि अंबेडकरवादी यह आंदोलन दलितों को कलम और किताब के माध्यम से संघर्ष के लिए प्रेरित करता है और यह विश्वास करता है कि दलित साहित्य में जड़ रूढ़ जातिवादी सामाजिक संरचना को बदलने की शक्ति निहित है।

विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य में दलित विमर्श के इस उभार के संदर्भ में जब हम ने मणिपुरी साहित्य का रुख किया तो यह रोचक तथ्य सामने आया कि अब तक विवेचित अर्थों में दलित विमर्श मणिपुरी साहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है। इसका कारण समझने में भी देर नहीं लगी। दरअसल मणिपुरी समाज व्यवस्था में हिन्दू समाज व्यवस्था जैसी वर्ण और जाति की प्रथा कभी नहीं रही। वहां अस्पृश्यता अथवा जातिगत भेदभाव न पहले था, न आज है। इसका अर्थ है दलित विमर्श के रूढ़ अर्थ में मणिपुरी समाज में जब दलित ही नहीं है, तो वहां के साहित्य में दलित विमर्श कहां से आएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. आज का दलित साहित्य, तेज सिंह
2. आधुनिक भारत और दलित चेतना, राकेश पाण्डेय
3. अम्बेडकर आचार-विचार साहित्य, डी. आर. जाटव
4. अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पी.एन. सिंह
5. आज़ाद भारत में दलित, रूप चन्द गौतम
6. भारत के सामाजिक क्रांतिकारी, देवेन्द्र कुमार

प्रेमचंद के कथा–उपन्यासों में मध्यम वर्ग का चरित चित्रण

डॉ॰ पंकज कुमार तिवारी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राय वीरेन्द्र सिंह कॉलेज, हाजीपुर

प्रेमचंद ने सन् 1936 में अपने लेख 'महाजनी सभ्यता' में लिखा है कि 'मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का था जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को बस में किए हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद की मूल सामाजिक चिंताएं क्या थीं। वह भली-भांति समझ गये थे कि एक बड़े वर्ग यानि बहुजन समाज की बदहाली के जिम्मेदार, उन पर शासन करने वाले, उनका शोषण करने वाले कुछ थोड़े से पूंजीपति, जमींदार, व्यवसायी ही नहीं थे बल्कि अंग्रेजी हुकूमत में शामिल (सेवक) उच्चवर्णीय निम्न-मध्यवर्ग भी उतना ही दोषी था। किसान, मजदूर, दलित वर्ग न केवल शोषित और खस्ताहाल था बल्कि नितांत असहाय और नियति का दास बना हुआ जी रहा था। दोनों वर्गों की इतनी साफ-साफ पहचान प्रेमचंद से पहले हिन्दी साहित्य में किसी ने भी नहीं की थी।

एक ओर साम्राज्यवादी अंग्रेजी शिकंजा था तो दूसरी ओर सामंतवादी शोषण की पराकाष्ठा थी। एक तरफ अंग्रेजों के आधिपत्य से देश को मुक्त कराने के लिए आंदोलन था, दूसरी ओर जमींदारों और पूंजीपतियों के विरोध में कोई विरोध मुखर रूप नहीं ले पा रहा था। अधिकांश मध्यवर्ग अंग्रेजी शासन का समर्थक था क्योंकि उसे वहां सुख सुविधाएं, कुछ अधिकार और मिथ्या अहंकार प्रदर्शन से आत्म गौरव का अनुभव होता था।

प्रेमचंद ने अपने एक लेख में सन् 1921 में 'स्वराज की पोषक और विरोधी व्यवस्थाओं' के बारे में लिखा था (असहयोग आंदोलन और गांधीजी के प्रभाव में) कि 'शिक्षित समुदाय सदैव शासन का आश्रित रहता है।

उसी के हाथों शासन कार्य का संपादन होता है अतएव उसका स्वार्थ इसी में है कि शासन सुदृढ़ रहे और वह स्वयं शासन के स्वेच्छाचार (दमन, निरंकुशता और अराजकता) में भाग लेता रहे। इतिहास में ऐसी घटनाओं की भी कमी नहीं है जब शिक्षित वर्ग ने राष्ट्र और देश को अपने स्वार्थ पर बलिदान दे दिया है। यह समुदाय विभिषणों और भगवान दासों से भरा हुआ है। प्रत्येक जाति का उद्धार सदैव कृषक या श्रमजीवियों द्वारा हुआ है' यह निष्कर्ष आज भी पूरी तरह प्रासंगिक है।

सामान्यत: यह माना जाता है कि मध्य वर्ग की किसी भी आंदोलन, क्रांति और विद्रोह में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। मध्यवर्ग का एक हिस्सा सदैव शासन का पैरोकार और दूसरा हिस्सा आंदोलनों की आवश्यकता का हिमायती होता है। यह दूसरा हिस्सा वैचारिक परिस्थितियों का निर्माण करने में तो अपनी भूमिका का निर्वाह करता है पर आंदोलन की शुरुआत की जिम्मेदारी से वह सदैव बचता रहता है। वह आंदोलन के उग्र और सर्वव्यापी होने पर ही उसमें सक्रिय हिस्सेदारी करता है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इस वर्ग की उदासीनता से तो प्रेमचंद क्षुब्ध थे ही, साथ ही समाज में व्याप्त अंधविश्वास, प्रपंच, सामंती शोषण, वर्ग और वर्ण भेद के वीभत्स और कुत्सित रूप के प्रति भी इस वर्ग की उदासीनता एवं तटस्थता से भी वह नाखुश थे।

प्रेमचंद का जन्म पराधीन भारत की पृष्ठभूमि पर हुआ था जहां स्वयं उनको तथा उनके परिवार को अर्थाभाव की विकट स्थितियों से गुजरने के लिए विवश होना पड़ा था। वहीं धार्मिक और सामाजिक रूढ़िग्रस्तता ने जनमानस को विचार शून्य बना रखा था (यहां विचारशून्यता से तात्पर्य शोषण और असमानता की परिस्थियों के प्रति विरोध न करने से है)।

इसी असहायता, यथास्थिति और असमानता की जनव्याप्त की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रेमचंद की विचारशील प्रकृति को इस व्यवस्था के विरोध की प्रेरणा प्राप्त हुई। भारतीय परिवेश में उस समय पाखण्ड, आडम्बर, ढोंग, अंधविश्वास, दहेज, स्त्री उत्पीड़न, सूदखोरी, महाजनी, बेगार, छुआछूत, धार्मिक प्रपंच, सामंती उत्पीड़न और पूंजी के प्रभाव विस्तार के विषम रोग बुरी तरह समाज में व्याप्त थे। ये रोग मनुष्य के मनुष्यत्व को खाए जा रहे थे।

प्रेमचंद ने इस अभिशप्त समाज और आदमी की अंतर्वेदना को बहुत सहृदयता और संवेदनशीलता के साथ देखा-सुना और परखा था जिसके कारण उनके लेखन में वर्गीय समाज का स्पष्ट चित्र उभर कर आया। वह गरीबों, दलितों और शोषितों के पक्षधर लेखक बने। लेखन के बारे में उनका सोचना था कि 'साहित्य में राजनीति के आगे मशाल दिखाने वाली सच्चाई की शक्ति होती है।'

प्रेमचंद ने अच्छी तरह समझ लिया था भारत में सबसे खराब हालत कृषकों और श्रमिकों की ही है। एक ओर जमींदारी शोषण है तो दूसरी ओर पूंजीपति, उद्योगपति हैं, बीच में सूदखोर महाजन हैं। लेकिन यदि यहीं तक उन्होंने अपनी समझदारी का विकास किया होता तो शायद उनकी समझ और दृष्टि भारतीय समाज के चितेरे के रूप में अधूरी ही रहती।

उन्होंने भारतीय जन-जीवन में सदियों से व्याप्त अमानवीय जाति प्रथा की ओर भी पूरा ध्यान दिया। इसलिए उनकी अनेक कहानियां वर्णव्यवस्था के अमानुषिक कार्यव्यापार का बड़ी स्पष्टता से खुलासा करती है। ठाकुर का कुआं, सद्गति, सवा सेर गेहूं, गुल्ली डन्डा, कफन उनकी ऐसी प्रतिनिधि कहानियां हैं इस सामाजिक विसंगति को पूरी ईमानदारी से उजागर करती हैं। 'ठाकुर का कुआं' में जोखू चमार को ज्वर का ताप अवश कर देता है।

वहीं चमार टोले में जो कुआं है उसमें कोई जानवर गिर कर मर गया है। उस कुएं का पानी पीना किसी तरह निरापद नहीं है अत: पीने के लिए स्वच्छ पानी की आवश्यकता है। अब साफ पानी सिर्फ ठाकुर के कुएं से ही मिल सकता है, लेकिन चमार वहां नहीं जा सकते। वर्णधर्म के अनुसार वे अश्पृश्य तो थे ही उनकी छाया तक अपवित्र मानी जाती थी।

अत: जोखू की पत्नी को रात के अंधेरे में चुपके से पानी ले आने का दुस्साहस संजोना पड़ता है। पर ठाकुर की आवाज मात्र से ही वह भयभीत हो जाती है और अपना बरतन कुएं में ही छोड़ कर भाग खड़ी होती है। घर लौटकर देखती है कि जोखू वही गंदा पानी पी रहा है। एक तरफ घोर अमानुषिकता है तो दूसरी तरफ त्रासद निस्सहायता है। ऐसा जोखू के निर्धन होने के कारण नहीं वरना अछूत होने के कारण है क्योंकि एक निर्धन सवर्ण को उस ठाकुर के कुएं से पानी भरने से वंचित तो नहीं ही किया जा सकता था और चाहे जितना अत्याचार या शोषण उसका किया जाता रहा हो।

'सद्गति' कहानी में दुखी यों तो चमार जाति का है पर अपनी बेटी के ब्याह का शुभ मुहूर्त वह पंडित से निकलवाने पहुंच जाता है। बावजूद भूखे पेट होने के वह पंडित के आदेशानुसार श्रम करता है और अंतत: लकड़ी चीरता हुआ मर जाता है। उसकी लाश के साथ पंडित परिवार का व्यवहार क्रूरता की चरम स्थिति वाला होता है। वह उसे घिसटवा कर फिंकवा देता है।

'सवा सेर गेहूं' में पंडित सूदखोर है। शंकर आजन्म उस पंडित का सूद नहीं चुका पाता। 'कफन' के घीसू और माधव भी दलित हैं और व्यवस्था के दुचक्र ने उन्हें जिस मोड़ पर पहुंचा दिया है वह भी अमानवीय ही है।

'गुल्ली डन्डा' का गया भी अपनी स्थिति से बाहर निकल पाने में असमर्थ होता है। 'गोदान' का होरी, महतो है और राय साहब, पंडित दातादीन और महाजन के शोषण का शिकार होता है। होरी के मर जाने पर गोदान के बहाने पंडित दातादीन होरी की पत्नी धनिया की जमा पूंजी 'सवा रुपये' भी हड़प लेता है। यहां हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि एक ओर प्रेमचन्द की कहानियों में अद्वितीय 'पूस की रात', 'पंच परमेश्वर', 'बड़े भाई साहब', 'नमक का दारोगा', जैसी कहानियां हैं एवं 'निर्मला', प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' और 'गबन' जैसे सामाजिक कुरीतियों और नारीशोषण पर आधारित उपन्यास है वहीं गोदान में उनकी वर्णचेतना, वर्गचेतना तक विस्तृत होती है।

निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद भले ही दलित वर्ण में पैदा न हुए हों पर इतना तो तय है कि वह दलितों के प्रति पूरी ईमानदारी, समानुभूति और सम्मान के साथ, उनके साथ होने वाले अन्यायों के विरोधी और उनके मानवीय सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के समर्थक थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. सामाजिक मनोविज्ञानिक प्रेमचंद, विजय कुमार शर्मा
2. भारतीय दलित जीवन की कहानियां, प्रेमचंद
3. भारतीय जनजागरण एवं प्रेमचंद का उपन्यास, सत्यवती मित्तल
4. दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, सदानन्द साही
5. गोर्की और प्रेमचंद-दो अमर प्रतिभाएं, मधु मदनलाल
6. हिन्दी पत्रकारिता-प्रेमचंद एवं हंस, रत्नाकर पांडे

संस्कृत

वैदिक साहित्य में पशुहिंसा एवं मांस भक्षण का विवरण

डॉ॰ अरूण पाठक

एम.ए., पीएच.डी., जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

वेद आर्य सभ्यता और संस्कृति का मूलाधार है। यह परमात्मा की अमर वाणी है।, जिसमें दिग्दिगन्त को पावन करने वाले उदान्त उपदेश हैं। अत: भारतीय परंपरा में वेद को अपौरूषेय एवं सब सत्य विद्याओं का ग्रंथ माना गया है। तथापि पाश्चात्य विद्वानों और कतिपय भारतीय विद्वानों की दृष्टि में ये वेद अपौरूषेय न होकर समय-समय पर ऋषियों द्वारा रचित स्वीकार किये गये हैं। भारतीय परंपरा में यहां वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं, वहां पाश्चात्य परंपरा में वेद प्रधान रूप से ऐतिहासिक घटनाओं के संग्रह, बहुदेशवाद आदि के प्रतिपादक हैं। एक ओर जहां भारतीय विद्वानों एवं भाष्यकारों ने पशुहिंसा एवं मांस भक्षण को वेद विरुद्ध माना है, वहीं दूसरी ओर ईसाइयत से अनुरक्त पाश्चात्य विद्वानों और कतिपय भारतीय विद्वान तथाकथित अनुसंधान एवं भाष्य की आड़ में पशुहिंसा एवं मांस भक्षण को वेदानुकूल साबित करने का धूर्त्ततापूर्ण प्रयास किया है।

वैदिक इण्डेक्स के लेखक मैकडोनेल और कीथ 'मांस' शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं - ''वैदिक ग्रंथों में मांस खाना बहुत कुछ नियमित ही प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें अहिंसा अथवा पशुओं को किसी प्रकार की क्षति न पहुंचाने के सिद्धांत का कोई चिह्न नहीं मिलता।''[1]

लेखक द्वय की इन पंक्तियों से विदित होता है कि या तो वे वेद को बिना पढ़े ही वेद की आलोचना करने लगे अथवा किसी दुराग्रह के कारण उन्होंने जानबूझकर वेदों को अपवित्र सिद्ध करने का दुस्साहस किया है क्योंकि साधारण यादृश वेदपाठी भी यह जानता है कि - ''यजमानस्य पशुन् पाहि, अनिं मा हिंसी, गां मा हिंसी: एकशफं मा हिंसी: कृत्यामपसुव'' इत्यादि आदेशात्मक वाक्य वेद में एक स्थान पर नहीं, अपितु सैकड़ों स्थानों पर आये हैं और गाय, घोड़े, भेड़ व बकरी आदि को न मारने का स्पष्ट विधान किया है।

उक्त विद्वान अग्नि को बैल और गाय का भक्षक मानते हुए कहते हैं - ''सांस्कारिक मांसार्पण के पीछे यही मान्यता है कि देवगण उसे खायेंगे और ब्राह्मण लोग देवों की समर्पित वस्तुएं खाते ही थे।''[2]

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
स्तोमैविद्येमाग्नये।। -ऋग्वेद 8.43.11

यहां प्रसंग को समझे बिना उन्होंने उक्षा का अर्थ बैल और वशा का अर्थ वन्हया गाय करके अग्नि में इनकी आहुति का विधान मानकर अर्थ को विकृत कर दिया है। क्योंकि इस मंत्र का सही और स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है-

हम उपासना करने वाले (अग्नये) उस सर्वव्यापक प्रभु की (स्तोमैः) विविध स्रोतों और मन से (विधेम) पूजा करें। जो ईश्वर (उक्षान्नाय) धनवर्धक सूर्यादिको का भी अन्न के तुल्य पोषक है, (वशान्नाय) अपने वशीभूत समस्त जगतों का भी अन्न के समान धारक व पोषक है और (वेधसे) सबका रचियता भी है, ऐसे परमात्मा की उपासना करें।

मंत्र के अर्थ से स्पष्ट है कि विदेशी विद्वानों ने जानबूझकर अर्थ का अनर्थ किया है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने भी अनेक स्थानों पर उक्षा का सोमपरक अर्थ किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

उक्षाणं पृष्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन। - ऋग्वेद 1, 164, 43।

इस मंत्र के भाष्य में वे लिखते हैं ''(उक्षाणं) फलस्थ सेत्तारम् (पृश्निम्) शुक्लवर्णम् प्राश्नुते तेन फलभिति वा स्वयं प्राश्नुत इति वा पृश्निवल्लीरूपः सोमः तं (वीराः) विविध प्रेरणा कुशलाः ऋत्विजः (उपयन्त) अत्र धात्वर्थानादरेण तिङ् प्रत्ययः करोत्यर्थः स च क्रिया सामान्यवचनः अत्रैयिंत्यादभिषवेण सम्पादितवन्तः। (तानि) तत्साधनानि (धर्माणि) अनुष्ठानानि (प्रथमानि) प्रत्तमानि-प्रकृष्टानि फल पर्यवसायीनि (आसन) सम्पादितान्यभवन् यद् वा सोम उक्षाभवत् पूर्व तं देवाः शकृतापचन् यज्ञार्थे तद्भवों धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते। तत्पश्त्वेन वा मंत्रो व्याख्येयो विचक्षणैः''[5]

इसके अतिरिक्त कुछ विदेशी विद्वानों ने भी इस अर्थ को स्वीकार किया हैं मोनियर[6] विलियम्सकृत Sanskrit-English Dictionary में उक्षा का अर्थ सोम, सूर्य और ऋषभक नामक औषधि बताया है।

मैकडोनेल और कीथ आगे लिखते हैं-

''अतिभिग्व नाम का भी संभवतः अतिथियों के लिए गायों का वध करना अर्थ है।''[7] ब्लूमफील्ड[8] भी इसका समर्थन करते हैं। ऊपर उनके 'सम्भवतः' शब्द के प्रयोग से ही प्रकट होता है कि उन्हें 'अतिभिग्य' शब्द का यह अर्थ होने में स्वयं भी विश्वास नहीं है। किंतु फिर भी उन्होंने इसका मांसपरक अर्थ किया है। जो इसकी दुर्भावना की ओर इंगित करता है। व्याकरण के अनुसार अम्ल धातु से बने अतिभिग्व शब्द का सीधा सा अर्थ 'अतिथि को प्राप्त होने वाला' ही होगा। पुष्टि के लिए तथाकथित विद्वानों ने ऋग्वेद के निम्न मंत्र की ओर संकेत किया है, किंतु पाठक स्वयं ही देख सकते हैं कि इस मंत्र में गोवध की गंध भी नहीं है-

साह्वर्या अतिथिनीरिषिशः स्पार्हाः
सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा
उपे यविभिव स्थिविभ्यः।

- ऋग्वेद 10.68.3

अर्थ- जैसे किसान (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (गाः) जल की धाराओं को (वि-तूय) परिश्रम से काटता है और (यवम् निः ऊपे) जौ आदि अनाज बोता है और जिस प्रकार सूर्य एवं विद्युत (पर्वतेभ्यः) मेघों से (गाः वितूर्य) प्रशंसनीय वेदवाणियों या जल धाराओं को देता है उसी भांति (बृहस्पतिः) वह महान् शक्तियों का स्वामी परमेश्वर (स्थिविभ्यः) स्थिर (पर्वतेभ्यः) एवं पालक शक्तियों से युक्त सूर्यादि पदार्थों से जीवन शक्ति के तत्वों को (गाः निरूपे) अनेक भूमियों के प्रति फैलता है, जैसे भूमियों पर जौ छिटकाए जाते हैं। ये भूमियां (साधु अर्याः) जो कि उत्तम स्वामियों और वैश्यजनों से युक्त हैं, विद्वान अतिथि उनमें नेता का कार्य करते हैं जो कि अन्न से परिपूर्ण है (स्याहाः) चाहने योग्य (सुवर्णाः) उत्तम वर्णायुक्त (अनवद्यरूपा) तथा अनिन्दनीय है। अपने दुराग्रह को अविच्छिन्न बनाये रखते हुए लेखक युगल पुनः लिखते हैं कि - ''विवाह संस्कार के समय बैलों

का, स्पष्टत: खाने के लिए वध किया जाता था।''[9] ह्विट्नीज[10] ने भी इस बात को पुष्टि की है। अपनी बात की पुष्ट करने के लिए मेकडोनेल और कीथ ने ऋग्वेद का निम्न मंत्र उद्घृत किया है-

सूर्याया: वहतु: प्रागात् सविता यमवासृजत।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो: पर्युह्नते।। - ऋग्वेद 10.85.13

यहां उन्होंने 'अघासु हन्यन्ते गाव:' का मघा नक्षत्र में गायें मारी जाती हैं, यह प्रकरण विरुद्ध अर्थ कर लिया है, जबकि मंत्र का प्रकरणानुसार अर्थ इस प्रकार है- (सूर्याया: वहतु:) सूर्या का दहेज (यम् + सविता + अवासृजत) जिसे सूर्य दान करता है (प्रागात्) सूर्या को प्राप्त हो (गाव:) सूर्य किरणें और गौ (अघासु) माघ मास में (हन्यन्ते) निर्बल हो जाती है, यही उनका मारा जाना है। गौओं को माघ का मीत बहुत सताता है। (अर्जुन्यो:) फाल्गुन मास में (पर्युह्नते) फिर वैसे ही धारण हो जाती है। सूर्य किरणें भी चमकने लगती है और गौएं भी सुख पाने लगती है। मंत्रार्थ से स्पष्ट है कि हन्यन्ते का अर्थ वध करना नहीं, अपितु निर्बल होना ही प्रासंगिक एवं युक्तियुक्त है। लोक में भी किसी रोगादि से दुर्बल हुए व्यक्ति को हम कह देते हैं- 'अरे बीमार क्या हुआ तू तो मर ही गया'। स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां उन्होंने हमारी संस्कृति सभ्यता को दूषित करने की दुर्भावना से जानबूझकर उपर्युक्त अर्थ किया है।

ये विदेशी विद्वान जिस गाय का मांस खाने का विधान वेद में मानते हैं, उस गाय के लिए वेद में स्थान-स्थान पर 'अहन्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ अवहया अर्थात् 'न मारने योग्य' है। मैकडोनेल ने एक स्थान पर स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि 'ऋग्वेद तक में गाय एक विशेष पवित्रता अर्जित करने लगी थी और ऋग्वेद में 'अहन्या' शब्द का 16 बार प्रयोग किया गया है। परंतु मैकडोनेल साहब अपनी ही कही हुई बात को भूलकर 'अहन्या' शब्द का अर्थ 'जिसका वध न किया जाए' की अपेक्षा सेण्ट पीटर्स वर्ग कोश द्वारा ग्रहण किया हुआ अर्थ 'जिसे वशीभूत करना कठिन हो' को स्वीकार कर लेते हैं। उनकी कुत्सित बुद्धि का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है। वे लोग मांस भक्षण का सीधा संबंध पशुयज्ञ अर्थात् यज्ञों में पशुहिंसा से भी जोड़ते हैं। पाश्चात्य विद्वान क्लेटन ने पशुहिंसा के संबंध में लिखा है - ''एक यज्ञ में, जो संभवत: बड़ा असाधारण था, 17 जवान गायों की बलि दी जाती थी। बैलों, भैसों और हरिणों की भी कई बार बहुत बड़ी संख्या में बलि दी जाती थी। शुक्ल यर्जुवेद में 327 पालतू पशुओं का वर्णन मिलता है, जिनमें बैलों, गायों, दूध देने वाली गायों का भी समावेश है, जिनकी बलि घोड़ों के साथ अश्वमेद्य यज्ञ में दी जाती थी।''[12]

विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त कुछ भारतीय विद्वानों ने भी वेद में मांस भक्षण को मानते हुए अपनी दासता की भावना को मुखरित किया है। वैदिग एज् (Vedic Age) के लेखक श्री आर. सी. मजूमदार और श्री ए. डी. पुसालकर एक स्थान पर लिखते हैं- ''अतिथियों को उस (विवाह के) अवसर पर मारी गई गायों के मांस से तृप्त किया जाता था।''[13]

उपर्युक्त उक्तियों में न तो कोई प्रमाण है और न ही लेखक के मन में दृढ़ आत्मविश्वास। पाश्चात्य विद्वान तो इस प्रकार के कथनों में Probably और Perhaps आदि शब्दों का बहुत प्रयोग करते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि वे मिथ्या कल्पना मात्र कर रहे हैं। वेदों का निष्पक्षता से अवलोकन करने से यह सिद्ध हो जाता है कि न तो वेद ने पशु हिंसा की अनुमति दी है और न ही मांस भक्षण की, अपितु स्थान-स्थान पर इसका विरोध किया है और इन्हें बड़ा भारी पाप बताया है। उदाहरण के लिए 'ऋग्वेद-10.87.16 में गौ को अहन्या के नाम से पुकारते हुए उसके दूध का बलात् अपहरण करने तथा उसे मारने वाले के लिए कठोर दंड का विधान है-

यः पौरूषेयेण क्रविषा समङ्क्ते
यो अश्वयेन पशुना यातुधानः।
यो अहन्याया भरति क्षीरमग्ने
तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।।

इस मंत्र में अश्व तथा अन्य पशुओं के मांस भक्षण को भी न केवल पाप बताया गया है, बल्कि ऐसे यातुधान हिंसक, पापी के लिए प्राण दंड का विधान है - यदि वह प्रेम से समझाने बुझाने से न माने तो''।[14] मांस भक्षण के निषेध हेतु अथर्ववेद का निम्न मंत्र भी उद्धरणीय है - ब्रीहिमत्तं यवमत्त्मयो माषमथो तिलम्।

एषं वा भागो हितो रत्नधेयाय दन्तौ,
मा हिंसिष्टं पितरं, मातरं च।।
- अर्थववेद 6.140.2

अर्थात् हे दंतो! तुम धान खाओ, जौ खाओ, माष (उड़द) खाओ तथा तिल खाओ। यह अन्न तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षण से तुम्हें रमणीय फल मिलेगा। तुम पिता और माता की हिंसा न करो।

टिप्पणियां

1.2. वैदिक इण्डेक्स - भाग-2, पृष्ठ 161
3. इण्डिशे स्टूडियन पृष्ठ 17, 280, 281
4. रिलीजन देस वेद 355
5. वैदिक संशोधन संस्था पूना सं भाग-1 पृष्ठ 1008-9
6. उक्षन् Ukshan - Name of Soma (as sprinking or scattering small dorps) name of the maruts of the SUN and AGNI - one of the eight chief medieaments Reshabhaka. — Sanskrit - English Dictionary by Monior Williams P-72
7. वैदिक इण्डेक्स भाग -2, पृष्ठ 161
8. American Journal of Philosophy, 17, 426
9. वैदिक इण्डेक्स भाग-2 पृष्ठ 161
10. Das altindische Hochzeitsrituell-33
11. मैकडोनेल - वैदिक माइथोलोजी, 151
12. At one sacrifice, Probably very unusual sacrifice, performed once in five years called the panel sharadiya sava, seventeen young cows were offered. Bullocks, Buffaloes and deer were also scarified, sometime in large numbers. The white yajurveda mentioned 327 domestic animals, including oxen, cows, milk cows, that are to be offered a long with horse at the great horse sacrifice.—The rigveda and Vedic Religion by clayton.
13. The guests are entertained with the flesh cows got killed on the occasion (if marriage)— Vedic Age, Page-389
14. वेदों का यथार्थ स्वरूप -पंडित धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड, पृष्ठ 191

संस्कृत

गीताः एक साहित्यिक मंथन

डॉ॰ विनोद कुमार सिंह

एम.ए., पीएच.डी., बी.एड., मासूमगंज, छपरा

महर्षि वेदव्यास के अद्‌भुत आत्मचिन्तन का दर्शन उनके द्वारा विरचित गीता (श्रीमद्‌भागवतगीता) के रूप में होता है। यह महर्षि के आत्ममंथन से निःसृत वह दुग्धामृत है जिसका आज भी जितना अधिक मंथन किया जाय उससे उतने ही नूतन भाव रत्न प्राप्त होते हैं। वस्तुतः गीता ज्ञान का अथाह समुद्र है। इसका तत्त्व समझने में बड़े-बड़े ज्ञानियों की भी बुद्धि चकरा जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य गीता के पात्र कृष्ण ही जानते हैं। उसके बाद कहीं इसके संकलनकर्त्ता व्यास जी और तब श्रोता पात्र अर्जुन की बारी आती है। ऐसी अगाध महिमामयी एवं रहस्यमयी गीता का आशय समझना और उसका अर्थ समझना मुझ जैसी अल्पज्ञा के लिए ठीक वैसा ही है जैसे एक सामान्य पक्षी का अनन्त आकाश का पता लगाने का प्रयत्न करना।

किन्तु कोई जिज्ञासु यदि गीता सागर में गहरी डुबकी लगाए तो विलक्षण भाव रत्न राशि यहाँ उपलब्ध हो सकती है। गीता में ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन बतलाये गए हैं, उनमें से कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रूचि और योग्यतानुसार साधक अपना कर अपना शीघ्र कल्याण कर सकता है।

भीष्मपर्व में कहा गया है ''सर्वशास्त्रमयी गीता'' यदि गीता का अवलोकन किया जाय तो सारे शास्त्रों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो सकता है। महाभारत (भीष्मपर्व 8319) में कहा गया है कि सारे शास्त्रों की उत्पत्ति वेदों से हुई, ब्रह्माजी भगवान के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान के मुखारविन्द से निकली है। अतः उसे सभी शास्त्रों से बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। स्वयं महर्षि व्यास ने कहा है-

गीता सुगीता कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विमिःसृता।।

इस श्लोक में पद्मनाम शब्द का प्रयोग कर इसी उपर्युक्त महत्त्व को व्यक्त किया गया हैं। शास्त्रों में गंगा स्नान का फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गंगा स्नान करने वाला स्वयं मुक्त हो सकता है। वह दूसरों को तारने की सामर्थ्य नहीं रखता। लेकिन गीता रूपी गंगा में गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है। वह अपने ही साथ दूसरों को भी तारने के लिए समर्थ हो जाता हैं गीता को स्वयं भगवान से भी बढ़कर कहा जा सकता है। यहाँ भगवान ने स्वयं कहा है -

''गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञान्मुपाश्रित्य त्रिल्लोकान् पाल्याभ्यहम्।।''

वस्तुतः गीता-धर्म के रूप में जो द्रष्टव्य होता है वह है भगवान कृष्ण के द्वारा अर्जुन को राजयोग का उपदेश करके भागवतधर्म का पुनरारम्भ। इसका तात्पर्य यह है कि गीता-धर्म सृष्टि के आरम्भ से ही चला आ रहा था। बीच में उसका लोप हो जाने पर श्री कृष्ण द्वारा उसका पुनरारम्भ हुआ। गीता-धर्म अध्यात्म पर आधारित समुच्चयवादी धर्म था। मनुष्य की मुक्ति का मार्ग त्रिविध माना जाता था - ज्ञान, कर्म और भक्ति समन्वित।

एकान्तवादी सम्प्रदायों ने इन तीन विद्याओं को वैकल्पिक मान लिया। इससे जीवन एकांगी हो गया। भगवान कृष्ण ने तीनों के समन्वय मार्ग की पुन: प्रतिष्ठा की।

गीता में भगवान ने मुक्त कण्ठ से यह घोषणा किया कि जो कोई मेरी इस गीता रूप आज्ञा का पालन करेगा वह नि:संदेह मुक्त हो जाएगा।[1] यही नहीं भगवान कहते हैं कि जो इसका अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा।[2] इस गीता के अध्ययन मात्र का इतना महत्त्व है। जो इस गीता ज्ञान को भक्तों को धारण करवाता है उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है। उसके लिए भगवान कहते हैं वह उन्हें प्राणों से भी बढ़कर प्यारा होता है।

गीता वस्तुत: भगवान का श्वास है, हृदय है और भगवान की वाड.मयी मूर्ति है। जिसके हृदय में वाणी में शरीर में तथा समस्त इन्द्रियों में एवं उनकी क्रियाओं में गीता बसती है रम जाती है वह पुरुष साक्षात् गीता की मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तन से दूसरे मुनष्य भी परम पवित्र बन जाते हैं। मान्यता है गीता जब कृष्ण के मुख से नि:सृत हुई व्यास ने इसका संकलन किया। भगवान ने अपने उपदेशों के जो अंश पद्यों में कहा उसे व्यास जी ने ज्यों का त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्य में कहा उसे व्यासजी ने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया साथ ही अर्जुन संजय एवं धृतराष्ट्र के वचनों को अपनी भाषा में श्लोकबद्ध कर लिया। कुल सात सौ श्लोक हुए जिन्हे गीता के अठारह अध्यायों में विभक्त कर महाभारत में मिला दिया गया।

महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रस्तुत गीता के रूप में यह सामग्री मनुष्य की निष्क्रियता को समाप्त करने का कार्य करती है। जीवन के कुरूक्षेत्र में गीता की ये पंक्ति -

''कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन''

लाभ-हानि की चिन्ता को छोड़ निष्काम-भाव से लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। यहाँ भगवान ने कहा है नश्वर संसार मेरे द्वारा रची गयी माया है। वस्तुत: मेरे अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी अमर नहीं है -

''सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतियान्ति मानिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौविसृज्यांऽहम्।।''

यहाँ निरन्तर आत्मभाव में स्थित सुख दु:ख, सभी को समान समझनेवाला, मिट्टी और पत्थर तथा स्वर्ण में समान भाव रखनेवाला ज्ञान, प्रिय तथा अप्रिय को एक सा मानने वाला अपनी निन्दा स्तुति में भी समानभाव वाला गुणातीत कहा गया है -

समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्यमकाञ्चन:।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्म संस्तुति:।।

गीता के अवलोकन से कुछ खास बातें सामने आती हैं-

गीता में सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों भावों एवं क्रियाओं की कुछ खास पहचान बतलाई गई है-

(क) जिस भाव या क्रिया का स्वार्थ से सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममत्व न हो। जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो उसे सात्त्विक की संज्ञा दी गई है।

(ख) जिस भाव या क्रिया में लोभ स्वार्थ एवं आसक्ति का संबंध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुख की प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दु:ख हो उसे राजस कहा गया है।

(ग) जिस भाव या क्रिया में हिंसा मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दु:ख एवं अज्ञान हो उसे तामस की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार तीनों प्रकार के भावों एवं क्रियाओं का भेद दर्शाकर सात्त्विक भावों एवं क्रियाओं को ग्रहण करने का आदेश भगवान द्वारा दिया गया है। यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरण का उत्तम भाव दोनों को ही गीता में कल्याण का साधन माना गया है। किन्तु प्रधानता भाव को ही दी गई है। यह 2155 से 71;12/13 से 19; 14/22 से 25 दूसरे तथा चौदहवें अध्यायों में द्रष्टव्य है। गीता के अनुसार सकाम भाव से किया गया दान, तप, सेवा, पूजा आदि, ऊंची से ऊंची क्रिया की अपेक्षा निष्काम भाव से हुआ युद्ध, व्यापार, खेती, शिल्प एवं सेवा आदि छोटी से छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होने से श्रेष्ठ है। गीता के चतुर्थ अध्याय में कई प्रकार के यज्ञ रूप साधन बतलाए गए हैं[1] – यहाँ भी भाव की प्रधानता से ही मुक्ति बताई गई है। गीता वेदों का आदर करती है। भगवान ने अपने को समस्त वेदों द्वारा जानने योग्य; वेदान्त को रचनेवाला और वेदों को जाननेवाला कहकर उसका महत्व बहुत बढ़ा दिया है।[2] संसार रूपी आश्रय वृक्ष का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं कि मूल सहित उस वृक्ष को तत्त्व से जानने वाला ही वास्तव में वेद तत्त्व को जानने वाला है।[3] भगवान ने बतलाया है कि जगत के कारण रूप परमात्मा के सहित जगत के वास्तविक स्वरूप को तत्त्व से जानना ही वेदों का तात्पर्य है। भगवान ने कहा है जो बात वेदों द्वारा विभाग पूर्वक कही गई है उसीको मैं कहता हूँ।[4] इसप्रकार अपनी उक्तियों के समर्थन में वेदों को प्रमाण बतलाकर भगवान ने वेदों की महिमा को बहुत ही महत्त्व प्रदान किया है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वह महर्षि कपिल के द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शन का वाचक है; किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है। गीता के तेरहवें अध्याय में (13/19, 20, 21) तथा अन्यत्र भी प्रकृति और 'पुरुष' दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति पुरुष सांख्य दर्शन के खास शब्द हैं; इससे लोगों ने अनुमान लगा लिया कि गीता को कपिल सांख्य का सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्द को भी कुछ लोग पातंजलयोग का वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में तथा अन्यत्र भी कई जगह सांख्य और योग शब्दों का एक ही जगह प्रयोग हुआ हैं इससे भी लोगों ने यह मान लिया कि सांख्य और योग शब्द क्रमशः कपिल सांख्य तथा पातंजलयोग के वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ती। न तो गीता का सांख्य कपिल सांख्य ही है और न गीता का योग पातंजल योग ही है। यह निम्नलिखित बातों से सुस्पष्ट हो जाती है।

1. गीता में ईश्वर को जिस रूप में माना जाता है उस रूप में सांख्य दर्शन नहीं मानता।
2. यद्यपि 'प्रकृति' शब्द का गीता में कई जगह प्रयोग हुआ है किन्तु गीता की प्रकृति और सांख्य की प्रकृति में महान अन्तर है। कपिल सांख्य की प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है। किन्तु गीता की प्रकृति तीनों गुणों का कारण है, गुण उसके कार्य हैं[1] –

''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।

यहाँ गुणों के भेद नाम और संख्या बतलाने के लिए सत्त्वम्, रजः और तमः इन पदों का प्रयोग किया गया है।

अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं – सत्त्व, रज और तम।

इनको प्रकृति सम्भव कहने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं एवं समस्त जड़ पदार्थ इन्हीं तीनों का विस्तार है। देहिनम् पद का प्रयोग करने का अभिप्राय है जिसका शरीर में अभिमान है, उसी पर इन गुणों का प्रभाव पड़ता है; और उसे अव्यय कहकर यह दिखलाया गया है कि वास्तव में स्वरूप से वह सब प्रकार के विकारों से रहित और अविनाशी है।

3. गीता के 'पुरुष' और सांख्य के पुरुष में भी महान अन्तर है। कपिल सांख्य के मत में पुरुष अनन्त है; किन्तु गीता में सांख्य पुरुष को एक ही माना गया है।[2]
4. गीता की मुक्ति और सांख्य की मुक्ति में भी महान् अन्तर है। सांख्य के मत में दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्ति है। गीता की मुक्ति में दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ ही साथ परमानंद रूप परमात्मा की प्राप्ति भी है।[1]
5. पातंजलयोग में योग का अर्थ है- चित्तवृत्ति का निरोध, परन्तु गीता में प्रकरणानुसार 'योग' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में आया है[2] -

''श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदास्थास्यति निंचला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।''

इस प्रकार गीता और सांख्य दर्शन तथा योगदर्शन के सिद्धांत्तों में बड़ा अन्तर है। गीता में 'योग' शब्द प्रसङ्गानुकूल अनेक अर्थों में द्रष्टव्य होते हैं -

कर्मयोग (6/13) ध्यान योग (6/19) समत्वयोग (2/48) भगवत्प्रभावरूपयोग (9-5) भक्तियोग (14/26) अष्टाङ्ग योग (4-28) सांख्य योग (13-24)।

गीता के सम्पूर्ण अनुशीलन के पश्चात् यही लगता है कि गीता समस्त शास्त्रमयी है। श्रीहरि सर्वदेवभय हैं। गंगाजी सर्वतीर्थमयी हैं। मनुसर्ववेदमय हैं। गीता गंगा गायत्री और गोविन्द ये चार प्रकार से युक्त नाम जिसके हृदय में बसते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। महाभारत रूपी अमृत के सर्वस्व गीता को मथकर और उसमें से सार निकालकर भगवान कृष्ण ने अर्जुन के मुख में उसका हवन किया है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में इसके विषय में लिखा है -

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थंच कृत्स्नश:
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता:
इयमष्टादशाध्यायी क्रमात् षट्कत्रयेण हि।
कर्मोपास्तिज्ञानकाण्ड-त्रितयात्मा निगद्यते।

1. गीता - 3131
2. गीता - 14160
1. गीता - 14/24
1. गीता - 4/24 से 32 तक
2. गीता - 15/15
3. गीता - 15/1
4. गीता - 13/4
1. गीता - (14-5)
2. गीता - (13-22, 30) 18/20/
1. गीता - 6/21-22
2. गीता - 6/53

संस्कृत

प्रकृति–चित्रण और संस्कृत साहित्य

नमिता कुमारी

शोध प्रज्ञा, संस्कृत विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

विश्व वाङ्मय में संस्कृत साहित्य अति प्राचीन एवं समृद्ध साहित्य है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त सृष्टि में सहायक प्रकृति की सत्ता साहित्य में भी व्याप्त है, शक्ति और प्रकृति सृष्टि में सर्वोपरि है, पृथ्वी जब शक्ति युक्त रहती है, तभी वह स्थिर रहकर सबको धारण कर सकती है। आदि शक्ति-प्रकृति से तात्पर्य है 'प्र' अर्थात् 'प्रकृष्ट' और 'कृति' अर्थात् 'सृष्टि' या 'सरितः' जो सृष्टि की रचना में सहायक हो, वह प्रकृति है। प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में प्रकृति-चित्रण की पद्धति परंपरागत है। प्रकृति का मनोहारी चित्रण वैदिक संस्कृत साहित्य से लेकर लौकिक संस्कृत-साहित्य एवं अन्य साहित्यों में पर्याप्त मिलता है। प्रकृति का सहवास अत्यंत आनंददायी माना गया है और सच तो यह है कि प्रकृति में ही प्राणि के सुकुमार मनोभावों तथा कृतियों के परितोष के लिए समुचित सामग्री भरी है। सचमुच मानव को कला की प्रथम प्रेरणा प्रकृति से मिली है तथा मानव ने उसमें अपनी संवेदना जागृत की और अंततः आनंद का अनुभव किया। तत्पश्चात् उसकी कल्पना को शक्ति मिली और आदि कवि की वाणी से निःसृत होकर काव्य का अंतिम स्वरूप हमारे सामने आया, फिर तो शनैः-शनैः काव्य। जीवन का अंग बन गया और प्रकृति सहचरी। प्रकृति-भावना का सरस चित्रण भारतीय लेखनी से सबसे पहले सप्तसिन्धु प्रदेश के सरस्वती तट पर स्थित उन यज्ञ-धूम सुरभित ऋषि-कुंजों, आश्रमों और अरण्यों में फूटा था, जहां प्रकृति किसी अनादि सत्ता का मधुर संकेत करती हुई शांत भाव से फल-फूल रही थी। उस रहस्य सुमधुर वातावरण ने ऋषि-हृदय में एक पावन प्रकृति-प्रेम की मधु-धारा का अखंड स्रोत! तुमसे सौन्दर्य की धाराएं निकल कर वैसे ही फैलती है, जैसे वृक्ष से उसकी शाखाएं तुम्हारा भक्त, धन, शक्ति, दैवी वृष्टि और स्तुल्य ज्योति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।[1]

जहां तक संस्कृत साहित्य में प्रकृति-चित्रण का सवाल है, तो निस्संदेह प्रकृति-चित्रण संस्कृत साहित्य का प्रधान अंग है। सर्वप्रथम भारतीय धर्म के सर्वस्व सभ्यता एवं संस्कृति का सागर तथा ब्रह्मा के मुख से निकली (निःसृत) प्रथम वाणी वैदिक संहिताओं में प्रकृति की मनोरम झांकी मिलती है। प्राकृतिक शक्तियां ही वैदिक आर्यों के अराध्य देवों और देवियों के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। वेदों में न केवल आध्यात्मिक, धार्मिकता एवं सांस्कृतिक निधि ही सुरक्षित है, बल्कि प्राकृतिक परंपरा और काव्य-सौंदर्य अद्भुत तथा मनोहारी है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों में, जैसे अग्नि सूक्त, सूर्य सूक्त, सवितृ सूक्त, वरूण सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त, यम-यमी संवाद इत्यादि में प्रकृति की अद्भुत छटा बिखेरी गई है। उषस् सूक्त तो मानों प्रकृति से साक्षात् दर्शन कराता हो। प्रातःकाल की देवी, कान्तमती, तेजोदीप्त एवं अनुपम आभा से मण्डित उषा की प्राकृतिक विशेषताओं का वर्णन यथार्थ के धरातल पर ऋषियों ने आह्लाद भरे स्वरों में किया है।[2]

उषा सूक्त के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभातकालीन उषा की लाली को देखकर ऋषियों के अनुराग भरे भावों और मानवीय संवेदना के स्वर कल्पना के पंख पसारकर परवर्ती साहित्य की गीतिकाव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण करने लगे थे। वस्तुत: प्रभातकालीन उषा के प्रति आर्यों के अनुराम प्रकृति-प्रेम का प्रतीक, काव्यात्मक एवं कलात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। ऐसा लगता है कि ऋषिगण नवोदिता उषा को देखकर प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य पर मंत्र-मुग्ध हो जाते थे तथा अपने में नई चेतना और नई स्फुर्ति का अनुभव करने लगते थे।[3] वस्तुत: उषा सूर्य के मार्ग अनावरण करती हुई क्षितिज पर उदित होती है। वह रात्रि की बड़ी बहिन है, फलत: उषा को आते ही उसकी छोटी बहिन उसके लिए स्थान रिक्त कर देती है; ताकि वह अपने प्रेमी सूर्य के साथ अनंत आकाश में स्वच्छन्दता से विचरण कर सके।[4] नर्तकी के समान सजी हुई उषा अपने रूप को प्रकट करती है। जिस प्रकार गायें दुहने के समय अपने स्तन प्रकट करती है, उसी प्रकार उषा भी अपना वक्ष प्रकट करती है। जिस प्रकार गायें शीघ्र ही व्रज में चली जाती है, उसी प्रकार उषा पूर्व दिशा में जाकर सारे विश्व को ज्योति से आलोकित करती है।[5]

ऐसा लगता है इन्द्र के भय से पर्वत स्थिर हो गए हैं। द्युलोक और पृथ्वीलोक इसके भय से कांपते हैं।[6] वरूण सूक्त देवता आकाश मार्ग से उड़ने वाले पक्षियों के स्थान को या मार्ग को जानते हैं और समुद्र में अधिष्ठित जो वरूण देवता समुद्र मार्ग से जाने वाली नाव के मार्ग को जानता है। वह हमें बंधन मुक्त करें।[7] सविता सूक्त भी प्रकृति-चित्रण का पर्याय है। सुंदर गतिवाली सूर्य की रश्मियां अर्थात् सविता सुंदर गति वाली सूर्य की रश्मियों ने अंतरिक्ष आदि तीनों लोकों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। वे रश्मियां गंभीर कंपन वाली अर्थात् शीघ्रगामिनी, प्राणों को देने वाली और अच्छी प्रकार से मार्ग पर ले जाने लगी है।[8] हिरण्यगर्भ सूक्त में भी प्रकृति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—ये बर्फीले पर्वत जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति की महिमा को कहते हैं, नदियां सहित समुद्र जिसकी महिमा को कहते हैं। ये प्रधान दिशाएं और बाहू के समान कोण दिशाएं और बाहू के समान कोण दिशाएं, जिसकी महिमा कहती हैं।[9] ये भी प्रकृति का मनोरम दृश्य है।

भारतीय संस्कृति के प्राण तत्त्व संगीत का उद्गम स्थल सामवेद प्रकृति-चित्रण का अच्छा उदाहरण है। सामवेद की कुछ ऋचाओं यथा पवमान (सोम विषयक मंत्र), अरण्यक पर्व तथा साम के गायनों में सात सुरों का प्रयोग संगीत का मूल यहीं उपलब्ध होता है। इस उद्दाम संगीत एवं प्रकृति-चित्रण की इतनी उन्नति, भारतीय सभ्यता के उदात्त विकास की सूचना देती है। यजुर्वेद के यज्ञानुष्ठान तो प्रकृति के आंचल पर ही संपन्न होता है। अथर्ववेद में विवाह विषयक चौदहवें कांड, श्राद्ध विषयक आठारहवें कांड तथा सोमयाग में बीसवें कांड भी प्रकृति से संबद्ध है। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि वैदिक संहिता के इन्हीं प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आर्यों के हृदय में जो कल्पना जगी, वही देवता के रूप में वर्णित की गई है। इस प्रकार देवता प्राकृतिक दृश्यों के ही प्रतिनिधि हैं, परंतु इतना ही नहीं, वैदिक ऋषियों के भिन्न आकार धारण करने वाले इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त एक प्रकृति सत्ता का पता बहुत पहले लगाया था। ब्राह्मण ग्रंथों के अलावा उपनिषदों में, जिसे महर्षियों ने अपना प्रतिभा चक्षु से आध्यात्मिक तत्वों का साक्षात्कार किया था, में भी प्राकृतिक दृश्य दिखलाए पड़ते हैं। उपनिषद् वास्तव में वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे भिन्न-भिन्न ज्ञान सरिताएं निकलकर इस पुण्यभूमि आर्यावर्त में मनुष्यमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण के लिए प्रवाहित होती रही है।[10] संस्कृत साहित्य का गौरव ग्रंथ पुराण को

भारतीय मनीषियों ने पंचम वेद की संज्ञा दी, जिसमें पंडित बलदेव उपाध्याय पं॰ गिरिधर शर्मा शामिल हैं। विश्व कोष पुराण में प्राचीन भारत का ज्ञान और विज्ञान, पशु तथा पक्षी–विज्ञान, वनस्पति तथा आयुर्वेद सब एकत्र कर भर दिया गया है। मत्स्यपुराण, भागवत पुराण, वायु पुराण तथा अग्निपुराण में अत्यधिक स्थानों पर प्रकृति–चित्रण हुआ है। जिस प्रकार न सूखने वाले तालाब से हजारों क्षुद्र नदियां निकलती है, उसी प्रकार सत्य के भंडार भगवान् से असंख्य अवतार निकलते हैं।[11] सच ही कहा गया है, जिस प्रकार सुंदरी भार्या अन्धे पति को अपने रूप-लावण्य से कोई आनंद नहीं दे सकती। माया से युक्त मायावी ब्राह्मण को वेद भी पाप से उद्धार नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार संस्कृत साहित्य के अध्ययन के अभाव में मनोरम प्रकृति से साक्षात् नहीं हो सकता और इसी प्रकृति–नीति और स्मृतियों के अनुशीलन से प्राकृतिक सौंदर्य का दर्शन संभव है। वैदिक संविधान मनुस्मृति में महर्षि मनु ने कुश, अश्मन्तक, बल्वज (बंबई नाम की घास), मेखला, कपास, पलाश, सूत, वट, खैरका, पीलू या गूलर का दंड, वनादि का वर्णन कर प्राकृतिक दृश्य को दर्शाया है।[12]

सर्वव्यापक विभु ब्रह्म के रूप में उपस्थित, अक्षय और अनंत ज्ञान राशियों से परिपूर्ण, धार्मिक धाराओं से युक्त, मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा आप्यायित करने वाली समस्त काव्यों की जननी आदि महाकाव्य 'रामायण' आज भारतीयों के लिए नहीं, बल्कि समग्र संसार के लिए साहित्य-सुधा की वर्षा करने वाली है। आदि महाकवि बाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वी-तल को विदीर्ण कर उगने वाले विराट वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी प्राकृतिक शीतल छाया से संसार के समस्त मानव को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खड़ा है। प्रकृति की हृदय-स्थली रामायण की शुरूआत प्रकृति से और अंत भी प्रकृति से ही होता है। तमस-हारिणी तमसा कलकल करती हुई बह रही थी, उसका पावन तट वृक्षों की स्निग्ध छाया से शीतल था। तीर्थ में न तो पङ्क की तरह चिपका था और न शैवाल दुष्टजनों की तरह चित्तवृत्ति के समान उसे कलंकित कर रहा था।

पक्षियां कलख कर रहे थे; स्वच्छ जल-थल पर पड़ी चंचल किरणें चमक रही थीं। महर्षि बाल्मीकि के हृदय को इस दृश्य ने लुभा लिया। उन्होंने स्नान कर, वल्कल पहन इस प्रकार शांत वन में भ्रमण करना शुरू किया कि कामातुर क्रौंची के करूण स्वर ने उनकी दयादृष्टि को अपनी ओर खींचा। उनके सामने कौंच का मृत कलेवर खून से लथपथ हो रहा था।

इस दृश्य को देखकर ऋषि के कोमल चित्र में नैसर्गिकी करूणा का स्रोत प्रवाहित होने लगा-सुप्त करूणा इस दृश्य से बलात् जाग उठी। अकस्मात् उनके मुख से शोकात्मक श्लोक निकल पड़ा।[13] यहां तक की सीता राम और लक्ष्मण ने जीवन का चौदह वर्ष प्रकृति के आंगण में ही व्यतीत किया। रामायण में अलंकृत भाषा में प्रकृतिवर्णन अत्यंत मनोहारि है। श्यामा, कमलनयनी, मदुभाषिणी सीता निश्चय ही वसंत आने पर प्राण त्याग देगी। पद्मकेसर से मिश्रित और वृक्षों से निकला मनोहर वायु सीता के नि:श्वास के समान बहता है। हेमंत में वृक्षों से पुष्प निकल रहे हैं जैसे वसंत संघर्ष से ये खिले है।

मरूत का वर्णन भी द्रष्टव्य है-यह वायु पतित, पतमान और पाइप पर लटके हुए पुष्पों से मानो नाचता या खेलता हुआ, वृक्षों की शाखाओं को कम्पायमान करता हुआ उदीयमान भ्रमरों से अपना गायन करा रहा है। मत्त कोकिलध्वनि से मानों वृक्षों को नचाता हुआ वायु पर्वत कन्दरा से निकल कर गाना गा रहा है।[14]

प्राचीन संस्कृति के धरोहर, भारतीय मनीषा की देन, विश्व साहित्य की सबसे पृथुल रचना, उपजीव्य महाकाव्य तथा जातीय इतिहास ''महाभारत'' के कुछ पर्वों में प्रकृति-चित्रण देखे जा सकते हैं। ठीक ही कहा गया है, जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधि में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पदों में गौ श्रेष्ठ है; उसी प्रकार समस्त इतिहासों में 'महाभारत' श्रेष्ठ है। महाभारत का रचयिता अपने-अपने युग की समग्र साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि को अपनी कला के माध्यम से एक सूत्र में उपनिबद्ध करने में सफल हुआ है।

संदर्भ:

1. त्वद्विश्वा भुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वियन्ति वनिनों न वया:।
   श्रुष्टी रयिर्वाजो वृततूयो दिवो वृष्टिरीरीड्यो रीतिरपाम।। ऋग्वेद-6/13/1
2. ''एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसना समाना पुरस्तात्।''
3. ''ता: प्रत्नवन्ना व्यसीर्ननमस्ते खदुच्छन्तु सुदिना उषास:।''
4. ''व्युच्छन्ती रश्मिमि: सूर्यस्याञ्जयङ्क्ते सम् नागाइव व्रा:''
5. अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्षं उ स्रेव वर्जहम्। ज्योतिविश्वस्यै भुवनाय कृष्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तम:।।
6. ''अस्यदु भिंया गिरयश्च हल्हा; द्यावां च भूमा जनुषस्तुजेते।।'' (ऋग्वेद 1.164.14)
7. ''वेदा जो वीना पदंमन्तरिक्षेण पतंताम् वेदनाव समुद्रिय:।।'' (ऋग्वेद 1.24.7)
8. The bird has surveyed the atmospheric regions, the devine, sprit of deep inspiralion, of good guidance. (Mac donell History of Sanskrit Literature)
9. 'यस्येमे हिप्रवंन्तो महित्वा यस्यं समुद्र रसया सहाहु।' (ऋग्वेद 1.35.7)
10. The work is nex to righteda the most important in the whole range of vedic literature. (Mac Donell)
11. अवतारा ह्यसंख्येया गुणसत्त्वनिधेर्द्विजा:। यथाऽविदासिन: कुल्या: सरस: स्यु:सहस्रश:।
12. कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्थोर्ध्ववृतं त्रिवत्। शणसुत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्।। (मनुस्मृति द्वितीय अध्याय 2/44 श्लोक)
13. ''मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।'' यत् कौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम्।।
14. पतितै: पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारूत:। कुसुमै: पश्च सौमित्रे क्रीडन्निव समन्तत:।
    मत्तकोकिलसनादैर्नर्तयन्निव पादपान।
    शैलकन्दरनिष्क्रान्त: प्रगति इव चानिल:।। रामायण (4/1/13/14)
15. सुपर्णसहिता: सर्पा: काननं च मनोरमम्। सागराम्बुपरिक्षिपतं पक्षिसङ्घनिनादितम्।। महाभारत (आदिपर्व/26/3)

संस्कृत

संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट का योगदान

डॉ॰ घनश्याम तिवारी

शिक्षक, संस्कृत उच्च विद्यालय, हराजी (सारण)

सारांश

सप्तम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रादुर्भूत कवि बाणभट्ट की कृति हर्ष चरितम् और कादम्बरी संस्कृत साहित्य की अक्षुण्ण धरोहर है। कवि बाणभट्ट ने अपनी रचनाओं के द्वारा संस्कृत जगत को जो सारगर्भित संदेश दिया है वह आज के युग में भी अनुकरणीय एवं स्पृहणीय है, कवि का भाव सामाजिक रीति-रिवाजों की बाध्यता को भी दर्शाता है।

बाणभट्ट ने सामाजिक कुरीतियों पर भी यथा-साध्य एवं यथा समय प्रहार करने की चेष्टा की है। कादम्बरी का शुकनाशोपदेश आज की गीता के समतुल्य अनुकरणीय उपदेश है। जिसमें तत्कालीन राजाओं द्वारा व्यचरित आचरणों का सम्यक् निरुपण निरुपित किया गया है।

विशिष्ट 5 शब्द

दिक्कालाद्यवच्छिन्न, वैशिष्ट्य, ऐतिहासिक, निर्वहन, तात्कालिक इत्यादि।

भूमिका

कवि बाणभट्ट की रचना हर्षचरितम् एवं कादम्बरी समाज विशेष, काल विशेष, देश विशेष, तथा परिस्थिति विशेष से प्रभावित है। कारण कि किसी भी कवि की कृति तात्कालिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। जिसमें वह जीवन-यापत करता है।

पुनरादि कवि जगत के उत्तरदायित्व पूर्ण महान भार का वहन करता हुआ दिक्कालाद्यवच्छिन्न परिस्थितियों से उपर उठ कर दिक्कालाद्यवच्छिन्न शास्वत संदेश को समाज में प्रदान करने का दायित्व निर्वहन करता है। यही कवि का वास्तविक कवित्व है।

अध्ययन का उद्देश्य

कवि बाणभट्ट के ग्रन्थ के रचना का उद्देश्य तात्कालिक परिस्थिति स्थानीय सामाजिक विचार-प्रचार से प्रभावित मानव-मानस के सन्देश को जन-जन तक पहुंचाना है। कवि की कृति कादम्बरी में तीन जन्मों की कथा वर्णित है। जिसका उद्देश्य मानव द्वारा किए गए कार्यों का भोग यह दर्शाता है कि यह मानव जीवन भोग भूमि नहीं अपितु कर्म भूमि है। यहाँ कवि वाणभट्ट का काव्य-मार्ग कभी भी एक देशीय नहीं रहा। कवि का संदेश सर्वदा और सर्वत्र कवित्व और व्यक्तित्व तथा कृतित्व समाज-देश के लिए सार्वभौमिक उपदेश है। जो सार्वकालिक एवं सर्वजनीय है।

कवि राजशेखर ने यद्यपि कवि की कृति को कुछ नियमों में प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है यथा –

''गृहीत विद्योपविद्यः काव्य क्रियाणां प्रवर्तते। नाम धातु परायणम् अभिधान कोषः छन्दोविचितिः, अलंकार तन्नाम्, काव्य-विद्या। कलास्तु चतुःषष्ठिरुपविद्या सुजनोपजीव्य कविसन्निधिः देशवार्तावदग्धवादः, त्लोकमात्राः विद्वद्गोष्ठ्यश्च, काव्यमाताः पुरातन कवि विबन्धाश्च'' इंति।।[1]

कवि का उद्देश्य समस्त विद्योपविद्याओं और पुरातन कवि निबन्धों का विस्तृत और गम्भीर अध्ययन, समस्त कलाओं का सम्यगनुशीलन करना हैं हर्ष चरितम् और कादम्बरी का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि शुकमुख से कादम्बरी के तीन जन्मों की कथा का प्रवाह कर्मानुशील कर्तव्य परायणता को ही प्राथमिकता देता है।

कवि द्वारा वर्णित मित्र मण्डली तथा तात्कालिक सामाजिक सभी वर्गों के प्रतिनिधियों के अद्भुत समवाद का चमत्कारित स्वरुप कादम्बरी का सम्पुर्ण मूल्यांकन है। यह वर्णन उस कवि के विलक्षण व्यक्तित्व के निर्माण में विशेषण सहायक है।, उस प्रकार की मित्रमण्डली उस रुचि वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य का परिचायक है।

कवि की प्रथम कृति हर्षचरित के बौध दार्शनिक दिवाकर मिश्र के आश्रम का वर्णन, तात्कालिक नास्तिकवाद तथा आस्तिक दर्शन की लम्बी सूची प्रकट करता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दार्शनिक विचारधारा बोध सिद्धान्त के विशेषताओं से पूर्णरुपेण परिचित हैं कादम्बरी काव्य में कुमार चन्द्रापीड के विधाभ्यास प्रसंग में उस समय की प्रचलित विविध विद्याओं की लम्बी सूची प्रस्तुत की है। सूत्र रुपेण उपर्युक्त सभी वर्णन वाणभट्ट के व्यापक वैदुष्य, काव्य-कला कौशल, दार्शनिक निष्णान्तता, रामायण महाभारत तथा पुराणों से सुपरिचितता, लोकव्यवहाराभिज्ञानता की अभिव्यक्ति करता है।

शोध प्रविधि

बाणभट्ट की कृति में विविध विद्योपविद्याओं, का सामाजिक विचारोपविचारों का, दार्शनिक विचाराधारा का, साहित्यिक प्रकृतियों के गम्भीर ज्ञान का, लोकवृत्त व्यापकानुभव से अर्जित व्युत्पत्ति वैलक्षण्यसोपानुप्राणित प्रवृत्ति का साक्षात् निर्देश दिया है।

तथ्य विश्लेषण

बाणभट्ट का शुकनाशोपदेश ''जो भगवद्गीता'' कहा जाता है आधुनिक शासको, धनवान पुरुषों तथा युवा वर्ग के लिए विशेषोपयोगी है। जैसे कि ''राजानः श्रीमन्तश्च तु स्वार्थ निष्पादन परैः धनपिशित ग्रामगृधैरास्थान नलिकी धूर्तकैः ..... प्रताप कुशलैधूर्तेः अमानुष लोकोचितानिः स्तुतिभिः प्रतार्णमाजाः ..... मिथ्या माहत्म्य गर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवाताभ्यः, न पूज्यति पूज्यान्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्ति अर्चनीयान, ...। सर्वथा तमभिनन्दति तमालपन्ति, तै पार्श्वे कुर्वन्ति, तं वर्धयान्ति ..... योहि वामाहात्म्यमुद्भावयन्ति्'' इति।। प्रायः यही दशा आज के शासकों की है।

बाणभट्ट का शुकनाशोपदेश दीक्षान्त भाषण के समान युवा वर्ग को विशेष ग्राह्य है। यथा- ''तदेवै प्रायाति कुटिलकष्ट चेष्टा, सहस्र दारुणे राज्य तन्गेडास्मिन्, महामोह कारिणी च यौवने कुमार तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, ननिन्धसे साधुभिः, नधिक्रिपते साधुभिः, नोपलभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वाहभिः।।

उपसंहार

बाणभट्ट राजा हर्षवर्धन के विशेष कृपा पात्र एवं सम्मान भाजन को राजसेवा में रह कर भी यह कवि राजसेवा को कष्ट. का कारण मानता था। यह राजकुल औ राजस्वभाव के दुखमाहत्व से भली-भांति परिचित था। राजसेवा के लिए चाटुकारिता, द्रव्य-व्यय, राजपुरुषों की अनुकूलता का साधन था जो आज के परिवेश में भी उपर्युक्त गुण अपेक्षित हैं आज की भी राजसेवा उसे ही सुलभ है जिसके पूर्वजों का शासकों के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि प्राचीन समय में राजाओं के दरबार में उनके साले ही उच्चाधिकारी नियुक्त होते थे। आज के राज प्रसाद उन्हें ही सुलभ है जो चाटुकारिता में प्रवीण हैं, तथा जो द्रव्य बल पर राजपुरुषों को स्वानुकूल करते रहते हैं।

स्संक्षेपतः बिहार प्रदेश के गौरव, संस्कृत गद्य काव्यधारा के प्रहरी सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता के सपूत कवि बाणभट्ट आज के युग में भी प्रासंगिक हैं। इति।।

वैश्वीकरण और असमान विकास

डॉ॰ अनवर इमाम

एसोसिएट प्रोफेसर, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष की शहरीकरण को लेकर जारी की गयी रपट देखकर केंद्र और राज्य सरकारों के कान खड़े हो जाने चाहिए। यह ठीक है कि वर्तमान में भारत अनेक देशों के साथ प्रतिस्पर्धा कर रहा है और आर्थिक विकास की दृष्टि से वह विश्व में दूसरे स्थान पर है, लेकिन शहरीकरण के मामले में उसकी स्थिति दयनीय है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों की हालत पहले से दुर्दशाग्रस्त है। यही कारण है कि नागरिक सुविधाओं की उपलब्धता और रहन-सहन के स्तर पर हमारा देश विकसित देशों के पैमाने से बहुत पीछे है। आज देश के राजनेता जनता को यह स्वप्न दिखाते नहीं थकते कि वर्ष 2020 तक भारत विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा हो जायेगा। ऐसा होता नजर नहीं आता, क्योंकि 2020 आने में मात्र 13 वर्ष शेष हैं। शहरी क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था के मुकाबले ग्रामीण अर्थव्यवस्था अभी भी खराब हालत में है और इसी कारण गांव से बड़ी संख्या में शहरों की ओर पलायन हो रहा है। कृषि क्षेत्र की कमजोरी के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर न के बराबर हैं। कस्बों और छोटे शहरों में तो छिटपुट विकास हो रहा है, लेकिन गांवों के उत्थान को लेकर कोई भी आशावान नहीं।

भले ही चुनाव के अवसर पर राजनेताओं की घोषणाओं से किसानों को थोड़ी-बहुत राहत मिल जाती हो, लेकिन उनकी बुनियादी स्थिति जस की तस है। छोटे किसानों को सरकारी नीतियों और योजनाओं का लाभ मुश्किल से मिल पाता है। कृषि आधारित उद्योग लगातार रूग्ण होते चले जा रहे हैं और इसका ताजा सबूत है चीनी उद्योग की खस्ता हालत। गन्ने के मूल्यों में वृद्धि करने वाले राजनेताओं के पास इसका कोई जवाब नहीं है कि चीनी मिलें अपने बढ़ते नुकसान की भरपाई कैसे करें? सरकारें यह भी नहीं चाहतीं कि चीनी के दाम बढ़ें। इस सबके चलते सरकारी और सहकारी क्षेत्र की तमाम चीनी मिलें बंद होने के कगार पर पहुंच गयी हैं।

इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर और भी घटते जा रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे को मजबूत करने के लिए बजट में धनराशि तो आबंटित होता है, लेकिन जैसा कि पूर्व में देश के अग्रणी नेता कह चुके हैं, एक रुपये में दस पैसे ही खर्च हो पाते हैं। यही वजह है कि अनेक ग्रामीण इलाकों में विकास का नामोनिशान तक दिखाई नहीं देता। आज अगर ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली, पानी, सड़क के साथ शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए सार्थक एवं नियोजित प्रयास किये जा सकें तो गांवों से शहरों की तरफ पलायन रोका जा सकता है।

ग्रामीण क्षेत्रों के लोग रोजी-रोटी की तलाश में या तो शहरों की ओर पलायन करने के लिए मजबूर होते हैं या फिर स्थानीय स्तर पर ऐसे कार्य करने लगते हैं जिनसे उन्हें लाभ के बाजय हानि

होने लगती है। यद्यपि देश की करीब 70 प्रतिशत आबादी गांवों में रहती है, लेकिन विकास के ज्यादातर कार्यक्रम शहरों तक सीमित हैं। पिछले 10 वर्षों में देश में जो भी उल्लेखनीय विकास हुआ है वह शहरी क्षेत्रों में अधिक दिखाई देता है। संभवत: इसी शहरी चमक-दमक के आधार पर राजग सरकार ने 2004 के लोकसभा चुनाव में इंडिया शाइनिंग का नारा देकर पुन: सत्ता में आने की कोशिश की थी, लेकिन उसे मुंह की खानी पड़ी। राजग के बाद सत्ता में आयी संप्रग सरकार से जनता को उम्मीद बंधी थी कि यह सरकार आम आदमी की सरकार साबित होगी, लेकिन तीन वर्ष बीत जाने के बावजूद आम आदमी के हित के लिए कुछ खास किया नहीं जा सका है। संप्रग सरकार ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के विकास के लिए जो तमाम योजनाएं घोषित कीं वे या तो कागजों तक सीमित रहीं या फिर उनकी गति इतनी धीमी है कि वे प्रभावी सिद्ध नहीं हो पा रही है।

केंद्र सरकार यह आड़ ले सकती है कि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास का दारोमदार मुख्यत: राज्य सरकारों पर है और वे अपना काम सही तरीके से नहीं कर रहीं, लेकिन सवाल यह है कि आखिर वह ऐसी हालत में भी चुपचाप क्यों बैठी है? क्या यह जरूरी नहीं कि वह राज्य सरकारों पर दबाव बनाये अथवा उन्हें प्रेरित करे? आज के हमारे राजनेताओं का अधिकांश समय अपनी कुर्सी बचाने अथवा सत्ता पाने के लिए गोटियां बैठाने में निकल जाता है। बिरले ही राजनेता ऐसे हैं जो गरीब जनता के गिरते हुए जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के प्रति गंभीर हैं। इस मामले में जहां तक नौकरशाहों की बात है तो उनके बारे में कुछ कहना व्यर्थ है।

ऐसा लगता है कि नौकरशाही अब इतनी खुदगर्ज हो चुकी है कि उसे आम जनता का दुख-दर्द दिखाई और सुनाई ही नहीं देता। नौकरशाहों का अधिकांश समय अच्छी पोस्टिंग पाने और फिर वहां जमे रहने में खप जाता है, जो थोड़ा-बहुत समय बचता है उसमें वे कामचलाऊ ढंग से विकास कार्यों की ओर ध्यान देते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के उत्थान से संबंधित सभी शीर्ष अधिकारी आम तौर पर शहरों में ही निवास करत हैं। वे ग्रामीण क्षेत्रों की सुधि मुश्किल से लेते हैं। यही कारण है कि ग्रामीण इलाके उपेक्षित नजर आ रहे हैं। यदि सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में वास्तव में विकास करना चाहती है फिर उसे शहरों के समानांतर नौकरशाही के ढांचे का निर्माण करना होगा। इस नौकरशाही का एक मात्र उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों का उत्थान करना होना चाहिए।

निस्संदेह शहरी क्षेत्रों में सब कुछ ठीक नहीं है। शहरी क्षेत्र जनसंख्या के बोझ से कराह रहे हैं। बेतरतीब विकास और अतिक्रमण के चलते शहरों में नागरिक सुविधाओं के ढांचे का सही तरीके से विकास नहीं हो पा रहा है। इसके लिए राजनेताओं और नौकरशाहों की मिलीभगत जिम्मेदार है। पता नहीं देश में ऐसे कानूनों का निर्माण क्यों नहीं हो पा रहा जिनसे शहरों के नियोजित विकास में आने वाली बाधाएं आसानी से दूर की जा सकें? आज शहरों में जो विकास कार्य हो रहे हैं उनके दीर्घकालिक परिणाम कोई बहुत सुखद नहीं नजर आते। शहरी विकास के नाम पर बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल बना देने मात्र से सब कुछ ठीक नहीं हो जायेगा। शहरों को व्यावसायिक क्षेत्रों के अलावा अच्छे स्कूल, अस्पताल और सड़कें भी चाहिए। इसी तरह बिजली-पानी की पर्याप्त उपलब्धता भी आवश्यक है।

देश के शहरों की एक गंभीर समस्या रिहाइशी भूमि की किल्लत और आवासीय इलाकों में बढ़ती व्यावसायिक गतिविधियां हैं। ऐसी ही गतिविधियों के चलते पिछले दिनों उच्चतम न्यायालय के निर्देश

पर दिल्ली में बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ की गयीं हजारों लोगों को अपने व्यावसायिक ठिकानों और आजीविका के साधन से हाथ धोना पड़ा। आखिर इसमें दोष किसका था- जनता का या फिर राजनेताओं और नौकरशाहों का?

यह वह प्रश्न है जिस पर सारे देश में बहस होनी चाहिए, क्योंकि दिल्ली जैसे हालात अन्य शहरों में भी बन रहे हैं। यदि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की धीमी और असंतुलित रफ्तार की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो आने वाले समय में रहन-सहन के स्तर पर समस्याएं और अधिक जटिल होंगी। इससे शहरीकरण और अधिक विकृत रूप ले सकता है। निश्चित रूप से ऐसी स्थिति में लोगों की समस्याएं बढ़ने के साथ-साथ एक प्राचीन एवं सुसंस्कृत देश के रूप में भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि और अधिक गिर सकती है।

केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा सामाजिक विषयों पर आयोजित संपादकों के आठवें सम्मेलन में केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री द्वारा कहा गया है कि सरकार गांवों में ही रोजगार का नया अभियान शुरू करने जा रही है, जिसके तहत गांवों में गरीबी रेखा से नीचे रहेने वाले सभी परिवारों के एक-एक सदस्य को स्वसहायता समूह में शामिल करके स्थानीय स्तर पर रोजगार का प्रबंध किया जायेगा। इससे गांवों से शहरों की ओर होने वाला पलायन रुकेगा।

लेकिन वैश्विकरण के इस दौर में वर्तमान हालातों के बीच स्वरोजगार समूह जैसी अवधारणा से गांवों में रोजगार के इतने अवसर उत्पन्न होना कठिन है कि गांवों के अधिकांश युवा गांवों में ही रह जायें। गांवों में रोजगार के ऐसे बहुत अवसरों का निर्माण हो रहा है, जो ग्रामीण युवाओं को लाभान्वित कर सकें। यह चिंताजनक है कि गांवों में ऐसे शिक्षित-अशिक्षित युवाओं की एक बहुत लम्बी कतार खड़ी है, जिसे यह समझ में नहीं आ रहा है कि वह कहां और कैसे रोजगार प्राप्त करें? जिनके पास कम जमीन है या जो भूमिहीन हैं वे रोजगार के अभाव में चिंताग्रस्त हैं और वे बड़े पैमाने पर गांवों से पलायन करते हुए दिखाई दे रहे हैं। इस समय गांवों में कितने बेरोजगार हैं और गांवों में बेरोजगारी क्यों बढ़ रही है, इसके बारे में योजना आयोग की नवीनतम रिपोर्ट में जानकारी दी गयी है। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि ग्रामीण इलाकों में बेरोजगारों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हो रही है।

1999-2000 में ग्रामीण इलाकों में 1.94 करोड़ लोग बेरोजगार थे, जिनकी संख्या 2004-05 में बढ़कर 2.51 करोड़ हो गयी। ये तो पूर्ण बेरोजगारी के आंकड़े हैं। अर्द्ध-बेरोजगारी और मौसमी बेरोजगारी के आंकड़े इसमें शामिल नहीं हैं। ग्यारहवीं योजना के दौरान वर्ष 2007 से 2012 के बीच विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार की संभावनाओं का जो आकलन किया गया है, उसमें भी कृषि से रोजगार के प्रति निराशा बताई गयी है। गांवों में युवाओं को रोजगार न मिलने के कई कारण हैं। गांवों में लघु व कुटीर उद्योगों का लगातार क्षरण हो रहा है।

नेशनल सैम्पल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन की एक नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार भारतीय किसानों पर कर्ज का बोझ लगातार बढ़ने से भी रोजगार का संकट बढ़ता जा रहा है। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार 2006 में 17,060 किसानों ने मौत को गले लगाया है। आत्महत्या के कारण चाहे जो बतलाए जायें, यह सच है कि आर्थिक तंगी और रोजगार की चिंताओं के कारण किसान आत्महत्या करने को मजबूर हो रहा है। सरकार की ग्रामीण रोजगार योजनाएं ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के पर्याप्त अवसरों का सृजन नहीं कर पा रही हैं।

सचमुच उदारीकरण के वर्तमान दौर में रोजगार विहीन विकास की चुनौतियों के बीच गांवों में रोजगार अवसर बढ़ाने के लिए हमें भागीरथ प्रयास करने होंगे। हमें हमारे ग्रामीण युवाओं को रोजगार की ओर बढ़ाने के लिए खाद्य प्रसंस्करण से भी जोड़ना होगा। भारत दुनिया में फलों-सब्जियों का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक है। लेकिन हम मात्र दो प्रतिशत प्रसंस्करण कर पाते हैं। इसी तरह दूध का सर्वाधिक उत्पादन हम करते हैं, लेकिन इसका प्रसंस्करण मात्र 15 फीसदी ही हो पाता है। हमारे देश में हर साल 50 हजार करोड़ रुपये की फल-सब्जियां बर्बाद हो जाती हैं, क्योंकि उपयुक्त सुविधाओं के अभाव में हम उन्हें बचा नहीं पाते।

खाद्य प्रसंस्करण के तकनीकी ज्ञान और दक्षता प्रशिक्षण के बाद लाखों ग्रामीण युवा रोजगार प्राप्त कर सकेंगे। केंद्र सरकार के द्वारा जनवरी 2008 में प्रस्तुत की गयी लगभग 65,000 करोड़ रुपये के कृषि कर्ज माफ किये जाने की उस नवीनतम योजना को तुरंत कार्यान्वित किया जाना चाहिए जिसका 80 प्रतिशत लाभ छोटे व मंझौले किसानों को मिलेगा। इससे ये किसान ऋणग्रस्तता से मुक्त होकर नये सिरे से व्यावसायिक जीवन शुरू कर सकेंगे। गांवों में काफी संख्या में जो गरीब और अर्द्धशिक्षित हैं, उन्हें रोजगार देने के लिए निम्न तकनीक विनिर्माण में लगाना होगा। यह सोचना होगा कि गांवों के लिए जितना धन आबंटित हो, उसका सार्थक इस्तेमाल हो।

यह जरूरी है कि सरकार एक ओर ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नई जान फूंके और ग्रामीण रोजगार योजनाओं को सार्थक रूप से कार्यान्वित करें, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण युवाओं का भी दायित्व है कि वे नये रोजगार बाजार के अनुरूप अपने को शिक्षित-प्रशिक्षित और प्रतिस्पर्धी बनाएं। ऐसा होने पर ही करोड़ों ग्रामीण बेरोजगारों के चेहरे पर रोजगार की मुस्कराहट आ सकेगी।

References

- Economic Development in India : Problems and Prospects-Edited by K.D. Gau
- Economic Development Strategies : Concepts and Experiences-Naveen Kumar Agarwal and Mannar Indira Srinivasan
- Economic Development and Income Distribution/Ashutosh Kumar
- Regional Inequalities in Economic Development/Alpana Kateja

विकास का सामाजिक विमर्श

डॉ॰ रमन कुमार झा

अर्थशास्त्र विभाग, राजदेव राय डिग्री कॉलेज, भगवानपुर, वैशाली

पिछले कुछ वर्षों में विकास की धारणा में अनेक नये आयाम जुड़ गये हैं। आर्थिक प्रगति, समाज के सभी क्षेत्रों में प्रगति को बढ़ावा देने की अनिवार्य और पर्याप्त शर्त है, यह लोकप्रिय धारणा अब गलत साबित हो गयी है। किसी एक वर्ग के आर्थिक विकास के सभी लोगों तक विकास के लाभ नहीं पहुंचते। इसी तरह, कुछ देशों में तेज आर्थिक प्रगति के बावजूद उनकी गंभीर समस्याएं बनी हुई हैं। वास्तव में, स्मृद्धि से अनेक नयी सामाजिक समस्याएं पैदा हो गयी हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि अगर विकास का मुख्य उद्देश्य समाज के हर व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाना है तो ऐसा केवल पूंजी जमा करके या आर्थिक प्रगति से ही नहीं हो सकता।

समाजशास्त्री अब मानते हैं कि विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों पर ध्यान देना जरूरी है। अगर विस्तार से कहें तो सामाजिक विकास में निम्नलिखित बातें शामिल हैं:

(i) भोजन, वस्त्र और आवास की बुनियादी जरूरतों का सही तरीके से पूरा होना।

(ii) बिजली, पानी, परिवहन और संचार जैसी बुनियादी सुविधाओं का उपलब्ध होना।

(iii) अच्छा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य। इसे आंकने के तरीके हैं-ज्यादा वर्षों तक जीने की संभावना, पर्यावरण प्रदूषण का न होना, पोषक आहार, चिकित्सा सुविधाएं, आदि।

(iv) आर्थिक कल्याण, इसका अर्थ है आर्थिक गतिविधियों में रोजगार के अवसर और रहन-सहन का ऊंचा स्तर।

(v) व्यक्ति का विकास, अर्थात् साक्षरता पेशेवर तथा नैतिक शिक्षा, सर्जनात्मक क्षमता का विकास आदि।

(vi) सामाजिक समन्वय, अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कार्यकलापों से लोगों का लगाव और भागीदारी तथा सामाजिक संस्थाओं का सुचारू रूप से चलना।

(vii) विभिन्न आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संसाधनों तथा अवसरों तक पहुंच में कम से कम विषमताएं।

कुछ समाजशास्त्रियों की राय में तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय विकास में निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिए।

1. राष्ट्रीय उत्पादन में निरंतर वृद्धि करते हुए आर्थिक बदलाव तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति और उत्पादन के मामले में निर्माण क्षमता अपने हाथ में लेना ताकि आगे वृद्धि के उपायों को लागू करने में देश मुक्त तथा स्वायत्त रह सके।

2. समानता और आय के समान वितरण तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, समुचित आवास, मनोरंजन सुविधाओं जैसे सामाजिक कल्याण के उपायों, तथा राजनीतिक निर्णय लेने में भागीदारी जैसे मामलों में समता लाते हुए सामाजिक बबदलाव।
3. निश्चित राष्ट्रीय पहचान और परंपरा बनाने की दिशा में व्यक्ति और राष्ट्र की छवि में सुधार लाते हुए सांस्कृतिक बदलाव। सामान्य जनों और संभ्रांतों–सभी लोगों के मन में ऐसी आत्म-छवि बनाना, जिससे अपनी राष्ट्रीयता को दूसरे दर्जे का मानने और विदेशी गुलामी की भावना समाप्त हो सके। (पांडे, 1985, पृष्ठ 128)।

कुछ सामाजशास्त्रियों ने विकास के प्रति समग्र दृष्टिकोण की बात करते हुए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और नैतिक आयामों पर ज्यादा जोर दिया है। वे जीवन के सभी आयामों के बेहतर होने को ही विकास मानते हैं। इनमें भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयाम भी शामिल है। वे इस बात पर बल देते हैं कि ये आयाम परस्पर संबद्ध हैं। उदाहरण के लिए जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्ष के सुधार में मन की संतुष्टि और स्वस्थ मानसिक स्थिति शामिल हैं। इसके लिए जरूरी है कि लोगों के भौतिक और अभौतिक लक्ष्यों तथा समाज के यांत्रिक तथा अंतर्भूत मूल्यों में उचित और कारगर संतुलन हो।

जीवन का यह व्यक्तिपरक (व्यक्ति के मन, इच्छाओं, आदर्शों से जुड़ा)। आयाम सामाजिक बेहतरी से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। जीवन की सामाजिक स्थिति में सुधार का मतलब है कि परिवार का स्थायित्व, आपसी स्नेह संबंध और समाज में एक-दूसरे के काम आने की भावनाएं मजबूत हो। जीवन के सांस्कृतिक पक्ष में सुधार से नैतिक उत्थान जुड़ा हुआ है। दूसरे की भलाई की बात सोचना ही सामाजिक नैतिकता का मूल आधार है। जीवन के समग्र विकास के पक्षधर समाजवैज्ञानिकों की राय में अनेक विकसित देश सही अर्थों में विकसित नहीं हैं, क्योंकि वहां लोग दूसरे के हित की बात कम, अपने स्वार्थ की बात ज्यादा सोचते हैं।

इस प्रकार जीवन के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार विकास-प्रक्रिया पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे पर असर डालने वाली बदलाव की प्रक्रिया है। आधुनिक दृष्टि से, विकास का मतलब किसी समाज की पूरी व्यवस्था को सुनियोजित तरीके से प्रेरित कर सर्वांगीण अपेक्षित लक्ष्यों की ओर ले जाना है। अब ''विकास के समाजशास्त्र'' की दो दिशाएं हैं-आंतरिक ढांचे का विश्लेषण और ऐतिहासिक परंपरा की पहचान। इस अध्ययन से हम सामाजिक विकास के निम्नलिखित तरीकों तक पहुंचते हैं।

सामाजिक विकास के विभिन्न तरीके

विकास के तरीकों को निम्नलिखित आधारों पर अलग-अलग किया जा सकता है; 1. विकास योजनाओं और संसाधनों का केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण, 2. विकास की इकाई अर्थात् विकास का केंद्र बिंदु–व्यक्ति, समूह, गांव आदि। पहले आधार से दो तरीके जुड़े हैं: (i) शिखर से विकास और सबसे निचले स्तर से विकास। दूसरे आधार से तीन तरीके जुड़े हैं–कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास, इलाके के आधार पर विकास और लक्ष्य-समूह का विकास। अब हम इन पांच तरीकों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं।

1. *शिखर से विकास:* शिखर से विकास का मतलब है कि प्रशासन की सर्वोच्च या केंद्रीय सत्ता विकास योजना बनाएं और उसे कार्यान्वित करे। अर्थात् केंद्रीय संगठन विकास की प्रकृति और दिशा निर्धारित करे, परियोजनाएं बनाए और उन्हें जनता पर लागू करें। उदाहरण के लिए, राजधानी में बैठे मंत्री और अधिकारी गांव के लोगों की समस्याओं को पूरी तरह समझे बिना उनके लिए विकास योजनाएं बनाते हैं।

   इस तरीके में यह मान्यता निहित है कि जिन लोगों का विकास किया जाना है, वे अपनी जरूरतें समझने, स्वयं विकास योजनाएं बना पाने और उन्हें लागू कर पाने में अक्षम हैं। इसलिए उनके विकास के लिए बाहरी एजेंसियों और विशेषज्ञों की जरूरत है। वास्तव में यह मान्यता बेबुनियाद है। सत्ता के शिखर पर बैठे संभ्रात जानें की इस मान्यता की पीछे उनके निहित स्वार्थ हैं। उनका मुख्य स्वार्थ संसाधनों पर अपना नियंत्रण बनाये रखना और उन्हें अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करना है। जनता के पास इन विकास योजनाओं को स्वीकार करने के सिवाय कोई चारा नहीं होता क्योंकि उनके पास न तो पर्याप्त निजी संसाधन होते हैं, न विकास के लिए जरूरी सामाजिक संसाधन पर उनका नियंत्रण होता है। परिणाम यह होता है कि सत्ता के शिखर से लागू की गई अधिकांश योजनाओं के अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते।

   अंतर्देशीय और अंतर्राष्ट्रीय सभी मामलों में यही बात होती है। विकास योजनाओं की बड़ी राशि योजना चलाने वालों द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ और कर्मचारी किसी न किसी तरह हड़प लेते हैं। इस तरीके से मुख्य कमी यही है कि इसमें उन लोगों को विकास प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाता, जिन्हें विकास का लाभ मिलना चाहिए। इससे उन लोगों में अलगाव की भावना पैदा होती है। इसलिए इस तरीके को अपनाने से केंद्रीकरण और नौकरशाही का असर काफी बढ़ जाता है।

2. *सबसे निचले स्तर से विकास:* निचले स्तर से विकास के हिमायती विद्वान ये मानते हैं कि जिन लोगों का विकास किया जाना है, उनमें सही-गलत की पर्याप्त समझ और क्षमता होती है। इस तरीके में लोगों का विकास प्रक्रिया से जुड़ाव और उनकी क्षमताओं का उपयोग जरूरी माना जाता है। लोगों को मौका दिया जाता है कि वे अपनी समस्याओं को समझाएं और समाधान का रास्ता बनाएं। उन्हें प्रशिक्षित, समर्थ और अपनी मदद खुद करने लायक बनाया जाता है। सरकारी या स्वयंसेवी संगठनों से प्राप्त अथवा स्थानीय तौर पर जुटाए गए संसाधनों का उपयोग कैसे हो, यह भी जनसामान्य स्थानीय स्तर पर उनके प्रतिनिधियों द्वारा ही निर्धारित होता है। इस तरह, बड़े पैमाने पर विकेंद्रीयकरण और लोगों की ज्यादा भागीदारी होती है।

   हालांकि योजनाकार निचले स्तर से विकास की बात स्वीकार करते हैं और दावा भी करते हैं कि इस तरीके को अपनाते हैं लेकिन व्यवहार में वे शिखर से विकास के तरीके को ही अपनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विकास योजनाओं का कोई फायदा नहीं होता।

3. *कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास:* जैसा पहले कहा जा चुका है, इकाई के आधार पर विकास के तीन तरीके हैं–कार्यक्षेत्र के आधार पर, इलाके के आधार पर और लक्ष्य-समूह के आधार पर। कार्यक्षेत्र के विकास के तरीके में अर्थव्यवस्था के किसी खास क्षेत्र, जैसे कृषि या उद्योग, को लेकर विकास योजनाएं बनायी या लागू की जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में

योजनाकारों ने आजादी के तुरंत बाद उद्योगों के विकास की बात सोची। इसलिए उन्होंने देशी तकनीक के विकास और विदेशों से तकनीक आयात करने की योजनाएं बनायीं। तकनीकी शिक्षा पर जोर दिया गया। स्वतंत्र रूप से तकनीक आयात करने की योजनाएं बनायीं। स्वतंत्र रूप से और अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन आदि देशों के सहयोग से अनेक संस्थान और कॉलेज खोले गए।

दूसरी ओर, कपड़ा, इस्पात सीमेंट जैसे बड़े उद्योगों के लिए धन की व्यवस्था की गयी। बाद में, जब साठ के दशक के प्रारंभ में देश में खाद्य-समस्या पैदा हुई तो योजनाकारों ने कृषि क्षेत्र के विकास की बात सोची। अनेक कृषि विश्वविद्यालय बनाये गए, जिनमें शोध करके ज्यादा उपज वाली किस्मों, कीटनाशकों और खेती के थ्रेशर आदि उपकरणों का विकास हुआ। किसानों को नयी कृषि तकनीक की जानकारी देने और उन्हें इसे अपनाने को राजी करने के लिए विस्तार सेवाएं चलाई गयीं। किसानों को उदारता से ऋण दिए गए। हरित क्रांति के रूप में आप इन उपायों के परिणाम देख चुके हैं। देश अब खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर है।

4. *इलाके के आधार पर विकास:* सभी इलाकों में एक समान विकास नहीं होता। कुछ इलाके ज्यादा समृद्ध होते हैं। कुछ इलाकों में उचित विकास न होने का कारण या तो सड़कें, रेलवे बिजली जैसी बुनियादी सुविधाओं का अभाव हो सकता है या बाढ़ और सूखे जैसी समस्याएं हो सकती हैं। इलाके के विकास के तरीके में किसी खास इलाके में विकास की मूलभूत सुविधाएं जुटाई जाती हैं। भारत में 1974 में शुरू की गई कमांड क्षेत्र विकास योजना ऐसा ही एक उदाहरण है। इस योजना में कुछ क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गयी थी।
5. *लक्ष्य-समूह का विकास:* इस तरीके में किसी खास वर्ग के लोगों पर, जैसे छोटे किसानों, महिलाओं और कृषि-मजदूरों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। छोटे किसानों के विकास की एजेंसी (S.F.D.A) और स्कूल-कॉलेजों तथा रोजगार में अनुसूचित जाति के लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण ऐसे तरीके के उदाहरण हैं। किसी खास गांव या कस्बे का समग्र विकास भी इसी तरीके का हिस्सा है। इसे सामुदायिक विकास का तरीका कहते हैं। इस तरीके में शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों और अन्य आधारभूत सुविधाओं के विकास पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में विकास

सामाजिक-आर्थिक जीवन के सभी पक्षों के लिए विकास योजनाएं बनायी गयी हैं। इन पक्षों में स्वास्थ्य, शिक्षा, जनसंख्या नियंत्रण, उद्योग, परिवहन, सिंचाई, संचार और कृषि आदि शामिल हैं। यहां सभी विकास योजनाओं की सूची देना न संभव है न आवश्यक। हमारा मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता के बाद भारत में चलायी गयी विभिन्न योजनाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना है ताकि पिछले भाग में बताये गए विकास के तरीकों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकें।

आजादी के बाद भारत में पहली बार दुनिया में से किसी तरह की विकास योजनाएं पूरी तरह से लागू नहीं की गयी। अर्थात् न तो अमेरिका की पूंजीवादी नीतियां, न ही सोवियत संघ की

समाजवादी नीतियां अपनायी गयीं। बल्कि इन दोनों नीतियों के बीच की नीति अपनायी गयी। इसे ''मिश्रित'' अर्थव्यवस्था कहते हैं। एक ओर भारत में बिरला-टाटा जैसे बड़े औद्योगिक घरानों और अन्य मंझोले और छोटे उद्यमियों को मौका देकर निजी व्यापार और उद्यमों को बढ़ावा दिया गया, दूसरी ओर, कम से कम सिद्धांत: सभी उद्यमों तथा व्यापारिक गतिविधियों पर करीब-करीब पूरा नियंत्रण रखा गया।

समाजवादी रास्ता और मिश्रित अर्थव्यवस्था

शासन इस्पात और बिजली तैयार करने के भारी उद्योग लगाकर स्वयं एक उद्यमी की भूमिका निभाता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है। रेल और डाक विभाग पर शासन का पूर्ण नियंत्रण है। उन उपायों से विकास का समाजवादी रास्ता अपनाए जाने का पता चलता है। दूसरी ओर, अनेक उद्योग छोटे-बड़े निजी उद्यमियों के लिए आरक्षित हैं। कपड़ा और सीमेंट जैसे क्षेत्रों में शासन और निजी उद्यमी-दोनों सक्रिय हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और परिवहन जैसे कई क्षेत्रों में शासन और निजी एजेंसियां स्वतंत्र रूप से या आपसी सहयोग से काम कर रहे हैं।

यह सच है कि भारत ने ''मिश्रित'' रास्ता अपनाया है पर इसकी असली कार्यप्रणाली के बारे में विद्वानों की राय अलग-अलग है। कुछ की राय में हमारा विकास पूंजीवादी प्रणाली के अनुरूप हो रहा है। शासन द्वारा बड़े उद्योग, वास्तव में, निजी उद्यमियों को मदद देने के लिए ही लगाए गए क्योंकि शासनों ने ऐसे उद्योग चलाए जिनमें मुनाफा कम था, उत्पादन लंबे समय बाद शुरू होता था और पूंजी बहुत लगती थी। इसलिए निजी उद्यमियों में इनके लिए कोई आकर्षण नहीं था। साथ ही, इस बुनियादी उद्योगों के बिना औद्योगिक विकास संभव ही नहीं था। साथ ही, यह भी तर्क दिया जाता है कि अभी भी बड़े उद्योगों का छोटे उद्योगों पर तथा औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र पर दबदबा बना हुआ है। कुछ बड़े व्यापारिक घरानों में आर्थिक सत्ता सिमट कर रह गयी है। कुछ अन्य विद्वानों की राय में समाजवादी रास्ते की ओर हमारा रूझान बढ़ता जा रहा है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से यह बात साबित होती है। इन विवादास्पद तर्कों का अंतिम निपटारा यहां संभव नहीं है। वास्तविकता यही है कि भारत ने विकास का ''मिश्रित'' रास्ता अपनाया है।

संदर्भ:

1. Bottomore, T., 1987, Sociology : A Guide to Problems and Literature (III Edition) Allen and Unwin, London.
2. Broom, L and Selznick, P. 1968, Sociology, (IV Edition). Harper and Row New York.
3. Conklin, J.E., 1984. Sociology : An Introduction, Macmillan : New York.
4. Davis, K., 1981. Human Society, Subject Publications: New Delhi.

वाणिज्य

विदेशी निवेश और विकास की अवधारणा

डॉ॰ फजल अहमद
डॉ॰ इम्तियाज अहमद

वाणिज्य संकाय, गुरू गोविन्द सिंह कॉलेज, पटना सिटी

इस समय दुनिया की वैश्विक अर्थव्यवस्था में विकसित देशों के विकास के लिए प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश (एफडीआई) को आवश्यक माना जा रहा है। एफडीआई दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए न केवल पूंजी का प्रमुख साधन है, वरन् ढांचागत विकास एवं उत्पादकता बढ़ाने का माध्यम भी है। यद्यपि भारत दुनिया में चौथा सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था वाला देश है, लेकिन उसके पास कुल वैश्विक एफडीआई प्रवाह का केवल 0.8 प्रतिशत ही आ पाता है। विकासशील देशों को जो कुल एफडीआई मिलता है भारत से भी कम आ पाता है। ब्राजील, सिंगापुर एवं दक्षिण कोरिया जैसे देशों को भारत से अधिक एफडीआई मिलता है।

पिछले वर्ष की तुलना में इस वर्ष भारत में एफडीआई का प्रवाह संतोषजनक है। वित्त वर्ष 2006-07 के पहले तीन महीनों में भारत में 1.7 अरब डॉलर का एफडीआई आया है, जो पिछले वर्ष की इसी अवधि की तुलना में 47 प्रतिशत अधिक है। चालू वित्तीय वर्ष में खनन और ऊर्जा क्षेत्र में भारी मात्रा में एफडीआई की संभावनाएं उभर रही हैं। दुनिया में विदेशी निवेश पर सबसे अधिक रिटर्न होने की वजह से भारत विदेशी निवेशकों की पहली पसंद बनता जा रहा है। भारत में विदेशी निवेशकों के रिटर्न चीन, मैक्सिको और ब्राजील में प्राप्त हो रहे रिटर्न से अधिक हैं। भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग महासंघ के एक सर्वेक्षण से यह उत्साहजनक परिणाम प्राप्त हुआ है।

उद्योग मंडल फिक्की और कंसलटेंसी कंपनी अर्नस्ट एण्ड यंग की एक ताजा अध्ययन रिपोर्ट में यह निष्कर्ष प्रस्तुत कर कहा गया है कि आने वाले समय में तेजी से फैलती अर्थव्यवस्था के लिए मकान, दुकान और जमीन की बढ़ती मांग के बीच भारत तीन से पांच वर्ष में दुनिया में भू-सम्पत्ति क्षेत्र में निवेश करने वाली कंपनियों के आकर्षण का एक प्रमुख केंद्र होने जा रहा है। रिपोर्ट में उम्मीद जतायी गयी है कि दो से तीन वर्ष में खुदरा क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की भी अनुमति मिल जायेगी। इस रिपोर्ट में व्यावसायिक कार्यालयों, आवास, होटल, खुदरा कारोबार, मनोरंजन और विशेष आर्थिक क्षेत्र योजनाओं के लिए भविष्य में भू-सम्पत्ति में निवेश की संभावनाओं और अवसरों का विश्लेषण किया गया।

भारत में एफडीआई के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी उभर रही है कि विकासशील प्रदेश एफडीआई को तेजी से आकर्षित कर रहे हैं। ऐसोचैम इको पल्स (एईपी) के एक विश्लेषण से एक महत्त्वपूर्ण पहलू उभरकर सामने आया है कि देश में राजधानी नयी दिल्ली और इसके आसपास के शहरों में ही एफडीआई की आवक में पर्याप्त मात्रा में कमी आयी है। अप्रैल 2001 से लेकर मार्च

2006 के बीच जिन नगरों या क्षेत्रों में एफडीआई की मात्रा में कमी आयी है, उनमें नयी दिल्ली, नोएडा, ग्रेटर नोएडा जैसे स्थान शामिल हैं तथा इसके अलावा महाराष्ट्र भी इस मामले में पिछड़ गया है। एफडीआई आवक के मामले में जिन क्षेत्रों की स्थिति सबसे मजबूत है, उनमें पंजाब, हिमाचल प्रदेश, चंडीगढ़ एवं हरियाणा सर्वोपरि हैं।

भारतीय रिजर्व बैंक के आंकड़ों के आधार पर किये गये एईपी विश्लेषण से पता लगा है कि अप्रैल 2001 से लेकर मार्च 2006 के बीच पंजाब, चंडीगढ़ एवं हरियाणा में एफडीआई प्रवाह में 183 प्रतिशत की शुद्ध बढ़ोत्तरी हुई। गौरतलब है कि 2001-02 में इस क्षेत्र में महज 5.93 करोड़ की एफडीआई आयी थी, जबकि 2005-06 में यह 378.16 करोड़ रुपये तक जा पहुंची है। देश में आर्थिक विकास के साथ विदेशी निवेश की बढ़ती हुई जरूरत अनुभव की जा रही है। वर्ष 2002 से 2007 की दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान विदेशी पूंजी निवेश 20 अरब डॉलर होने का लक्ष्य रखा गया है। लेकिन एक ओर भारत में यह लक्ष्य पूरा होना कठिन दिखायी दे रहा है, वहीं दूसरी ओर एक बड़ी जरूरत सामने दिखायी दे रही है। वह यह कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कायाकल्प के लिए अगले पांच वर्ष में 150 अरब डॉलर के विदेशी निवेश की आवश्यकता है। एफडीआई से संबंधित वैश्विक सर्वेक्षणों में भारत के लिए सुनहरी संभावनाएं प्रस्तुत की जा रही हैं। पिछले दिनों कई अंतर्राष्ट्रीय कंसलटेंसी एजेंसियों ने भारत को एफडीआई विश्वास सूचकांक के मामले में दुनिया में नंबर दो का स्थान दिया और अमेरिका से भी आगे रखा। अंकटाड भी भारत को तीसरा सर्वाधिक आकर्षक निवेश गंतव्य देश का स्थान देता है। विदेशी निवेश को आकर्षित करने वाले कई महत्त्वपूर्ण आधार भारत के पास हैं। इनमें विशाल बाजार, बेहतरीन आर्थिक संभावनाएं, एक प्रगतिशील कर व्यवस्था, देश में वैट का लागू होना और अंग्रेजी बोलने वाली नयी पीढ़ी आदि प्रमुख हैं।

इन अनुकूलाताओं के बावजूद भारत एफडीआई में बहुत पीछे है। *'वर्ल्ड इन्वेस्टमेंट रिपोर्ट 2005'* में चर्चा की गयी है कि भारत के मुकाबले चीन में इतना ज्यादा एफडीआई क्यों आ रहा है? रिपोर्ट बताती है कि चीन के पास बुनियादी ढांचा व व्यावसायिक संरचना ज्यादा अच्छी व मजबूत है। चीन में पिछले साल 53 अरब डॉलर का एफडीआई आया। भारत में इसका दसवां भाग भी नहीं आ पाया। कहा गया है कि चीन में बिजली, परिवहन और कार्यप्रणाली की सरलता आदि हमसे काफी उन्नत व बेहतर अवस्था में है। ऐसे में कोई भी विदेशी निवेश करने वाला चीन को प्राथमिकता देना चाहेगा।

देश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की आवक निरंतर बनाये रखने के लिए बुनियादी सुविधाओं की गुणवत्ता, दूरसंचार और परिवहन की उपयुक्तता, राजनीतिक स्थिरता, मूल्यवर्द्धित कर प्रणाली (वैट) का कारगर क्रियान्वयन, सरल श्रम कानून, भ्रष्टाचाररहित व्यवस्थाएं और बौद्धिक सम्पदा अधिकारों का सख्ती से पालन किया जाना जरूरी है। सरकार को सही व्यापार नीति बनाने एवं खासकर निर्यात प्रक्रियाओं में प्रक्रियागत बाधाओं को भी दूर करने की जरूरत है। निवेशकों को प्रोत्साहन भी दिये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त, अच्छे प्रशासन और संचालन से भी स्थिति बदलेगी और बेहतर विदेशी निवेश का माहौल बनेगा। हम आशा कर सकते हैं कि भारत निकट भविष्य में विश्व मानचित्र पर विदेशी निवेशकों के लिए ज्यादा आकर्षक देश के रूप में उभरकर सामने आयेगा तथा विदेशी निवेश से देश के आर्थिक विकास और देश में रोजगार को नयी ऊंचाई मिलेगी।

इस समय देश में विनिवेश संबंधी उलझनें बढ़ती जा रही हैं। विनिवेश का मतलब है सार्वजनिक उपक्रमों की पूंजी का कुछ अंश निजी क्षेत्र एवं जन सामान्य को बेचना। पिछले दिनों यूपीए सरकार

के महत्त्वपूर्ण घटक दल द्रमुक के दबाव के मद्देनजर केंद्र सरकार ने नेवेली लिग्नाइट व नाल्को सहित सभी सार्वजनिक उपक्रमों में विनिवेश के प्रस्तावों को ठण्डे बस्ते में डाल दिया है। नेवेली लिग्नाइट एवं नाल्को में 10-10 प्रतिशत विनिवेश से कोई 2500 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की जा रही थी। इस विनिवेश के बाद पावर फाइनेंस कॉरपोरेशन, एनएमडीसी कोल इंडिया, एयर इंडिया, कॉन्कोर, बीएसएनएल और शिपिंग कॉरपोरेशन में विनिवेश की योजना थी। इसके अलावा हिन्दुस्तान जिंक और मारुति के बचे हुए शेयर बेचे जाने की योजना को भी अंतिम रूप दिया जा रहा था। इन सरकारी उपक्रमों के विनिवेश कार्यक्रम पर अगले आदेश तक के लिए रोक लगने से करीब 18000 करोड़ रुपये उगाहने संबंधी चिंताएं बढ़ गयी हैं। विनिवेश संबंधी रोक से जन कल्याण योजनाओं के क्रियान्वयन और आर्थिक सुधारों पर दूरगामी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका भी दिखायी दे रही है।

गौरतलब है कि विनिवेश के संबंध में यह दूसरा बड़ा फैसला है, जिस पर यूपीए सरकार ने रोक लगायी है। पिछले साल वामपंथी दलों की धमकी के आगे झुकते हुए सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी भेल में दस प्रतिशत हिस्सेदारी के विनिवेश के फैसले पर रोक लगा दी थी। यह बात भी यहां उल्लेखनीय है कि अपनी फायदेमंद और प्रमुख कम्पनियों को बाजार के हवाले करने की नीति सरकार पहले से ही पूरी तरह छोड़ चुकी है। अब बहुत ही सीमित कोई 10 से 15 प्रतिशत विनिवेश का लक्ष्य रखा गया है और यह विनिवेश प्रक्रिया भी खुले बाजार में होनी है।

इतना ही नहीं, विनिवेश के बावजूद कम्पनियों पर पर्याप्त सरकारी नियंत्रण रहने वाला है और कम्पनी के ढांचे में कोई फर्क नहीं आने वाला है। सरकार ने विनिवेश से प्राप्त धन को राष्ट्रीय निवेश कोष में रखने का फैसला जनवरी 2005 में लिया था। इस कोष में आने वाली राशि को निवेश कर उससे अर्जित आय का कुछ हिस्सा बीमार उपक्रमों को पुनर्जीवित करने और बोकी राशि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च करने का फैसला किया गया था। यद्यपि 10वीं पंचवर्षीय योजना में सरकार ने आर्थिक विकास को विनिवेश से जोड़ दिया था, लेकिन विनिवेश के विरोध के कारण इससे विकास योजनाओं के लिए अपेक्षित संसाधन नहीं जुटाये जा सके। अतएव अब 11वीं पंचवर्षीय योजना का दृष्टिकोण पत्र तैयार करते हुए योजना आयोग ने इस बात का ख्याल रखा है कि आर्थिक विकास को विनिवेश से न जोड़कर कृषि विकास और अन्य योजनाओं से जोड़ा जाये।

विनिवेश संबंधी अड़चनों के मद्देनजर वित्तमंत्री पी. चिदंबरम ने पिछले दो बजटों में विनिवेश कार्यक्रम से धन राशि प्राप्त करने का कहीं कोई लक्ष्य नहीं रखा। चिंता इस बात की है कि संसाधनों के अभाव में भी सरकार ने कुछ विशाल सामाजिक योजनाओं- सर्वशिक्षा अभियान, स्कूलों में दोपहर का भोजन कार्यक्रम, राजीव गांधी पेयजल मिशन, सम्पूर्ण सफाई अभियान, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, एकीकृत बाल विकास योजना और जवाहरलाल नेहरू शहरी नवीकरण मिशन का श्रीगणेश कर दिया है। साथ ही, भारत निर्माण कार्यक्रम के लिए भी इस साल के लक्ष्य तय किये गये हैं। वर्ष 2006-07 के बजट में इन सभी कार्यक्रमों के लिए आवश्यकता से बहुत कम बजटीय प्रावधान किया गया है। कुछ योजनाओं में वित्तमंत्री ने जरूरत के मुताबिक ज्यादा धन उपलब्ध कराने का आश्वासन देकर योजना को लागू कर दिया है।

केंद्र सरकार के पास जहां एक तरफ बड़ी-बड़ी घोषित विकास योजनाओं के लिए धन की भारी कमी है, वहीं वित्तीय जवाबदेही और बजट प्रबंधन कानून के चलते राजस्व और राजकोषीय घाटे में

कमी लाना भी जरूरी है। इतना ही नहीं, विश्व बाजार में कच्चे तेल के निरंतर बढ़ते दाम, घरेलू बाजार में जरूरी वस्तुओं की महंगाई के कारण सरकार की वित्तीय कठिनाइयां बढ़ती हुई दिखायी दे रही हैं।

उल्लेखनीय है कि संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार ने सत्ता संभालने के बाद जो विनिवेश नीति तैयार की है, उसमें एक ओर फायदे में चलने वाले सार्वजनिक उपक्रमों में छोटे स्तर पर जनता के निवेश को बढ़ावा देने की बात कही गयी है, वहीं दूसरी ओर अत्यधिक बीमार सार्वजनिक उपक्रमों के विनिवेश से कर्मचारियों के हित संरक्षण के भी प्रावधान हैं। इस नीति के तहत सार्वजनिक उपक्रमों के शेयर बेचकर इनमें शेयर होल्डिंग के आधार को बढ़ाकर पारदर्शिता लाना, शेयरधारकों की उम्मीदों को ध्यान में रखकर सार्वजनिक उपक्रमों में बेहतर कार्यकुशलता लाना, सार्वजनिक उपक्रमों की सरकारी वित्तीय नीतियों के कठोर प्रावधानों से मुक्त करने जैसी बातें शामिल हैं। अंधाधुन्ध विनिवेशीकरण पर न तो राजनीतिक दलों में सहमति है और न ही जनसाधारण में। लेकिन ज्यादातर लोगों का मानना है कि वैश्वीकरण के इस दौर में घाटे में चल रहे या ज्यादा लाभकारी न रह गये उपक्रमों का विनिवेश किया जाना चाहिए। इसमें कोई दो मत नहीं है कि देश की आर्थिक महाशक्ति बनाने के लिए ढेर सारा निवेश जरूरी है और विनिवेश के बगैर निवेश को गति नहीं मिल सकती है। वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा और बड़े निवेश की जरूरत के मद्देनजर चीन ने बड़े पैमाने पर सरकारी उपक्रमों का निजीकरण किया है। हमारे अर्थशास्त्री, प्रधानमंत्री और वित्त मंत्री बार-बार विनिवेश को 'अच्छा अर्थशास्त्र' बता रहे हैं और वे अंतर्राष्ट्रीय मंच पर बार-बार यह कह रहे हैं कि भारत में आर्थिक सुधार और विनिवेश की प्रक्रिया धीमी जरूर लग सकती है, पर यह स्थायी है तथा सरकार के आर्थिक सुधारों व विनिवेश से पीछे हटने का सवाल ही नहीं उठता है।

लेकिन विडम्बना यह है कि देश और दुनिया प्रधानमंत्री और वित्त मंत्री को विनिवेश संबंधी मोर्चे पर बार-बार पीछे कदम हटाते हुए देख रही है। अंत में यहां इंफोसिस के प्रमुख एन.आर. नारायणमूर्ति की विनिवेश संबंधी चिंताओं को उल्लेखित करना उपयुक्त होगा। उनका कहना है कि सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों के विनिवेश संबंधी फैसलों व प्रस्तावों पर रोक लगाना अनुचित है। इससे देश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रवाह बुरी तरह प्रभावित होगा। सार्वजनिक उपक्रमों का विनिवेश कार्यक्रम देश के पूंजी बाजार के विकास में अहम भूमिका निभाने, बीमार उपक्रमों को पटरी पर लाने और जन कल्याण योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधनों की प्राप्ति से जुड़ा हुआ है। इसलिए सरकार एवं उसके घटक दलों को विनिवेश कार्यक्रम पर रोक के फैसले पर तुरंत पुनर्विचार करना चाहिए।

References

- Socio-Economic Development in India/edited by Biswanath Ray
- Collected Essays on Economic Development : In Honour of Prof. Asok Barman-Edited by Debashis Chakraborty and Smita Nath
- Urban Economic Development in India/V.V. Subrahmanyam and R.L. Bawa
- Women and Economic Development/edited by Anita Banerji

वाणिज्य

खाद्य संकट और आयात नीति

डॉ॰ साद बिन हामिद

असिस्टेंट प्रोफेसर, वाणिज्य संकाय, सोघरा कॉलेज, बिहारशरीफ

गेहूं भारत के कुल अनाज उपभोग का करीब 40 प्रतिशत है। लगभग सभी परिवारों के नित्य भोजन में गेहूं का मुख्य स्थान है। इसलिए स्वाभाविक है कि गेहूं की उपलब्धता और उसकी कीमतें हरेक की चिंता का विषय है। सरकार ने पांच लाख टन गेहूं के शुल्क-मुक्त आयात का फैसला किया। यह खासकर दक्षिण भारत में गेहूं की कीमतें चढ़ जाने के कारण किया गया। अप्रैल माह के तीसरे सप्ताह में तीस लाख टन आयात की निविदाएं आमंत्रित की गयीं। जून के तीसरे सप्ताह में सरकार ने निजी क्षेत्र को भी गेहूं का आयात करने की अनुमति देने की घोषणा की। इस आयात की अनेक क्षेत्रों में आलोचना हुई है। आयात-विरोधी प्रदर्शन भी हुए हैं। भारत की खाद्य प्रबंधन कार्यनीति पर सवाल उठाये गये हैं।

भारत की दीर्घकालीन खाद्य प्रबंधन नीति बहुत अच्छी रही है। समस्त विश्व में उसकी प्रशंसा भी हुई है। साठ के दशक के मध्य में संकट की स्थिति बन गयी थी। उस समय नयी कृषि विकास नीति अपनायी गयी, जिसका लक्ष्य उत्पादन बढ़ाना था। यह कार्यनीति बहुत सफल रही। इससे अनाज उत्पादन तेजी से बढ़ा। उत्पाद वृद्धि दर जनसंख्या बढ़ने की दर से भी ऊपर निकल गयी। अनाज उत्पादन में 2.77 प्रतिशत प्रतिवर्ष वृद्धि हुई, जबकि गेहूं में वृद्धि दर 4.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। बाद में नब्बे के दशक में यह वृद्धि दर 3.81 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। मध्यकालिक दृष्टि से भी भारत में खाद्य सुरक्षा परिदृश्य संतोषजनक है। यह बात समझने की जरूरत है कि निर्यात से होने वाली आय को सुनिश्चित करने के लिए किसी-किसी वर्ष आयात भी जरूरी हो जाता है। व्यापार के उदारीकरण के वर्तमान हालात में तदर्थ फैसले करने का परिणाम दुखदायी होता है। यह बात ध्यान रखनी होगी कि निर्यात बाजार में अपनी स्थिति बना पाने में काफी प्रयास और सूझबूझ जरूरी होते हैं। एक बार पहुंच बनाने के बाद निर्यात को नियमित रखना आवश्यक होता है, भले ही निर्यात की जाने वाली मात्रा ज्यादा नहीं हो और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाद में आयात करना पड़े। इस संदर्भ में देखा जाये तो सरकार के (मंत्रिमंडल समिति द्वारा किये गये) दालों का निर्यात रोकने संबंधी फैसले का औचित्य संदिग्ध है। खाद्य सुरक्षा की स्थिति चिंताजनक नहीं होने के बावजूद, उभरते परिदृश्य और वर्तमान नीतियों पर गंभीर चिंतन जरूरी है। अल्पकालिक समस्या यह है कि सरकार पर्याप्त मात्रा में खरीदकर गेहूं का भंडारण नहीं कर सकी है। ज्यादा समय नहीं हुआ जब 2002-03 में समस्या इससे बिल्कुल उलटी थी। सरकार ने किसानों की सहायता करने के लिए सरकारी खरीद बहुत ज्यादा कर ली थी। 5 करोड़ टन अनाज के भंडारण की समस्या बन गयी थी। उस समय भी खाद्य प्रबंधन व्यवस्था की आलोचना की गयी थी।

ऐसी अल्पकालिक समस्याएं सामने आती हैं और सरकार उन्हें प्रभावी ढंग से सुलझा पाने में हमेशा विफल रहती है। आर्थिक उदारीकरण के माहौल में अल्पकालिक खाद्य प्रबंधन के ऐसे फैसलों का महत्त्व और अधिक बढ़ जायेगा। मांग और आपूर्ति की स्थिति का पूर्वानुमान फरवरी 2006 के काफी पहले ही लग जाना चाहिए था। ऐसे पूर्वानुमान नियमित ढंग से लगाना आवश्यक हो गया है। अगर कुल उपलब्धता मांग से कम हो, तो आयात की घोषणा कुछ पहले या बाद में की जाये, ताकि गेहूं की फसल के बाजार में आने के समय उस पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े। उदारीकरण के दौर में हड़बड़ी में गलत समय पर निर्णयों से बचने के लिए बाजार में मांग और आपूर्ति, भंडारों की स्थिति और निजी व्यापारियों की खरीद-फरोख्त आदि की सूचना की व्यवस्था को भी मजबूत किये जाने की जरूरत है। यह उपयुक्त अवसर है कि सरकार खाद्य प्रबंधन के फैसले करने के लिए सार्वजनिक रूप से उत्तरदायी विशेषज्ञों का एक स्वतंत्र निकाय बनाये। कृषि लागत और मूल्य आयोग का पुनर्गठन किया जाये। इस आयोग को कानूनी दर्जा दिया जाये और आयोग की सिफारिशों के अनुसार समर्थन मूल्य की घोषणा की जाये। आयोग कृषि मूल्य नीति और कृषि व्यापार नीति को मिलाकर एक समन्वित मूल्य और व्यापार नीति की सिफारिश करे।

खाद्यान्न संकट

आबादी 1.7 प्रतिशत की दर से बढ़ी, पर गेहूं के उत्पादन में ठहराव: खाद्यान्न संकट और महंगाई की आशंका पहले से थी, क्योंकि सरकार का ध्यान खेती पर था ही नहीं। देश की आबादी 1.7 प्रतिशत की दर से बढ़ रही थी, लेकिन गेहूं का उत्पादन पिछले दस साल जितना होता था, उसी के आसपास ठहरा हुआ था और ऊपर से खुले बाजार का असर जिसके कारण सरकार के गोदामों के लिए खरीद नहीं हो पाई कारण यह रहा कि सरकार के बफर स्टाक में कमी आ गई यही कारण है कि सरकार को गेहूं का आयात का फैसला करना पड़ा, फिर भी महंगाई रूक नहीं रही। जब भाव आसमान छू रहे हैं तब सरकार का ध्यान खेती पर गया है। 1984 में खेती का रकवा 13.11 करोड़ हेक्टैयर का था जो कि अब 12.01 हेक्टेयर है। खेती लाभ का सौदा नहीं है इसलिए 40 फीसदी किसानों ने खेती छोड़ कर अन्य काम-धंधे अपनाए हैं। यही कारण रहा कि खेती में निवेश भी कम हुआ। कृषि क्षेत्र में 4 प्रतिशत का निवेश घटकर 2 प्रतिशत रह गया है। 1950 में भारत के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि की भागीदारी आधे से अधिक 56.89 प्रतिशत थी जो कि 2001 में एक चौथाई 24.90 प्रतिशत पर टिक गई। यही हाल देश की खेती की उपेक्षा दर्शाता है कि हम लगातार खेती को घाटे का सौदा बनाते गए जिससे किसान आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं। 1992-97 के दौर में देश की जीडीपी 6.7 थी तब कृषि सेक्टर का योगदान 4.7 प्रतिशत था अब 2006-07 में देश की विकास दर 9.2 हुई तो कृषि सेक्टर का योगदान घटकर 1.5 प्रतिशत पर आ गया।

कृषि उत्पादन में भी 1.7 प्रतिशत की गिरावट दर्ज हुई 2006-07 में 217.3 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन हुआ जो कि 219.3 मिलियन टन के उत्पादन की संभावना से बहुत ज्यादा नहीं है। खरीफ का उत्पादन 5.2 मिलियन टन बढ़ने की संभावना है जबकि रबी का उत्पादन 3.3 मिलियन टन कम होने की संभावना है। दलहन के क्षेत्र में कोई बढ़ोतरी की उम्मीद नहीं की जा रही है। तिलहन में थोड़े सुधार की गुंजाइश है। सरकार ने यह भी माना कि घरेलू कीमतें जो खाद्यान्न में बढ़ी उसके लिए उत्पादन घटना भी एक कारण रहा। 2006-07 से ही आपूर्ति के मोर्चे पर गेहूं, दालों, खाद्य तेलों

की कमी आई। इस वजह से महंगाई बढ़ी। गेहूं का उत्पादन पिछले दस सालों से सात करोड़ टन पर टिका है जबकि आबादी 1.7 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। अमेरिकी कृषि विभाग ने भारत को अपने घरेलू खपत के लिए 7.6 करोड़ टन की जरूरत बताई जबकि पैदावार उसके अनुरूप नहीं हुई।

सरकार ने कमी को दूर करने के लिए 136 डालर, 159 डालर, 239 डालर, फिर 345 डालर प्रति टन की दर से गेहूं खरीदा। और सरकार ने 30 लाख टन गेहूं आयात किया 50 लाख टन गेहूं आयात किए जाने का फैसला किया। 2008-09 में 280000 करोड़ रुपए का लक्ष्य लेकर सरकार का ध्यान खेती में निवेश को बढ़ाने का है जिससे 4 प्रतिशत के जीडीपी तक पहुंच सके। सरकार की नींद तब खुली जब पूरी दुनिया कहने लगी कि भारत में खाद्यान्न को लेकर मारामारी भी हो सकती है। खेती में निवेश का हाल यह रहा कि 1980 में 7301 करोड़ रुपए से 1990 में 4992 करोड़ और अब 2001 में 4520 करोड़ रुपये का निवेश रह गया। निवेश लगातार घटता गया और किसान परेशान होते गए। आजादी के समय तीस करोड़ की आबादी थी और लोगों के लिए अनाज पूरी नहीं हो पाता था। हम दूसरे देशों से खाद्यान्न के मामले में आयात पर निर्भर थे।

1950 में 5.1 करोड़ टन खाद्यान्न उत्पादन से बढ़कर 2005 में 19.5 करोड़ टन पर पहुंच गया लेकिन इसके बावजूद अभी भी विदेश से मंगाए गए गेहूं से काम चला रहे हैं। 1998-99 में राजग के शासन में गेहूं का सर्मथन मूल्य 550 रुपए प्रति क्विंटल रखा गया था लेकिन तब खाद्यान्न संकट पैदा नहीं हुआ। 2004 में 630 रुपए, 2006 में 850 रुपए और 2007 में 1000 रुपए का समर्थन मूल्य होने के बावजूद गेहूं बाहर से आयात करना पड़ रहा है। सबसे बड़ी समस्या गेहूं खरीद की है। सरकारी खरीद न हो पाने के कारण मुश्किल है। 2005-06 में 180 लाख टन के लक्ष्य में 147.85 लाख टन खरीद हो सकी। यह सिर्फ 82 प्रतिशत थी। 2006-07 में 162.87 लाख टन में से 92.31 लाख टन की खरीद हो सकी जो कि 57 प्रतिशत थी। सरकारी खरीद न हो पाने के कारण गेहूं का संकट बना हुआ है। बाजार की जरूरत और बफर स्टॉक बनाए रखने के लिए आयात करना पड़ रहा है। एक जनवरी 2007 को 82 लाख टन के बजाय 54.28 लाख टन गेहूं बफर स्टॉक में था। चावल 82 लाख टन के मुकाबले 119 लाख टन था। खाद्यान्न का बफर स्टॉक 200 लाख टन के बजाय 174 लाख टन रह गया। सरकार की ओर से कभी यह ध्यान नहीं रखा गया कि बफर स्टॉक कम क्यों हो रहा है और सरकार के गोदाम में अनाज क्यों नहीं आ रहा है। दसवीं योजना 2002 से 2007 में कृषि उत्पादन की दर 4 प्रतिशत की दर से बढ़ी लेकिन योजना के पहले तीन साल में 1.5 प्रतिशत वृद्धि दर नहीं हो सकी। खेती को लेकर उदासीनता का आलम यह है कि 1. 4 करोड़ हेक्टेयर पर कृषि क्षेत्र ठहरा हुआ है।

References

- ICTs and Indian Economic Development : Economy, Work, Regulation-Edited by Ashwani Saith and M. Vijayabaskar
- Human Development and Economic Development/edited by Ruddar Datt
- A New Institutional Approach to Economic Development-Edited by Satu Kahkonen and Mancur Olson
- Central Asia in Transition: Dilemmas of Political and Economic Development -Edited by Boris Rumer

वर्तमान समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन

डॉ॰ दीपाली सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, डी.डी.एम. कॉलेज, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाले तत्वों में 'गुटनिरपेक्षता' (Non-alignment) का विशेष महत्व है। महाशक्तियों के गुटबाजी से अलग गुटनिरपेक्ष आंदोलन का सूत्रपात 1956 में हुआ। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और तत्कालीन यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो इस आंदोलन के संस्थापक एवं प्रेरणास्रोत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का दौर एशिया एवं अफ्रीका के तमाम देशों के लिए बड़ा ही चुनौतीपूर्ण था। एक ओर कई देश (उपनिवेशवाद) आजादी के लिए लड़ रहे थे और कइयों को आजादी अभी-अभी मिली ही थी, तो दूसरी ओर दुनिया दो गुटों में बंट गई थी - पूंजीवादी देशों का नेतृत्व अमेरिका के हाथ में था तथा सोवियत संघ साम्यवादियों का नेतृत्वकर्त्ता था। दोनों गुट इन विकासशील देशों को अपने-अपने पाले में करने का प्रयास कर रहे थे। कई सैन्यगुट भी अस्तित्व में आ गए थे। इन देशों के सामने स्वतंत्रता बनाये रखने, अपना आर्थिक और वैज्ञानिक विकास करने एवं जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने की चुनौतियां थीं। ऐसे समय में भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को सामने रखा। आज तो साम्यवादी और पश्चिमी गुटों में भी दरारें पड़ना शुरू हो गया है और इन गुटों से विलग होकर अनेक राज्य गुटनिरपेक्ष आंदोलन में सम्मिलित होते जा रहे हैं। डॉ. एम.एस. राजन के शब्दों में, ''कोई देश जब एक बार गुटनिरपेक्षता की नीति अपना लेता है तो आमतौर से गुटनिरपेक्ष ही बना रहता है। दूसरी ओर कुछ देश ऐसे भी हैं जो साम्यवादी अथवा गैर-साम्यवादी गुट के साथ बंधे हुए थे पर बाद में गुट के बंधन से मुक्त होकर गुटनिरपेक्षता के रास्ते पर आ गए। (इनके उदाहरण हैं क्यूबा, ईराक और यूगोस्लाविया)''

गुटनिरपेक्षता शब्द जिस नीति अथवा दृष्टिकोण का द्योतक बन गया है उसका बोध कराने के लिए यही एकमात्र शब्द नहीं है और न यह सबसे संतोषजनक शब्द ही है। यह शब्द शायद जवाहरलाल नेहरू ने गढ़ा था और वे भी इससे बहुत प्रसन्न नहीं थे क्योंकि इस शब्द में प्रकटतः एक निषेधात्मक ध्वनि है। गुटनिरपेक्षता 'अप्रतिबद्धता', 'असम्पृक्तता', 'तटस्थता', 'तटस्थतावाद', 'गतिशील तटस्थता', 'स्वतंत्र और सक्रिय नीति' और 'शांतिपूर्ण सक्रिय सह-अस्तित्व' भी कहा जाता है। डॉ. एम.एस. राजन के अनुसार, ''इनमें से कुछ शब्द और शब्दबंध तो केवल 'अर्थजाल' के द्योतक हैं और यह जाल गुटनिरपेक्षता के ऐसे आलोचकों ने बुना है जिन्हें या तो इससे सहानुभूति नहीं रही या जिन्हें इसके बारे में पूरी जानकारी नहीं रही-भले ही कभी-कभी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रवक्ता और उनके समर्थक भी इन शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं।''

जॉर्ज श्वार्जनबर्गर ने गुटनिरपेक्षता को स्पष्ट करने के लिए उससे संबंधित छः अर्थों की व्याख्या की है और गुटनिरपेक्षता को इन सबसे भिन्न बतलाया है। ये छः धारणाएं हैं - अलगाववाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षवाद और असंलग्नता।

अलगाववाद (Isolationasim) ऐसी नीतियों का समर्थन करता है जिनसे राष्ट्र विश्व राजनीति में कम से कम भाग ले या उससे बिल्कुल अलग रहे। अप्रतिबद्धता (Non-Commitment) का अभिप्राय है किन्हीं दो अन्य शक्तियों से समान संबंध रखते हुए उनमें से किसी एक के साथ पूरी तरह से प्रतिबद्ध न होना। तटस्थता (Neutrality) एक देश की वह कानूनी एवं राजनीतिक स्थिति है जो किसी युद्ध के दौरान दोनों की योद्धा राष्ट्रों में से किसी के भी साथ युद्ध में संलग्न होने की अनुमति नहीं देता। तटस्थीकरण (Neutralisation) अर्थात् देश हमेशा के लिए तटस्थ है और अपनी तटस्थीकृत स्थिति को कभी भी नहीं छोड़ सकता है। स्विटजरलैंड इसी स्वरूप के राज्य का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। एकपक्षवाद (Unilateralism) इस सिद्धांत का हामी है कि प्रत्येक देश को निःशस्त्रीकरण जैसे आदर्शों का पालन करने की नीति अपनानी चाहिए और ऐसा करने में इस बात पर बिल्कुल ध्यान नहीं देना चाहिए कि अन्य देश भी ऐसा करते हैं या नहीं। असंलग्नता (Non-envolvement) विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य हो रहे संघर्ष से उत्पन्न खतरों को समझने पर जोर देती है और यह बताती है कि हमें इस संघर्ष से अलग रहना चाहिए।

गुटनिरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबंदी में सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बंधना, हर प्रकार की आक्रामक संधि से दूर रहना, शीत युद्ध से पृथक रहना और राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना।

गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है?

गुटनिरपेक्षता का स्वरूप हरेक को हृदयंगम कराने के लिए 'गुटनिरपेक्षता क्या है?' के साथ-साथ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है?

प्रथम, गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय मामलों अथवा अन्य देशों के प्रति निषेधात्मक नीति या दृष्टिकोण नहीं है। इसके विपरीत, गुटनिरपेक्षता एक सकारात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है। ऐसी नीति की, जिसका ध्येय सभी राष्ट्रों में शांति और सहयोग को बढ़ावा देना है। डॉ. अप्पादोराई के शब्दों में, ''स्वतंत्र विदेश नीति एवं तटस्थता एक ही बात नहीं है। यदि कभी कहीं युद्ध होता है तो इस नीति की मांग होगी कि अपने स्वतंत्रता एवं शांति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भारत स्वतंत्र राष्ट्रों का साथ दे। यह एक नकारात्मक नीति नहीं है, यह सकारात्मक है जिसका उद्देश्य समविचारवादी राष्ट्रों के साथ मिलकर शांति, स्वतंत्रता और मैत्री के उद्देश्य प्राप्त करना और अपना तथा अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास करना है।''

द्वितीय, गुटनिरपेक्षता व्यापक महायुद्ध के समय लड़ाई में हिस्सा न लेने वाले देश की 'तटस्थता' नहीं है। यह स्विट्जरलैंड अथवा आस्ट्रिया की तरह की 'तटस्थता' नहीं है जिसकी गारंटी अन्य राष्ट्रों ने संधि के द्वारा दी थी। बहुत से गुटनिरपेक्ष राष्ट्र संभवतः जवाहरलाल नेहरू की इस बात से अवश्य सहमत होंगे जो उन्होंने भारत के सदर्भ में कही थी और जिसकी गूंज दूर-दूर तक हुई थी, ''जहां

स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा होता है, या न्याय पर आंच आने लगती है, या कोई देश दूसरे पर आक्रमण कर देता है, वहां न तो हम तटस्थ रह सकते हैं, न रहेंगे।''

तृतीय, गुटनिरपेक्षता नि:संगत्तावाद नहीं है बल्कि प्राय: सभी गुटनिरपेक्ष राष्ट्र विश्व राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। नरेश नोरोदम सिंहानुक ने बेलग्रेड सम्मेलन में कहा था, ''गुटनिरपेक्षता में अंतर्राष्ट्रीय जीवन का एक गतिशील स्वरूप परिलक्षित होता है, यह अस्वस्थ और निष्क्रिय अंतर्मुखी प्रवृत्ति है।''

चतुर्थ, गुटनिरपेक्षता का अर्थ किनारे बैठ जाना नहीं है। यह मानना गलत होगा कि गुटनिरपेक्ष देशों को विश्व राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं होती या वे समय के ज्वलंत प्रश्नों के प्रति उदासीन होते हैं। यह काम निकालने या अवसरवाद की नीति नहीं है।

पंचम, गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय मामलों के प्रति न्यायाधीश जैसी निरपेक्षता की द्योतक नहीं है, गुटनिरपेक्ष राष्ट्र विश्व राजनीति के खेल में निर्णायक की भूमिका की तलाश में नहीं रहते। वे तो स्वयं सक्रिय खिलाड़ी होते हैं, अत: यह संभव नहीं होता कि वे निर्णायक भी बन जाएं। वे प्रत्येक प्रश्न अथवा स्थिति के संदर्भ में उसके गुण-दोषों के आधार पर निष्पक्ष निर्णय देने का प्रयत्न करते हैं। परंतु निर्णय दे देने के बाद वे निष्पक्ष नहीं रह जाते क्योंकि तब वे एक न एक पक्ष का साथ अवश्य देते हैं।

षष्टम, गुटनिरपेक्षता आत्मोत्सर्ग भी नहीं है और गुटनिरपेक्ष राष्ट्र 'परोपकारी' नहीं होते। गुटनिरपेक्षता भी उतनी ही राष्ट्रहितपरक नहीं है जितनी गुटबद्धता है।

सप्तम, गुटनिरपेक्षता कोरी कल्पना अथवा कोरे सिद्धांतों पर आधारित नहीं है। बल्कि यह तो एकदम व्यावहारिक नीति है - कम से कम उतनी व्यावहारिक तो है ही जितनी कि गुटबद्धता की नीति। इसका उद्भव अंतर्राष्ट्रीय समाज की यथार्थताओं में हुआ है और वही इसका आधार है।

अष्ट्म, जिन देशों ने गुटनिरपेक्षता का रास्ता चुना है वे सदा सर्वदा के लिए अथवा कैसी भी परिस्थितियों में इसी नीति पर चलने के लिए बंध नहीं गए हैं। अल्जीरिया के प्रधानमंत्री बिन विल्लाह ने स्पष्ट कहा था, ''हम किसी से भी बंधे नहीं, गुटनिरपेक्षता से भी नहीं।''

नवम्, गुटनिरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देने का एकमात्र साधन नहीं है हालांकि यह अधिकांश अन्य साधनों से अधिक उपयुक्त है। इसी तरह गुटनिरपेक्ष देश अंतर्राष्ट्रीय शांति के अनन्य संरक्षक अथवा उन्नायक होने का दावा नहीं करते।

दशम, गुटनिरपेक्षता कोई एकान्तिक नीति नहीं है। यह किसी अन्य राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह के साथ मैत्री और सहयोग का रास्ता नहीं रोकती।

एकादश, गुटनिरपेक्षता का लक्ष्य किसी विचारधारा, गुट अथवा राष्ट्र का विरोध करना नहीं होता और इस दृष्टि से यह गुटबद्धता से सर्वथा भिन्न है। इसका ध्येय सभी राष्ट्रों के साथ शांति और मैत्री को बढ़ावा देना है - चाहे उनमें कैसी भी राजनीतिक अथवा वैचारिक मतभेद क्यों न हो।

अंतत: गुटनिरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्ष देश किसी 'तीसरी शक्ति' के द्योतक नहीं हैं, न उनका ध्येय (दो वर्तमान गुटों के विरुद्ध) किसी तीसरे शिविर अथवा राष्ट्रों के गुट की उद्भावना करता है। ऐसा ध्येय तो गुटनिरपेक्षता के आधार के ही विरुद्ध होगा।

अब सवाल उठता है कि गुटनिरपेक्षता एक नीति है अथवा मनोवृत्ति और दृष्टिकोण है या वह नीति के किन्हीं निर्दिष्ट साध्यों को बढ़ा देने का साधन है? डॉ. एम. एस. राजन के अनुसार, 'यह तीनों का सम्मिलित रूप है।'

गुटनिरपेक्षता एक नीति है (Non-alignment is a policy)—गुटनिरपेक्ष रहा जाए या न रहा जाए- यह आधारभूत नीति का प्रश्न है; और इसका निर्णय प्रत्येक देश को अपने लिए अपने हितों और उद्देश्यों की दृष्टि से करना पड़ता है। यदि गुटनिरपेक्षता का आधार प्रभुसत्ता, स्वतंत्रता और राज्यों की समता है, तो यह तर्क दिया जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता को स्वीकार या अस्वीकार करना उस आधारभूत स्थिति का एक पक्ष ही है, इसलिए इसके साथ नीति का कोई नया प्रश्न जुड़ा हुआ नहीं है। पर चूंकि प्रभुसत्ता, स्वतंत्रता और समता कोई निरपेक्ष गुण नहीं हैं बल्कि सापेक्षिक हैं, इसलिए किसी भी राज्य को-विशेषत: यदि उसे नयी-नयी स्वतंत्रता मिली हो-यह करना रह जाता है कि किसी स्थिति विशेष में ये गुण कितने सापेक्षिक हो सकते हैं या होने चाहिए। इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता को एक नीति मान सकते हैं।

गुटनिरपेक्षता एक दृष्टिकोण है (Non-alignment is an approach)—जब एक बार गुटनिरपेक्षता को एक नीति के रूप में अपनाने का निर्णय कर लिया जाता है तब इस नीति को अपनाने वाले राज्य में अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं और स्थितियों के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण और विचार-पद्धति लक्षित होने लगती है और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में उसके व्यवहार का एक निश्चित प्रतिमान बन जाता है। कम से कम दूसरे देश उससे यही आशा करने लगते हैं चाहे वे गुटबद्ध हों या गुटनिरपेक्ष हों। एक विचारधारा के अनुसार, गुटनिरपेक्षता एक सुनिर्दिष्ट राजनीतिक दर्शन है, एक सिद्धांत परंपरा है अथवा विश्व के बारे में एक वैचारिक दृष्टिकोण है, 'समसामयिक शक्ति प्रधान राजनीति और हित क्षेत्रों से संबंधित संकल्पना पद्धति से अलग पहचाना जा सकता है।

गुटनिरपेक्षता एक साधन है (Non-alignment is a means)— गुटनिरपेक्षता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कोई राज्य अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों को बढ़ावा दे सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी राज्य को अपने बजट में प्रतिरक्षा के लिए भारी खर्च की व्यवस्था करनी पड़ती है और फिर भी वह बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास को बढ़ावा देना चाहता हो तो वह निर्णय कर सकता है कि उसे गुटबद्ध रहने में फायदा है या गुटनिरपेक्ष रहने में।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता शांति की नीति है। यह युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, बल्कि यह मानती है कि इसके द्वारा युद्ध रोके जा सकते हैं। गुटनिरपेक्षता का सार तत्व अंतर्राष्ट्रीय मामलों में नीति और कार्यवाही की स्वतंत्रता का व्यावहारिक प्रयोग है, इसलिए यह तर्क युक्ति-युक्त होगा कि गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का कोई और कारण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिलिप्पीनी राजनयिक कार्लोस पी. रोग्यूलो के अनुसार, ''गुटनिरपेक्षता समकालीन राष्ट्रवाद का एक पक्ष मात्र है और यह एक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आंदोलन है जो पूर्व बनाम पश्चिम अथवा लोकतंत्र बनाम साम्यवाद के परंपरागत ढंग से परे की चीज है।''

सदस्यता की शर्तें (Conditions for the membership of NAM)— गुटनिरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बनने के लिए पांच मानदंड निर्धारित किए गए हैं। ये मानदंड जून 1961 में काहिरा में

21 राष्ट्रों की तैयारी बैठक में तय किए गए थे। इन मानदंडों के अनुसार किसी भी गुट निरपेक्ष देश के लिए 'स्वाधीन नीति' का अनुसरण करना जरूरी नहीं है। यदि वह इस प्रकार की नीति के पक्ष में अपना रवैया जाहिर कर सके तो उतना ही काफी है। इसे निरंतर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आंदोलनों का समर्थन प्रदान करना चाहिए। किस हद तक और किस रूप में यह समर्थन हो, इसे अपरिभाषित छोड़ दिया गया है। तीसरा मानदंड सैनिक गठबंधनों की सदस्यता से संबंधित है अर्थात् गुटनिरपेक्ष समझे जाने के लिए किसी देश को बहुपक्षीय सैनिक गठबंधन सदस्य नहीं होना चाहिए। चौथा और पांचवां शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता है अथवा वह देश क्षेत्रीय सुरक्षा संधि का सदस्य है तो यह समझौता या संधि जानबूझकर बड़ी शक्तियों के संदर्भ में नहीं होनी चाहिए।

संदर्भ सूची:

1. एम.एस. राजन, गुटनिरपेक्षता : भारत और भविष्य पृ. 1
2. George Schwarzen-berger, 'The Schope for Neutralism', Year Book of World Affairs, 1961 (London). PP. 233, 245
3. Jawaharlal Nehru's Speeches, 1947-4953 (Delhi, 1957) Vol. II, P. 125
4. M.S. Agwani, Detente, 1975, Preface
5. वेदप्रताप वैदिक, 'भारतीय विदेश नीति' पृ. 125
6. महेन्द्र कुमार, 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष', 1977, पृ. 347
7. A.P. Rane "Detente and Non-alignment : A Conceptual Study" in M.S. Agwani, ed., Detente, 17975, PP. 180
8. डॉ. बी.एल. फाड़िया, ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति'' पृ. 480-488
9. प्रतियोगिता किरण, नवम्बर, 1998 पृ. 10
10. चाणक्य सिविल सर्विसेज टुडे, नवंबर, 2008 पृ. 89, 90
11. दैनिक जागरण, 28 जून 2007

भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता
वर्तमान चुनौतियां

डॉ॰ शेफाली सिंह

शोध छात्रा, बी.बी.ए. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारतीय संविधान के निर्माताओं के समक्ष यह सवाल प्रमुखता से उठा था कि शासन का स्वरूप कैसा हो और संविधान में धर्म का स्थान क्या हो। संविधान निर्माताओं ने इस बात पर बल दिया कि शासन किसी एक धर्म से नियंत्रित नहीं हो। इसलिए धार्मिक सद्भाव और सहिष्णुता की वकालत की गई। एक सोच और चिन्तन विकसित हुआ जिसे सेक्यूलर नाम दिया गया। यह सेक्यूलर या सेक्यूलरिज्म शब्द पश्चिमी समझ से भिन्न संदर्भ में व्याख्यायित हुआ। इसका मतलब सर्व धर्म समभाव माना गया अर्थात् सहिष्णुता तथा सभी धर्मों के प्रति समानता का भाव तथा आदर कहा गया। 1961 में सांसद रघुनाथ सिंह द्वारा लिखित एक पुस्तक की भूमिका में पं॰ नेहरू ने लिखा – ''मुझे लगता है कि सेक्यूलरवाद शब्द का अनुवाद धर्मनिरपेक्ष करने से समस्याएं पैदा हो रही हैं। भ्रम पैदा हो रहा है। यह अनुवाद सही नहीं हैं फिर उन्होंने कहा कि सेक्यूलरवाद का एक ही अर्थ है कि राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। और राज्य किसी भी धर्म के प्रति भेदभाव या पक्षपात नहीं करेगा।''

आजादी आने के बाद हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत की धार्मिक सद्भावना और सहिष्णुता का परिचय दिया। धार्मिक तटस्थता भारतीय संविधान का अंग बनी। संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 27 एवं 28 में धर्म स्वातंत्र्य के अधिकारों का उल्लेख किया गया। अनुच्छेद 25 में प्रत्येक व्यक्ति को अन्त:करण की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया। अनुच्छेद 26 में धार्मिक समुदाय एवं सम्बद्ध शाखाओं को प्रबन्ध की स्वतंत्रता दी गई। अनुच्छेद 27 और 28 के द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राज्य किसी भी धर्म को अपनी ओर से प्रोत्साहित नहीं करेगा। धार्मिक प्रयोजनों के लिए किसी को कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। तथा राजकीय शिक्षण संस्थानों में धार्मिक शिक्षा भी नहीं दी जाएगी। अनुच्छेद 30 में धार्मिक तथा भाषिक अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर उन्हें चलाने का अधिकार दिया गया। अनुच्छेद 325 द्वारा साम्प्रदायिकता के आधार पर अलग-अलग मतदाता संघ समाप्त कर दिए गए। हमारे संविधान में जिस सेक्यूलरिज्म को अपनाया गया है, उसके तीन प्रमुख पहलू हैं।

(1) देश की शासन व्यवस्था किसी धर्म पर आधारित नहीं होगी।

(2) सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार होगा, चाहे वे किसी भी धर्म को मानते हैं।

(3) किसी भी धर्म या पंथ में आस्था रखना और तदनुसार पूजा-अर्चना करने की पूर्ण आजादी।

धर्मनिरपेक्षता के बारे में स्थिति स्पष्ट करते हुए तथा संविधान में इसे किस रूप में लिया गया है इसे स्पष्ट करते हुए संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने कहा था : ''धर्मनिरेपक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावना की ओर ध्यान नहीं देंगे।

इसका अर्थ केवल इतना है कि संसद देश के लोगों पर कोई विशेष धर्म लादने का अधिकार नहीं रखती। यही एक परिसीमा संविधान स्वीकार करता है।''

भारतीय संविधान में 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1976 में पारित हुआ जिसमें संविधान की प्रस्तावना में धारा 2 द्वारा सेक्यूलर शब्द जोड़ दिया गया। सेक्यूलर शब्द का रूपान्तर संविधान की हिन्दी प्रति में 'पंथ निरपेक्षता किया गया। वहाँ धर्मनिरपेक्षता शब्द नहीं लिखा गया है। इस संशोधन के पूर्व यह सोच विकसित की गयी थी, किन्तु लिखा नहीं गया था।

सर्व धर्म समभाव की भावना सभी धर्मों में पाई जाती है। सृष्टि के प्रारंभ से ही हमारे देश में समानता, सौहार्द्रता, सौमनस्यता और सौजन्यता का पाठ पढ़ाया जाता रहा है। हमारे सभी प्राचीन ग्रन्थ न केवल सर्व धर्म समभाव की शिक्षा देते हैं, अपितु वे सम्पूर्ण विश्व को ही एक परिवार मानते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की यह हमारी अवधारणा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'एकैव मानुषी जाति:'। सभी मानवों की एक ही जाति है, सब एक ही हैं। ऋग्वेद आगे कहता है - अमृतस्य पुत्रा:' सभी प्राणी परमपिता परमेश्वर की सन्तान हैं। इसलिए वेद में कहा गया है - 'एकम् सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति।' सत्य एक ही है पर ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आदेश दिया गया है कि 'हम साथ-साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा हमारे मनोभाव समान हों। यजुर्वेद में कहा गया है कि 'मित्र की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व को देखें। अथर्ववेद में कहा गया है - भिन्न-भिन्न धर्म वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोगों को धारण करनेवाली यह पृथ्वी सभी का एक शान्तिमय निवास स्थान है। वह सबका कल्याण करे। 'हे पृथ्वी माता, हम तुम्हारे बच्चे हैं। हमें यह क्षमता दो कि हम एक दूसरे के साथ सौहार्द्र से रह सकें एक दूसरे के साथ मधुर वाणी बोलें।'

इस प्रकार परस्पर को जानने की सह-अस्तित्व और सहिष्णुता की दार्शनिक भूमिका, हमारे देश के प्राचीन चिन्तन की आत्मा रही है। यह चिन्तन इस बात को सिद्ध करता है कि पूर्ण सत्य की ओर पहुँचने के तर्क तथा आन्तरिक अनुभूति के अनेकों मार्ग हो सकते हैं, जैसे वर्षा का जल नदियों से होता हुआ अनन्त सागर में ही मिलता है, उसी प्रकार सभी धर्मों का गन्तव्य एक है। इसमें सर्व धर्म समभाव के दर्शन को सैद्धान्तिक आधार देकर उसे मान्यता प्रदान की गई है। इस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों के विचारों को उसी एक पूर्ण सत्य की ओर जाने वाले पथों के रूप में देखा गया है। इन पथों के वर्णन में भिन्नता हो सकती है। हमारे देश में धार्मिक असहिष्णुता कभी नहीं रही। अपितु सर्व धर्म समभाव का सिद्धान्त एवं व्यवहार ही सदैव प्रयत्न में रहा है। वेद व्यास कहते हैं : 'धर्म का सर्वस्व सुनो और इसे सुनकर चित्त में बैठा लो कि जो बात-व्यवहार दूसरों से तुम अपने प्रति नहीं चाहते, वह व्यवहार, तुम दूसरों के साथ मत करो।'

मानव जाति एक है। मनुष्यों के विचार और उच्चाभिलाषा समान रूप से एक दूसरे के साथ आबद्ध हैं। ये इतने परस्पर मिले जुले हैं कि इनकी क्रिया, प्रतिक्रिया एक दूसरे पर सदा ही हुआ करती हैं, और हमसे जीवमात्र का जीवमात्र से नाता सिद्ध होता है। यह तथ्य इस कहानी से और स्पष्ट हो जाता है कि चार सह यात्री व्यापार के लिए निकले। उनमें एक था अरब, एक तुर्क, एक पारसी, एक रूसी। चारों थके, भूखे, प्यासे थे। चारों की भेंट एक जगह एक साथ हो गई। सभी एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ थे। पर क्षुधा निवारण के लिए सभी उत्सुक, सभी आतुर। अरब अपने लिए

चाहता था 'ऐनब', तुर्क चाहता था उजम, पारसी चाहता था अंगूर, रूसी चाहता था अस्ताफील। तभी वहाँ एक अंगूर वाला दिखाई दिया। उसे देख सभी प्रसन्न हो गये। सबकी आँखें खिल गईं। यही तो वे चाहते थे। भाषा अलग भले ही रही हो किन्तु निवारण हेतु वे सब अंगूर की ही कामना कर रहे थे। इसी प्रकार उपासना पद्धति चाहे जो हो ईश्वर एक है। इसीलिए उपासना पद्धति को धर्म नहीं कहते। धर्म तो मन की शुद्धि करता है और मन शुद्ध होता है सद्‌गुणों से, सर्वधर्म समभाव से। धर्म का जो रहस्य है वह सर्वत्र ओत प्रोत है।

ईसाई धर्म में कहा गया है कि 'मानव ईश्वर की प्रतिमूर्ति है' (Man was made in the image of god.)। वहाँ आगे कहाँ गया है। 'तुम ये जान लो कि लोगों की सेवा करते समय तुम मेरी ही सेवा कर रहे हो।' इस्लाम में चेतावनी दी गई है - 'खाली धर्म का प्रचार काफी नहीं है, बल्कि अच्छे कार्य और भ्रातृभाव से लोगों की सेवा ही सच्ची प्रार्थना है।'' यहूदी धर्म के संस्थापक हजरत मूसा ने समाज में भ्रातृ भावना सुदृढ़ करने एवं उनमें समरसता बनाए रखने का उपदेश दिया। उन्होंने सत्य पर दृढ़ रहने, पवित्रता बनाए रखने पर जोर दिया। उनका कथन था कि सबके साथ समानता का व्यवहार करो, रिश्वत मत लो, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की है। सत्य मार्ग पर चलो, हिंसा न करो, गरीबों को मत सताओ। उन्होंने आगे कहा कि ईश्वर किसी एक विशेष जाति का नहीं वह सबके लिए बराबर है। कोई जाति उसे मुख्य रूप से दूसरी जातियों से प्यारी नहीं है, वह सबका पिता है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है।

इसी प्रकार का संदेश इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मोहम्मद साहब का भी था। वे कहते थे 'धर्मान्धता और कट्टरता से इस्लाम धर्म का संबंध नहीं है। इस्लाम धर्म तो ईश्वर निष्ठा और सामाजिक व्यवस्था से बंधा हुआ है, जो मानवीय विचारों और सरल जीवन पर अधिक जोर देता है। इस्लाम तो धार्मिक सहिष्णुता, सद्‌भाव, मेल-मिलाप और मानवता की भलाई का संदेश देता है तथा समाज से पाप, अधर्म, अहिंसा, अनाचार, अत्याचार को मिटाकर सुख-शान्ति एवं मानवता का राज्य स्थापित करने पर जोर देता है। पैगम्बर मोहम्मद कहा करते थे : अपना काम नरमी से करना, किसी से बिल्कुल सख्ती न करना, लोगों के दिलों को खुश करना, तुमसे किसी की घृणा न होने पाए, मिलजुल कर काम करना।''

चीन के महान विचारक लाओत्से ने भी अपने उपदेशों में सर्व धर्म समभाव पर जोर दिया। ईसा तो प्रेम, मानवता, दयालुता की प्रतिमूर्त्ति ही थे। पारसी धर्म के संस्थापक महामानव जरथुष्ट कहते हैं - 'मनुष्य को अग्नि के समान पवित्र होना पड़ेगा तथा उसे अपने साथ होनेवाले सारे अमानवीय कृत्यों को दूर करना पड़ेगा। इसलिए सदाचार, समानता, भाईचारा, मैत्रीपूर्ण व्यवहार अपनाओ। गुरू गोविन्द सिंह ने कहा था कि 'प्रत्येक धर्म के सन्तों से प्यार करो, अपने अभिमान को त्याग दो। याद रखो धर्म का सार है नम्रता तथा सहानुभूति, लम्बे कीर्त्तन की आवश्यकता नहीं। तप की आवश्यकता नहीं। सन्यास की आवश्यकता नहीं। संसार के प्रलोभनों के बीच पवित्र जीवन की आवश्यकता है। केवल शब्दों के द्वारा धर्म पर नहीं चला जा सकता। जो सभी मनुष्यों को समान देखता है, वही धार्मिक है।''

यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सभी धर्म सत्य, दया, मैत्री, सदाचार, अस्तेय आदि दैवी सम्पत्तियों पर पूरा जोर देते हैं जिससे पता चलता है कि वे किसी एक ही ध्येय की खोज में एक ही मार्ग से जा रहे हैं और सत्य, दया, आदि इनका वह निर्विवाद मार्ग है। फिर धार्मिक झगड़ों के लिए स्थान ही कहाँ? सत्य, दया आदि ऐसी चीज भी नहीं कि आत्मा परमात्मा की तरह अदृश्य होने के कारण विवादास्पद हों। वह तो सर्वजनानुकूल पदार्थ हैं। इसीलिए उनकी प्राप्ति में जो सहायक न

हो वह सुगमता से हेय हो सकता है। ध्यान से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक धर्म प्रवर्त्तक का उद्देश्य सदा से ही यही रहा है कि समाज में शान्ति की स्थापना हो, क्योंकि शान्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता, जिसे प्राप्त करने की आकांक्षा प्राणिमात्र की होती है। अन्तर केवल साधनों का है। समय और परिस्थितियों के अनुसार साधनों का अन्तर स्वभाविक भी है। साधनों का निर्धारण धर्म प्रवर्त्तक विशेष की ज्ञान सीमा तथा संस्कृति पर भी निर्भर करता है। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को बारबार याद दिलाता है कि अपनी प्रार्थना 'शान्ति' शब्द पर ही समाप्त करें। मुसलमान 'आमीन', ईसाई 'एमीन' और हिन्दू 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' कहकर प्रार्थना समाप्त करता है। शान्ति की प्राप्ति ध्यानावस्था पर निर्भर है। विकास रहित मनःस्थिति का ही नाम शान्ति है। शान्त शम् धातु से बना है अर्थात् वह स्थिति जहाँ समस्त विकारों का शमन् हो चुका हो।

24 जनवरी 1948 को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए पं. नेहरू ने कहा था – 'भारत सभी धर्मो का देश रहेगा, जैसा कि वह प्राचीन काल से रहा है।' यहाँ पर सभी धर्मों के प्रति समान आदर और सम्मान बना रहेगा, साथ-साथ हमारी एक ही राष्ट्रीय भावना रहेगी। हमारा राष्ट्रवाद दूसरों से अलग-थलग संकुचित राष्ट्रवाद नहीं है बल्कि सहिष्णु तथा वर्धिष्णु राष्ट्रवाद है, जिसकी अपने में अपनी जनता की विशिष्टताओं में पूरी श्रद्धा रहेगी, पर साथ-साथ विश्व के स्तर पर विश्व की एकता पर आधारित विश्व रचना के निर्माण में भी हम पूरा योगदान करेंगे।''

डॉ॰ राधाकृष्णन ने लिखा है : 'सर्व धर्म समभाव की भावना भावुकता का नारा नहीं है। यह एक सकारात्मक, रचनात्मक, विशुद्ध भावना युक्त क्रियात्मक कदम है। यदि समाज में इस भावना का विकास सकारात्मक और रचनात्मक रूप से नहीं हुआ तो मानवाधिकारों की सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लगते चले जाएँगे, और कितना भी उन्हें नियम तथा न्यायिक जामा पहनाया जाये, हनन प्रतिदिन बढ़ते चले जाएँगे। इसलिए आज समाज में मानवाधिकारों के हनन की स्थिति को देखते हुए समाज में सर्व धर्म समभाव की भावना का विकास अति आवश्यक है।''

भारतीय संविधान में व्यक्ति और धर्म के परस्पर संबंधों, एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ परस्पर संबंधों तथा धर्म और सरकार के बीच परस्पर संबंधों को स्पष्ट किया गया है तथा सर्व धर्म समभाव की भावना को पुष्ट किया गया है। सन् 1967 में संविधान के चौथे अध्याय (4.1) में 'अ' का समावेश कर मौलिक कर्त्तव्यों की सूची शामिल की गई है। अनुच्छेद 51 'अ' में कहा गया है कि भारत के हर नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह भारत के सभी नागरिकों के बीच परस्पर सौहार्द्र और बन्धुता बढ़ाने का काम करे, धार्मिक, भाषिक, विभागीय तथा जमातों की विभिन्नताओं से ऊपर उठे, महिलाओं के प्रति अनादर प्रकट करनेवाले व्यवहार का त्याग करे, भारत की सम्मिलित तथा समृद्ध संस्कृति की विरासत की रक्षा करे तथा उसकी महिमा को समझे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानवता की खोज की वृत्ति तथा सुधारवादी वृत्ति को विकसित करे। सर्व धर्म समभाव की हमारी धारणा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद के अनुसार 'हमें सभी सत्य विचारों का आदर करना चाहिए, चाहे वह किसी भी स्रोत से आएँ।'' बाइबिल में कहा गया है कि 'सत्य सहज ही सभी भेदों और द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है।'' सम्राट अकबर ने महसूस किया था कि सत्य किसी एक धर्म की सम्पत्ति नहीं। उसने फतेहपुर सिकरी में प्रसिद्ध इबादतखाना बनवाया, जहाँ प्रत्येक धर्माध्यक्ष धार्मिक समस्याओं पर विचार विनिमय करते थे। इसके अतिरिक्त उसने 'दीन-ए-इलाही' मत को जन्म दिया जो विभिन्न धर्मों के सत्य का समिश्रण था। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा –''मनुष्य सर्वत्र अन्न

ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है तथा देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं।''

सर्व धर्म समभाव का अर्थ विभिन्न धर्मों के बीच केवल एकता लाना नहीं अपितु उनकी आत्मा तक, सार तक पहुँचना है, जहाँ सभी भेदभाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक धर्म देशकाल की सीमाओं से परे है, उसकी उपलब्धि व्यक्ति को भी सार्वभौम बनाती है। आत्मा की भाषा एक है किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है। अतएव सर्व धर्म समभाव सब में विद्यमान है। आवश्यकता है संकुचित मनोवृत्ति के त्याग की। आज के राजनीतिज्ञ इन संकुचित मनोवृत्तियों को त्यागने नहीं दे रहे हैं। अपितु परस्पर घृणा द्वेष को बढ़ावा दे रहे हैं। सर्व धर्म समभाव इसलिए मात्र पुस्तकों की वस्तु बनकर रह गया है।

हम देखते हैं कि अपने मौलिक रूप में हर धर्म मानवीय मूल्यों पर आधारित होता है। व्यक्ति और समाज के हर स्तर, प्रकार एवं क्षेत्र के संबंध तथा आचरण की सारी दृष्टि और मर्यादा इसी से प्रेरित निरूपित होती हैं इस स्थिति में हर धर्म तथा सम्प्रदाय के मानने वालों की आचार संहिता मौलिक रूप में दूसरे से भिन्न नहीं होगी। फिर विभिन्न धर्मों के माननेवालों के बीच सद्भावना न केवल सहज है, वरन् हर धर्म दृष्टि से अपेक्षित भी। सारे मानवीय मूल्य प्रेम, करूणा, बन्धुत्व आदि मनुष्य के बीच सद्भावना के सेतु का काम करनेवाले हैं। नैतिक मूल्य प्रायः सभी धर्मों में समान हैं। सत्य, अहिंसा, उदारता, उत्सर्ग, अस्तेय, अपरिग्रह, प्रेम, दया, क्षमा, सादगी आदि का महत्व सभी धर्मों में एक स्वर से स्वीकार्य है। सभी धर्मों के अन्तर्गत मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व धर्म सम्मेलन में सर्व धर्म समभाव के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा था - ''जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रूचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।''

References:

Banga, Indu: *The City in Indian History*: *Urban Demography, Society, and Politics*. Delhi, Manohar for Urban History Association of India, 1991.

Dipak, K.: *Administration Report of the Political Agency*, Agartala, Tripura State Cultural Research Institute & Museum, 1995.

Elangovan K. : *GIS, Fundamentals, Applications and Population Geography*, New India Publishing Agency, New Delhi 2006.

Francis, E.: *Bureaucratic Power in National Politics*, Boston, Little Brown and Company, 1978.

Gore, M.S.: *The Social Context of an Ideology: Ambedkar's Political and Social Thought*, New Delhi, Sage, 1993.

Hans J. : *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*, New York, Knopf, 1960.

Prahlad, K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.

Prakasha Rao, V.L.S and V.K. Tewari: *The Structure of an Indian Metropolis: A Study of Bangalore*. New Delhi: Allied, 1979.

Rosenbloom, H. : *Handbook of Regulation and Administrative Law*, New York, Marcel Dekker, 1994.

भारतीय लोकतंत्र और चुनाव सुधार

जयश्री सिंह

राजनीति विज्ञान विभाग, नीतिश्वर सिंह कॉलेज, सरमस्तपुर, मुजफ्फरपुर

भारत में चुनाव सुधार एक ऐसा जटिल मुद्दा है जिस पर जनता और न्यायपालिका लगभग एकमत है। अब यह तथ्य किसी से छुपा हुआ नहीं है कि लोकसभा तथा राज्य विधान सभाएँ ही नहीं स्थानीय निकायों के चुनाव जीतने के लिए भी उम्मीदवारों द्वारा अवैध तरीकों को अपनाया जाता है। सामान्यतौर पर उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि, अवैध तरीके से जमा की गई अकूत सम्पत्ति तथा आपराधिक व्यक्तियों के साथ उनकी साँठ-गाँठ उन्हें चुनावों को अपने पक्ष में कर लेने के अवसर उपलब्ध कराती है। आपराधिक पृष्ठभूमि के सहारे ही मतदान स्थलों पर जबरन कब्जा कर लेने, फायरिंग करके या डरा धमकाकर वैध मतदाताओं को मतदान करने से रोकने या फर्जी मत डलवाने जैसी घटनाएँ संभव हो पाती हैं।

जब धनबल के सहारे मतदाताओं को उनके भरोसेमन्द जातीय सामुदायिक नेताओं के सहारे लुभाया जाता है। इसके लिए मुफ्त में शराब और अन्य वस्तुएं वितरित की जाती हैं और इस प्रकार से जो लोग चुनाव जीतकर विधानसभा या लोकसभा में पहुँचते हैं वे नए सिरे से संवैधानिक उपचारों के संरक्षण में अवैध तरीकों से सम्पत्ति अर्जित करने लगते हैं। अभी विगत् दिनों उत्तर प्रदेश में एक साधारण परिवार से निकलकर विधायक और बाद में मंत्री बनने वाले एक व्यक्ति द्वारा कुछ ही समय में करोड़ों रुपए की सम्पत्ति अर्जित कर लेने का मामला प्रकाश में आया है। आज ऐसे एक नहीं बल्कि हजारों मामले हैं जिनमें विधान-सभा, लोक-सभा, सदस्य बनने के बाद लोगों ने शुमार सम्पत्ति अर्जित की है।

भारत में चुनाव की प्रकृति

1. अल्पमत की जीत,
2. प्राप्त मतों और प्राप्त सीटों में अंतर,
3. मतदाताओं की निष्क्रियता,
4. चुनाव में अधिक धन खर्च करने की प्रवृत्ति,
5. शासक दल द्वारा प्रशासन का दुरुपयोग,
6. चुनाव में अपराधियों का प्रवेश,
7. व्यक्ति आधारित राजनीति,
8. जाति, धर्म, भाषा के आधार पर चुनाव,

9. क्षेत्रीय दलों के कारण स्पष्ट बहुमत का अभाव, और
10. निर्दलिय उम्मीदवारों की बहुलता।

चुनाव सुधारों के लिए अब तक तारकुण्डे समिति (1972), दिनेश गोस्वामी समिति (1990), इन्द्रजीत गुप्ता समिति (1998), शेषण समिति (1992) अपने प्रतिवेदन सरकार को सौंप चुकी हैं। इन समितियों के सुझावों से इतर मुख्य चुनाव आयुक्त टी॰एन॰ शेषण, गिल तथा लिंगदोह ने अपने स्तर और विधि संगत अधिकारों का प्रयोग करके चुनाव प्रणाली की खामियों को दूर करने का प्रयास किया है। इसी क्रम में भारत के उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय भी समय-समय पर चुनाव सुधारों की प्रक्रिया को आगे बढ़ते रहे हैं। यह और बात है कि संसद की सर्वोच्चता की दुहाई देकर भारत के राजनीतिज्ञ सर्वोच्च न्यायालय के दिशा-निर्देशों को निष्प्रभावी करते रहने में भी पीछे नहीं रहे हैं। विगत वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने एक जनहित याचिका पर निर्णय देते हुए यह व्यवस्था दी थी कि लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभा, विधान परिषद् का चुनाव लड़ने वाला प्रत्येक उम्मीदवार अपनी आपराधिक पृष्ठभूमि, अपनी तथा अपनी पत्नी के नाम की समस्त सम्पत्ति और आय के स्रोतों और अपनी शैक्षणिक योग्यता का ब्यौरा रिटर्निंग अधिकारी को दे। सर्वोच्च न्यायालय की इस व्यवस्था से राजनीतिज्ञों में खलबली मच गई। इस निर्णय के विरुद्ध सत्तापक्ष तथा विपक्ष में सर्व-सम्मति कायम हो गई और मई 2002 में चुनाव सुधार कानून बनाकर मात्र यह व्यवस्था की गई कि

(1) उम्मीदवार केवल उन्हीं आपराधिक मामलों की जानकारी देंगे, जिन्हें न्यायालय ने संज्ञान में ले लिया है।
(2) केवल विजयी उम्मीदवार को ही अपनी आस्तियों तथा देनदारियों का विवरण देना होगा।
(3) किसी भी उम्मीदवार के लिए अपनी शैक्षणिक योग्यता का विवरण देना जरूरी नहीं होगा।

इन्हीं व्यवस्थाओं के अनुरूप जनप्रतिनिधित्व कानून में संशोधन कर दिया गया।

सरकार के इस निर्णय के विरुद्ध प्यूपिल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज, लोकसत्ता तथा एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्म्स ने नए सिरे से सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। इस जनहित याचिका पर सर्वोच्च न्यायालय की तीन सदस्यीय खण्ड पीठ के न्यायमूर्ति एम.बी. शाह, न्यायमूर्ति पी.वी. रेड्डी तथा न्यायमूर्ति डी.सी. धर्माधिकारी ने जन प्रतिनिधित्व कानून में किए नए संशोधनों को असंवैधानिक करार दे दिया। अलग-अलग, किन्तु लगभग एक जैसे निर्णय में तीनों ही न्यायाधीशों ने कहा कि केन्द्र सरकार द्वारा जारी चुनाव सुधार अध्यादेश (जो बाद में अधिनियम बन गया) विधायिका के लिए उचित उम्मीदवार बनने के लिए मतदाताओं को सूचना पाने के अधिकारों में कटौती करता है, इसलिए यह पूरी तरह से असंवैधानिक है। न्यायधीशों का मानना है कि सूचना पाने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद-19 के तहत् एक मौलिक अधिकार है तथा यह प्रत्येक प्रकार से मतदाताओं के सूचना पाने के अधिकार से संबद्ध है। सर्वोच्च न्यायालय ने जन प्रतिनिधि अधिनियम के संशोधनों को खारिज करते हुए चुनाव आयोग को निर्देश दिया है कि वह न्यायालय के ताजा निर्णय के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से अधिसूचना जारी करे। गुरुवार 13 मार्च 2003 को दिए गए निर्णय से अब प्रत्येक उम्मीदवार के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह अपने नामांकन प्रपत्र दाखिल करते समय एक शपथ पत्र के रूप में निम्नलिखित सूचनाएँ भी दाखिल करे -

(1) क्या उम्मीदवार को किसी आपराधिक मामले में दोषी पाया गया/ दोषमुक्त करार दिया गया/ डिस्चार्ज किया गया यदि हाँ, तो क्या उसे सजा सुनाई गई या उस पर दण्ड लगाया गया?

(2) नामांकन प्रपत्र दाखिल करने से 6 माह पूर्व तक क्या उम्मीदवार किसी ऐसे मामले में अभियुक्त था, जिसमें दो वर्ष या इससे अधिक की सजा का प्रावधान है और क्या ऐसे मामले को संज्ञान में लेते हुए न्यायालय द्वारा आरोप पत्र दिया जा चुका है?

(3) उम्मीदवार, उसकी पत्नी तथा उसके आश्रितों के नाम से सभी प्रकार की चल, अचल सम्पत्तियों एवं बैंक में जमा धनराशियों का विवरण।

(4) उम्मीदवार के ऊपर बकाया सभी प्रकार की देनदारियाँ जिनमें सरकार और सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों के बकाया ऋण भी शामिल हैं।

(5) उम्मीदवार की शैक्षिक योग्यता।

चुनाव में सुधार या राजनीतिक अपराधीकरण रोकने के उपायः-

1. शिक्षा को बढ़ावा,
2. जनता में जागरूकता पैदा करना,
3. चुनावी अपराधों के लिए fast track की स्थापना,
4. चुनावी खर्च की सीमा का सख्ती से पालन करना,
5. कानून का सख्ती से पालन करना,
6. दो से अधिक स्थानों से चुनाव पर रोक,
7. न्यूनतम शैक्षणिक अर्हता अपनाई जाए।
8. समय-समय पर निर्वाचन क्षेत्र का परिसीमन किया जाए,
9. क्षेत्रीय दलों पर रोक लगायी जाय।

जन प्रतिनिधि संशोधन अधिनियम 1996 के अनुसार एक व्यक्ति एक से अधिक जगहों से चुनाव नहीं लड़ सकता है, चुनाव प्रसार 48 घंटे पूर्व समाप्त किया जाना चाहिए।

चुनाव सुधारों की दिशा में सर्वोच्च न्यायालय की उपर्युक्त पहल निश्चित तौर पर स्वागत योग्य है। किन्तु इससे यह आशा करना रेत में पानी खोजने जैसे होगा कि अब आपराधिक पृष्ठभूमि या अवैध कारोबार से अर्जित की गई सम्पत्ति का कोई स्वामी चुनाव नहीं जीत सकेगा। भारत की न्यायपालिका और न्यायिक प्रक्रिया में जिस प्रकार की खामियां हैं उसके चलते किसी भी निर्णय को लागू करना आसान नहीं है, किन्तु फिर भी ''अंधेरे को कोसने से अच्छा है कि एक दीप जलाया जाए'' की उक्ति पर चलते हुए चुनाव प्रणाली को उत्तरोत्तर सुधारों की ओर ले जाने का मार्ग तो प्रशस्त होता ही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः

(1) डॉ॰ बी॰ एल॰ फाड़िया - भारतीय राजव्यवस्था एवं भारत का संविधान
(2) प्रतियोगिता दर्पण अतिरिक्तांक - भारतीय राजव्यवस्था
(3) क्रॉनिकल - दिसम्बर 2002
(4) परीक्षा मंथन - जनवरी 2004

वर्तमान परिवेश में भारत–पाकिस्तान संबंध

डॉ॰ साधना ठाकुर

राजनीति विज्ञान विभाग, अरविन्द महिला कॉलेज, पटना

भारत–पाक संबंध सुधारने की बात भारतीय उपमहाद्वीप में सदैव ही सामयिक विषय रही है, क्योंकि जब से भारत एवं पाकिस्तान का विभाजन हुआ, तब से अब तक दोनों देशों के मध्य कटुता एवं तनाव का माहौल जारी रहा है। इस तनाव को रोकने के प्रयास जो भी किए गए, उन्हें अभी तक विराम नहीं मिला है। भारत और पाकिस्तान हमेशा अघोषित युद्ध की स्थिति में रहे हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटिश शासन की समाप्ति के साथ ही एक नये युग का आरंभ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में निरंतर तनाव बना हुआ है। भारत पाकिस्तान की भौगोलिक स्थिति तथा सुरक्षा, आर्थिक विकास एवं जनकल्याण की आवश्यकता इस बात पर बल देती है कि दोनों देश मैत्री एवं सद्भावना के वातावरण में रहकर परस्पर संबंध बनाये रखें। परंतु पाकिस्तान के निर्माण काल से वर्तमान समय तक भारत के साथ इसके संबंध मैत्रीपूर्ण नहीं हो सके हैं। इसके लिए भारत की ओर से अनेक प्रयास किये गये। परंतु ये प्रयास स्थायी सफलता नहीं प्राप्त कर सके।

भारत के साथ अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करने की दिशा में पाकिस्तान ने 1947–48, 1965, 1971 और 1999 में सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाया। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र मध्यस्थता एवं न्यायाधिकरण के माध्यम से भी समस्याओं के समाधान की कोशिश की गयी। इन समस्त प्रयासों के बावजूद भारत और पाकिस्तान के बीच स्थायी मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित नहीं हो सका है।

पाकिस्तान एवं भारत दोनों 14 अगस्त 1947 एवं 15 अगस्त 1947 को आजाद हुए थे। आजादी के पूर्व भारत के गवर्नर लार्ड माउण्टवेटन ने 24 जुलाई 1947 को देशी नरेशों को कहा था कि यद्यपि सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जाने के साथ ही वे पूर्णरूपेण मुक्त हो जायेंगे लेकिन यह निर्णय कर ले कि किस देश से रिश्ता बनायेंगे और वह निर्णय करते हुए उन्हें अपनी रियासत की भौगोलिक परिस्थिति और आबादी को भी ध्यान में रखना चाहिए। धीरे–धीरे सारी रियासतें अपने भौगोलिक परिस्थितियों और अपनी जनता की इच्छा के अनुरूप भारत और पाकिस्तान में शामिल होती गयी। लेकिन हैदराबाद और जम्मू कश्मीर जैसी दो बड़ी रियासतें और एक जूनागढ़ की छोटी रियासत 15 अगस्त 1947 को भारतीय संघ में शामिल नहीं हुई। हैदराबाद और जूनागढ़ के मामलों को कुछ दिन बाद ही सुलझा दिया गया और अंततः उसका विलय भारत में हो गया।

ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति पर जम्मू–कश्मीर की रियासत तीन विकल्पों से खेल रही थी–(1) पाकिस्तान में शामिल हो, (2) भारत में शामिल हो, (3) स्वतंत्र अस्तित्व बनायें रखे। महाराजा हरि सिंह ने तीसरे विकल्प का मोह पालना शुरू किया अर्थात् वो अपने राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना चाहते थे। दूसरी ओर 22 अक्टूबर को पाकिस्तानी सेना से सहायता प्राप्त कर कबीलों ने घुसपैठियों के रूप में कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। राज्य के बिगड़ते हालत को देखकर

महाराजा ने घाटी छोड़ने का निश्चय किया तथा भारत से सहायता की अपील की। अंतत: 26 अक्टूबर को विलय स्वीकार करते हुए कश्मीर की रक्षा का पूर्ण प्रयास किया गया तथा कश्मीर पहुंचकर भारतीय सेना ने हमलावरों को पीछे खदेड़ दिया। भारत ने सुरक्षा परिषद को यह जानकारी दी कि पाकिस्तान कश्मीर पर आक्रमण करने वाले छापामारों की सहायता कर रहा है। सुरक्षा परिषद् ने भारत और पाकिस्तान के लिए आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने 13 अगस्त 1948 को एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसमें युद्धविराम का प्रावधान था। द्वितीयत: सेनाओं की वापसी की संस्तुति की गई थी–पहले पाकिस्तानी सेनाओं की वापसी, तत्पश्चात् भारतीय सेनाओं की वापसी। तृतीयत: यह कहा गया था कि उक्त दोनों शर्तों के पूरा हो जाने पर जनमत संग्रह कराया जाये। इन प्रतिवेदनों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया, परंतु पाकिस्तान ने स्वीकार नहीं किया। सेनाओं की वापसी पर गतिरोध उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान अंतर्राष्ट्रीय मंच द्वारा जनमत संग्रह पर विशेष बल देता रहा। जनमत संग्रह के संदर्भ में नेहरू ने यह स्पष्ट तौर पर बताया कि यदि पाकिस्तान को अमेरिका से मिलने वाली शस्त्र सहायताओं पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया तो अगस्त 1953 का जनमत संग्रह से संबंधित समझौता असफल हो जायेगा। इधर 6 फरवरी 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने कश्मीर के भारत में ''एक्सेशन'' का औपचारिक पुष्टिकरण कर दिया। इन घटनाओं से पाकिस्तानी प्रशासन अत्यंत चिंतित हुआ। पाकिस्तान ने पश्चिमी सैन्य संगठनों-सीटो तथा सेन्टों की सदस्यता ग्रहण कर ली; उधर भारत को सोवियत रूस का समर्थन प्राप्त हुआ। 1957 में कश्मीर विवाद को पाकिस्तान द्वारा पुन: सुरक्षा परिषद में लाया गया। पाकिस्तान ने जनमत संग्रह को प्राथमिकता दी। दूसरी ओर भारत ने ''यूनाइटेड नेशन्स कमीशन फार इंडिया एण्ड पाकिस्तान'' के प्रस्तावों के प्रथम दो भागों की क्रियान्विति के बाद ही जनमत संग्रह को संभव बताया। अतएव कश्मीर के प्रश्न पर गतिरोध बना रहा।

1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध ने दोनों देशों के तनावपूर्ण संबंधों को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। यद्यपि दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंधों का पूर्णरूपेण विच्छेद नहीं हुआ था, परंतु दोनों देशों की सरकार तथा जनता के बीच सामान्य संबंध तथा संचार पूरी तरह से टूट गये थे। 23 सितंबर को दोनों देशों की तरफ से युद्ध विराम की घोषणा की गयी; परंतु युद्ध विराम स्वीकार करने के बाद भी दोनों देशों के संबंध सामान्य नहीं हुए। छिटपुट संघर्ष जारी रहे एवं युद्ध विराम रेखा का उल्लंघन होता रहा। दोनों देशों के मध्य तनाव की स्थिति बनी रही। इस तनावपूर्ण स्थिति के कारणों में अस्पष्ट और विवादास्पद युद्ध विराम रेखा के अतिरिक्त युद्ध के पश्चात की स्थिति भी उत्तरदायी थी।

1965 के युद्ध के समय चीन द्वारा भारत को दी गयी धमकी एवं पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायताएं तथा पाकिस्तान की ओर से संभावित चीनी हस्तक्षेप ने रूस को और अधिक चिंतित कर दिया था। ऐसी स्थिति में भारत की पराजय निश्चित थी और चीन के बढ़ते हुए प्रभाव का स्वरूप भी निश्चित था। दूसरी ओर, अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा युद्ध में पाकिस्तान का पक्ष लेने के साथ ही भारत की आलोचना करने का क्रम पूर्ववत् जारी था। उपमहाद्वीपीय संतुलन पूरी तरह से पाकिस्तान के पक्ष में संभव था। ऐसी स्थिति में सोवियत-भारत पारंपरिक मैत्री को ध्यान में रखते हुए सोवियत रूस ने युद्ध विराम एवं मध्यस्थता का प्रस्ताव दोनों देशों को भेजा। इसी पृष्ठभूमि में चीन तथा अमेरिका के घेरे से पाकिस्तान को अलग करना सोवियत रूस का महत्वपूर्ण उद्देश्य था। अपने इस उद्देश्य द्वारा सोवियत रूस भारत तथा पाकिस्तान को इस तरह से स्थायी शांति के क्षेत्र में दृढ़ बनाना चाहता था जिससे भारत-पाकिस्तान संबंधों पर अमेरिकी तथा चीनी दबाव न पड़ सके।

सोवियत प्रधानमंत्री कोसीजिन के अनवरत एवं अथक प्रयास के बाद भारत और पाकिस्तान समझौता के लिए सहमत हुए। 10 जनवरी 1966 को सांयकाल में कोसीजिन को गवाह मानकर भारतीय प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री एवं पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खां ने ताशकन्द घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये। उक्त घोषणा पत्र में निम्न विषयों पर सहमति व्यक्त की गयी:

प्रथम	दोनों देशों द्वारा सामान्य एवं शांतिपूर्ण संबंधों की पुनर्प्राप्ति।
द्वितीय	5 अगस्त 1965 की पूर्व स्थित में सेनाओं की वापसी।
तृतीय	युद्ध बंदियों की वापसी।
चतुर्थ	राजनयिक संबंधों के साथ-साथ आर्थिक तथा व्यापारिक व संचार संबंधों की स्थापना तथा परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान।
पंचम	शत्रुतापूर्ण प्रचार की समाप्ति
षष्ठम	शरणार्थी एवं अवैध अप्रवासी समस्या का समाधान।

ताशकन्द घोषणा को तीन खण्ड में विभक्त किया जा सकता है-प्रथम खण्ड में वे बातें आती हैं जिनमें सामान्य मैत्रीपूर्ण संबंधों का उल्लेख है। इसके अंतर्गत युद्ध के परिणामस्वरूप विभिन्न राजनयिक, सांस्कृतिक, वाणिज्यिक एवं अन्य संबंधों की पुर्नस्थापना का तात्कालिक प्रावधान है। द्वितीय खण्ड में 5 अगस्त 1965 से पूर्व की स्थिति में सेनाओं की वापसी, युद्ध-बंदियों की वापसी, शरणार्थी एवं अप्रवासी समस्याओं से संबंधित समझौते के प्रावधान हैं। तृतीय खण्ड में समझौते के उस पक्ष को रखा जा सकता है जिनमें भारत-पाकिस्तान के भविष्य के संबंधों को निर्धारित किया गया था। ताशकन्द घोषणा के उपरांत भारतीय उपमहाद्वीप विश्व की प्रमुख शक्तियों विशेषत: सोवियत रूस, अमेरिका तथा साम्यवादी चीन की प्रतिस्पर्धा का प्रमुख स्थल बन गया था। भारत तथा पाकिस्तान आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर न रहने के कारण इन शक्तियों की आर्थिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास करते थे। इसके साथ ही आत्मरक्षा हेतु हथियारों की मांग की जाती थी।

भारत को दिये गये आर्थिक सहयोग से पाकिस्तान व्याकुल न हो, इसलिए सितंबर 1966 में सोवियत रूस ने पाकिस्तान को 21 प्रोजेक्ट के निर्माण हेतु 50 करोड़ डालर का ऋण दिया। सोवियत रूस से अनुदान के रूप में पाकिस्तान को 1966 में 8 करोड़ 50 लाख डॉलर प्राप्त हुए और प्रोजेक्ट अनुदान के रूप में 13 करोड़ 40 लाख डॉलर प्राप्त हुए, किंतु पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खां आर्थिक सहायता एवं व्यापार मात्र से संतुष्ट नहीं हो सके। अयूब को दो आवश्यक चीजें प्राप्त करनी थी: प्रथम, कश्मीर के संबंध में सोवियत रूस का समर्थन तथा द्वितीय, भारत की बराबरी करने के लिए शस्त्र आपूर्ति। इस संदर्भ में अयूब ने सितंबर 1967 में स्वयं सोवियत रूस की यात्रा की और सोवियत रूस से आग्रह किया कि भारत पर दबाव डालकर कश्मीर समस्या का समाधान निकाला जाये। यदि सोवियत रूस कश्मीर का समाधान नहीं प्रस्तुत करा सकता तब वह कश्मीर के संबंध में भारत का पक्ष भी न ले। दूसरी तरफ भारत को शस्त्र देने की सोवियत नीति शांति के लिए खतरनाक है। अतएव भारत को दिये जाने वाले सोवियत शस्त्रों पर रोक लगा दी जानी चाहिए; अन्यथा सैनिक संतुलन को बनाये रखने के लिए पाकिस्तान को भी सोवियत शस्त्र मिलना चाहिए।

सोवियत प्रधानमंत्री कोसीजिन ने भारत को दिये जाने वाले सोवियत शस्त्रों को इस आधार पर तर्कसंगत बताया कि भारत गुटनिरपेक्ष देश है तथा वह किसी भी सुरक्षा समझौते का सदस्य भी नहीं

है। कोसीजिन का संकेत इस बात की तरफ था कि सुरक्षा संधि या संगठन के किसी भी सदस्य को शस्त्र नहीं दिये जायेंगे। अंततः पाकिस्तान को सोवियत नीतियों को स्वीकार करना पड़ा। 2-4 अप्रैल 1968 की 'सीटो' की मीटिंग में पाकिस्तानी प्रतिनिधि ने संयुक्त विज्ञप्ति में हिस्सा नहीं लिया और इसके साथ ही पेशावर स्थित अमेरीकी गुप्तचर अड्डे को बंद करने का भी निर्णय लिया। दूसरी ओर, अमेरिका ने भारत तथा पाकिस्तान दोनों देशों की आर्थिक तथा सैनिक सहायता स्थगित कर दी थी। अमेरिकी राष्ट्रपति जानसन ने यह संकेत दिया था कि सैनिक तथा आर्थिक सहायता तब तक स्थगित रहेगी जब तक तमाम शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। तमाम शर्तों का तात्पर्य यह था कि चीन के साथ पाकिस्तान का संबंध सीमित रहे। जानसन यह भी चाहते थे कि भारत तथा पाकिस्तान अमेरिका के उस प्रयास में सहयोग करे जिससे दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सके।

ताशकन्द घोषणा से यह स्पष्ट होता है कि पाकिस्तान पर अमेरिकी प्रभाव कम हुआ था परंतु सोवियत रूस के प्रभाव में वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में चीन ने आर्थिक एवं सैनिक सहायता द्वारा पाकिस्तान को संतुष्ट करके भारत-पाक संबंध को तनावपूर्ण बनने की दिशा में कश्मीरी जनता के जनमत संग्रह के अधिकार की प्राप्ति हेतु पाकिस्तान के समर्थन देने का आश्वासन देता रहा। दूसरी ओर जब भारत 9 माह तक यह प्रार्थना करते हुए दुनिया भर में घुमा कि कृपा करके एक करोड़ शरणार्थियों को उनके घरों को वापस भेजने में हमारी मदद करो तब सहानुभूति की कुछ आवाजों और हूं-हां के अलावा अधिक कुछ भी सुनने को नहीं मिला। पश्चिमी पाकिस्तान के उपनिवेशवादी जुए से मुक्ति के लिए बंगालियों के संघर्ष के पक्ष में भारत ने जो जोरदार अपीलें की वे संसार के दूतावासों में सहानुभूति की कोई लहर पैदा करने में पूरी तरह विफल रही। उलटे उनमें से कितनों ने ही बंग्लादेश के प्रश्न पर मिले भारतीय समर्थन को निहित उद्देश्यों से युक्त पाया।

संदर्भः

1. Agra : India and Pakistan Summitèkcompiled and edited by O.P. Ralhan. New Delhi, Anmol, 2002.
2. The Arab-Israeli Peace Process : Lessons for India and Pakistanèkedited by Moonis Ahmar. New Delhi, Oxford University Press, 2001.
3. The Armageddon Factor : Nuclear Weapons in the India-Pakistan ContextèkSanjay Badri-Maharaj. New Delhi, Lancer, 2000.
4. Attack on Parliament : Challenges Before the NationèkK. Bhushan and G. Katyal. New Delhi, APH, 2002.
5. Conflict Unending : India-Pakistan Tensions Since 1947èkSumit Ganguly. New Delhi, OUP, 2002.
6. Contemporary Pakistan: Trends and Issuesèkedited by Ramakant, S.N. Kaushik and Shashi Upadhyaya. Delhi, Kalinga, 2001.
7. Democracy and Dictatorship in South Asia : Dominant Classes and Political Outcomes in India, Pakistan, and BangladeshèkRobert W. Stern. New Delhi, India Research Press, 2001.

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद

डॉ. विद्या भूषण श्रीवास्तव

राजनीति विज्ञान विभाग, राम जयपाल सिंह कॉलेज, छपरा

भारत में संघवाद का स्वरूप, उसकी कार्यप्रणाली तथा सियासी हालातों के आधार पर केन्द्र-राज्य संबंधों में होने वाले बदलाव राजनीतिक समीक्षकों के लिए हमेशा से एक मौजू विषय रहा है। आज भी संघीय ढ़ाँचे के तहत राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न समकालीन भारतीय राजनीति में एक ज्वलंत मुद्दा है जिस पर गहन विचार मंथन की दरकार है। जबसे एकदलीय प्रभुत्व का जमाना समाप्त हुआ और केन्द्र में तथा राज्यों में अलग-2 दलों की सरकारें बननी शुरू हुई, केन्द्र सरकार पर विपक्षी दल की सरकारों को राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से अस्थिर एवं परेशान करने का आरोप लगने लगा। फलत: राज्यों की स्वायत्तता की माँग जोर-शोर से उठने लगी। यहाँ राज्यों की स्वायत्तता के अर्थ को समझ लेना जरूरी है।

भारत के संघीय ढ़ाँचे के अंतर्गत 'राज्यों की स्वायत्तता' से मतलब है कि राज्यों के आंतरिक मामलों में केन्द्र सरकार की दखलंदाजी कम से कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निर्बाध एवं निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाए ताकि वे जनकल्याण के कार्यों को स्थानीय जरूरत एवं योजनाओं के अनुसार स्वतंत्र एवं निर्बाध रूप से कर सके। केन्द्र की राजनीतिक एवं प्रशासनिक शक्तियाँ भी न्यूनतम रहे। उनका कार्य विदेश नीति, रक्षा, मुद्रा, रेल एवं जनसंचार के विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाय। केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे साधनों के अभाव में खुद को असहाय एवं दया का पात्र न समझे। राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ न तो राज्यों की स्वतंत्रता से है और न सम्प्रभुता से। यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिससे राज्यों को कतिपय निर्दिष्ट क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्रता तथा कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है।

राज्यों की स्वायत्तता पर विचार व्यक्त करते हुए पूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने कहा कि ''राज्य सरकारों को सामाजिक सेवाओं और विकास के विषयों पर जो उत्तरदायित्व दिए गए हैं, उनके अनुरूप विस्तृत और लचीले राज्य कर के साधन उनके पास नहीं है। केन्द्र का रूझान विकास और शासन के अधिक से अधिक विशयों का उत्तरदायित्व स्वयं लेने का है जो कि विकेन्द्रीकरण के स्वीकृत सिद्धांत के खिलाफ है। केन्द्र के पास राज्य में उपलब्ध सरकारी मशीनरी से अधिक कुशल और भिन्न तंत्र नहीं है और न अनुभव यह बताता है कि राज्यों की तुलना में अधिक बुद्धिमानी, योग्यता या बाहरी तत्वों के प्रभाव से स्वतंत्रता प्रदर्शित की हो। राज्यों ने केन्द्र की इस प्रवृति को कभी पसन्द नहीं किया। यदि इस प्रवृति को रोका नहीं गया तो राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की माँग कटुता के साथ उठाई जा सकती है।''[1] आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के

कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है। जिन परिस्थितियों के कारण संविधान निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियाँ बदल चुकी है। अब संविधान में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों को संघवादी ढ़ाँचे में समान एवं स्वायत्त भागीदार बनाया जाना चाहिए। इसी से भारतीय संघात्मक व्यवस्था प्रभावशाली ढ़ंग से काम करेगी।[2]

भारत में संघीय ढ़ाँचे के तहत राज्यों की स्वायत्तता की माँग वस्तुतः 1967 के आम चुनाव के बाद ही बुलंद हुई जब 8 राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। इस सियासी बदलाव के फलस्वरूप राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों तथा केन्द्र सरकार के बीच कदम-2 पर टकराव आरंभ हुआ। इसीलिए लगभग सभी गैर कांग्रसी सरकारों वाले राज्यों की ओर से केन्द्र के बढ़ते हुए नियंत्रण के खिलाफ आवाज उठाई गई और यह माँग की गई कि राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए और इस दृष्टिकोण से केन्द्र और राज्यों के संबंधों को नए सिरे से निश्चित किया जाना चाहिए। केन्द्र के विरूद्ध अधिकतम स्वायत्तता की माँग एक ओर प. बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार की ओर से उठाई गई और दूसरी ओर तमिलनाडु में डी.एम.के. सरकार ने इसे एक आंदोलन का रूप दे दिया। करूणानिधि ने यह नारा दिया कि ''सेल्फ रूल इन दि स्टेट्स एंड कंपोजिट रूल एट दि सेंटर" और इस नारे को डी.एम.के. दल के संविधान में भी शामिल किया गया।[3] इसी तरह उड़ीसा के तत्कालीन मुख्यमंत्री बीजू पटनायक ने अपने प्रदेश के आर्थिक संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने तथा विदेशों से प्रत्यक्ष रूप से सहायता लेने की माँग की।[4] नेशनल कांफ्रेंस एवं अकाली दल की ओर से भी राज्यों के लिए अधिक से अधिक स्वायत्तता देने की माँग की गई और कहा गया कि रक्षा, विदेश नीति, रेल, मुद्रा एवं संचार व्यवस्था के अतिरिक्त सारे अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए।

केन्द्र और राज्यों के बीच 1967 के बाद से जो टकराव उत्पन्न हुए, उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- (1) संस्थागत विवाद (2) कार्यात्मक विवाद तथा (3) आर्थिक विवाद।

(1) संस्थागत विवाद- संस्थागत विवाद में सबसे मत्वपूर्ण है केन्द्र सरकार के एजेंट के रूप में राज्यों की राजनीति में राज्यपाल की भूमिका। केन्द्र सरकार राज्यों में विपक्षी दल की सरकारों को कानून-व्यवस्था खराब होने या संवैधानिक मशीनरी के विफल होने संबंधी रिपोर्ट संबंधित राज्य के राज्यपाल से मँगवाती है और धारा 356 का प्रयोग कर राज्य सरकारों को बर्खास्त करने का उपक्रम करती रहती है। अब तक 104 बार इस धारा का प्रयोग कर विपक्षी दल की सरकार को बर्खास्त किया गया है। सुप्रीम कोट के निर्णयों तथा केन्द्र में 1990 के बाद लगातार गठबंधन सरकारे बनने के कारण इस प्रवृत्ति पर एक हद तक लगाम लगा है।[5]

राज्यों की माँग रही है कि केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उनके बीच संतुलन बना रहे और केन्द्र का राज्यों पर जो प्रभुत्व है, उसका अंत किया जा सके। राज्यों की ओर से की जाने वाली माँगों में समवर्ती सूची का विस्तार, स्वविवेक अनुदानों की समाप्ति, योजना आयोग को स्थायी एवं संवैधानिक स्वरूप प्रदान करना, अनुच्छेद 263 के अधीन अंतर्राज्यीय परिषद का गठन, राज्य सरकार के सलाह से राज्यपाल की नियुक्ति आदि प्रमुख रहे हैं।

केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक संबंधों को पुनर्निर्धारित करने और उसमें संस्थागत परिवर्तन लाने के उद्देश्य से अगस्त 1969 में तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमंत्री करूणानिधि ने डा. पी. वी. राजमन्नार की अध्यक्षता में एक तीन सदस्यीय समिति गठित की जिसने राज्यों की स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित सुझाव दिए।[6]

(क) एक अंतर्राज्यीय परिषद स्थापित की जाए जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री तथा राज्यों के मुख्यमंत्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हो। इस परिषद से सलाह किए बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाए जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों।

(ख) योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाए तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाय।

(ग) करों के वितरण में राज्यों का हिस्सा बढ़ाया जाए।

(घ) राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मंत्रीमंडल के सलाह से की जाए।

(ड.) अनु. 256, 257 और 339 (2) को संविधान से निकाल दिया जाए। इसके अलावे धारा 356, 357 को स्थगित कर दिया जाय।

डी.एम.के. के बाद पंजाब के अकाली दल ने भी राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने हेतु 1973 में आनंदपुर साहिब प्रस्ताव पास किया जिसमें माँग की गई कि केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, विदेशनीति, संचार, मुद्रा एवं रेलवे तक ही सीमित रहना चाहिए।[7]

(2) कार्यात्मक विवाद- केन्द्र तथा राज्यों के बीच विरोध का दूसरा विषय राज्य में कानून-व्यवस्था के प्रश्न पर केन्द्र का कहना रहा है कि अनु. 256 एवं 257 के अनुसार राज्य सरकार अपनी सीमाओं में केन्द्र द्वारा बनाई गई विधियों को लागू करने और केन्द्र के निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य है। कानून-व्यस्वथा बनाए रखने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार केन्द्रीय सुरक्षा बलों को राज्य के बिना अनुमति से तैनात करती रही है। जबकि कानून-व्यवस्था राज्य सूची का विषय है। अभी इसी माह में केन्द्रीय कैबिनेट ने NCTC (National Counter Terrorism Centre) का गठन किया है जिसे 01 मार्च 2012 से काम करना है लेकिन केन्द्र ने इस मुद्दे पर राज्यों से सलाह-मशविरा नहीं किया। फलतः सभी गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों ने इस पर आपत्ति जतायी है तथा इसे राज्यों की स्वायत्तता पर चोट एवं संघीय भावना के प्रतिकूल बताया है।[8] राज्यों की दूसरी शिकायत केन्द्र द्वारा सी.बी.आई. के राजनीतिक उपयोग से संबंधित है। केन्द्र अपने राजनीतिक फायदे के लिए विपक्षी दल के नेताओं को सी.बी.आई. जाँच में उलझाकर उनका समर्थन हासिल करती है और मामला सालों-साल खींचता रहता है। मुलायम सिंह यादव, मयावती, लालू प्रसाद जैसे नेता इसके सटीक उदाहरण हैं।

(3) **आर्थिक विवाद**- वर्त्तमान राजनीतिक परिवेश में केन्द्र और राज्यों के बीच विवाद एवं टकराव का मूल कारण राज्यों की आर्थिक स्थिति का खस्ताहाल होना, केन्द्रीय सहायता दिए जाने में राजनीतिक आधार पर भेदभाव करना, जरूरत के हिसाब से सहायता एवं अनुदान नहीं देना एवं केन्द्र का असहयोगपूर्ण एवं अहँकारी रवैया रहा है। राज्यों की शिकायत रही है कि योजना आयोग जैसे संविधानेत्तर संस्था का बजट एवं अनुदान, आवंटन में निर्णायक भूमिका होने से राज्यों की स्थिति भिखारी जैसी बना दी गई है। आर्थिक सहायता, अनुदान, रियायती दर पर कर्ज, आपदा के समय सहायता देने जैसे वित्तीय मामले में केन्द्र द्वारा विरोधी दल के राज्य सरकारों के साथ सौतेले व्यवहार ने राज्यों की स्वायत्तता की माँग को बल प्रदान किया है। राज्यों के पास आय के साधन नहीं के बराबर है तथा विभिन्न करों का अधिकांश भाग केन्द्र के पास चला जाता है। राज्यों की माँग है कि राज्यों से वसूले गए करों में राज्य का हिस्सा 75 प्रतिशत होना चाहिए। पं. बंगाल के पूर्व वित्तमंत्री अशोक मित्र ने राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता के पक्ष में जोरदार तर्क देते हुए कहा कि केन्द्र को सभी

प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियंत्रण का अधिकार है। केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित भंडार भी है जिसमें वह घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि राज्यों के पास इस तरह के स्रोत नहीं हैं। यदि राज्यों को अधिक वित्तीय शक्तियाँ नहीं दी गई तो उन्हें उत्तरदायित्व सौंपने का कोई लाभ नहीं होगा।[9] अभी हाल में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में जय ललिता ने राज्यों की जर्जर वित्तीय स्थिति के लिए केन्द्र को जिम्मेवार ठहराया।[10] वास्तविकता यह है कि केन्द्र में गठबंधन सरकारों के दौर में राज्यों की राजनीतिक स्थिति तो मजबूत हुई है लेकिन आर्थिक मामलों में हालात जस के तस है। आज सारा विवाद आर्थिक संसाधनों के न्यायोचित एवं निष्पक्ष बटबारें को लेकर है। बिहार का उदाहरण सामने है। बटबारे के बाद सारे कल-कारखाने खान-खनिज झारखंड में चले गए। बिहार आर्थिक संसाधनों के मामले में कंगाल हो गया। ऐसे में बिहार की वर्तमान सरकार केन्द्र से 'विशेष राज्य' का दर्जा देने हेतु गुहार लगा रही है जिससे राज्य में आर्थिक विकास की गति तेज हो सके, लेकिन राजनीतिक कारणों से केन्द्र ऐसा करने से इंकार कर रहा है। ऐसे तमाम प्रश्न हैं जो राज्यों को उद्देलित करते रहते है।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. नीलम संजीव रेड्डी : राष्ट्रपति के संस्मरण, 1989 पृ. 79 (यह विचार उन्होंने 31 अक्टूबर 1981 को राष्ट्रीय एकता पर सरदार पटेल मेमोरियल लेक्चर देते हुए व्यक्त किया था)
2. नंदकिशोर त्रिखा 'संघ और राज्य-एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नहीं' नवभारत टाइम्स, 23 दिनांक 1981, पृ. 41
3. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, दिल्ली, 11 जनवरी 1973
4. हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड दिल्ली, 26 दिसम्बर 1973
5. दि हिन्दुस्तान टाईम्स, पटना 7 जून 2009
6. रिपोर्ट ऑफ सेंटर स्टेट रिलेशन्स इन्वारी कमिटी (तमिलनाडु सरकार, 1971) पृ. 215-27
7. दिनमान, दिल्ली, 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर, 1977 पृ. 21-22
8. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, पटना, 18 फरवरी 2012 (ममता बनर्जी, जय ललिता, नवीन पटनायक, नरेन्द्र मोदी, प्रकाश सिंह बादल, मायावती एवं शिवराम सिंह चौहान ने NCTE के गठन का विरोध किया है।)
9. दि टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 12 जुलाई 1977
10. फ्रंटलाइन, चेन्नै, 25 दिसम्बर 2011, पृ. 18-19

भूमिगत जल संकट
समस्या और समाधान

गरीबनाथ राय

व्याख्याता, भूगोल विभाग, जवाहर लाल नेहरू मेमोरियल कॉलेज, नवाही, सुरसंड, सीतामढ़ी

इसे भारत की कुछ अनजानी विडंबनाओं में से एक कह सकते हैं। पिछले कुछ सालों में भारतीय राज्य ने सार्वजनिक सिंचाई एजेंसियों के माध्यम से सतही जल प्रणाली का प्रबंधन अपने हाथ में ले लिया है। इसने सिंचाई प्रणालियों- बांध, तालाब, नहर आदि के निर्माण, इनके रख-रखाव और पानी की आपूर्ति का काम संभाल लिया है।

इसका अर्थ यह है कि इसने पिछले कुछ सालों में जल संसाधनों को ग्रामीण समुदायों से लेकर अपने पास रख लिया है। विडंबना यह है कि राज्य ने यह अधिकार ले लिया है, फिर भी लोगों ने पानी अपने नियंत्रण में रखा है। हर व्यक्ति के जमीन के नीचे का पानी उसके अधीन है और देश में ज्यादातर जमीन पर सिंचाई उसी पानी से होती है। इसका अर्थ यह है कि सरकार का नियंत्रण एक भ्रम मात्र है।

फिलहाल अपने देश के सिंचित इलाके के तीन-चौथाई क्षेत्र में भूमिगत जल से सिंचाई होती है, सतही जल से नहीं। इस जल से सिंचाई का बुनियादी ढांचा किसी भी तरह से कर्ज के माध्यम से धन जुटाकर (धनी और गरीब) सभी किसानों ने बना लिया है। इससे यह बहस तो हो सकती है कि राज्य की ओर संस्थागत मदद न मिलने के कारण किसान साहूकारों या कर्जदाता एजेंसियों के चंगुल में फंसे हुए हैं और उनकी गरीबी बरकरार है। लेकिन हकीकत यह भी है कि हाल में हुए तीसरी लघु सिंचाई जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि इस समय देश में एक करोड़ 90 लाख कुएं और गहरे ट्यूबवेल हैं। लेकिन पानी के शासन को समझने के लिए हमें अनिवार्य रूप से यह समझना होगा कि क्यों सिंचाई का अर्थशास्त्र मौजूदा तकनीक की सीमाओं से जुड़ा हुआ है। यह जरूरी इसलिए है, क्योंकि यह इसका असर दूसरे क्षेत्रों मसलन ऊर्जा उत्पादन, बिजली आपूर्ति आदि में भी देखने को मिलता है। यह मान लिया गया है कि पानी के लिए बुनियादी ढांचे में होने वाला निवेश सिंचाई के बुनियादी ढांचे के बढ़ते खर्च और राज्य के निवेश में आने वाली कमी की वजह से संदिग्ध हो गया है।

10वीं योजना की मध्यावधि समीक्षा में बताया गया है कि सिंचाई की सुविधा के विस्तार का पूंजीगत खर्च प्रति हेक्टेयर 40 हजार रुपये से बढ़कर ढाई लाख रुपये हो गया है और भंडारण की सुविधा की जरूरत पिछले एक दशक में दोगुनी हो गयी है। इसमें विस्थापितों के पुनर्वास और जैव विविधता के क्षरण की भरपाई में खर्च होने वाली रकम को नहीं जोड़ा गया है।

जैसे-जैसे सिंचाई के बुनियादी ढांचे के निर्माण का खर्च बढ़ता गया, किसानों से इसकी लागत, खर्च और इसके रख-रखाव के खर्च की वसूली संभव नहीं रही। ज्यादातर राज्यों में सिंचाई के काम देखने वाली एजेंसियां पिछले साल रख-रखाव के खर्च का महज 30 फीसदी ही किसानों से वसूल पायीं।

इसकी वजह से उनका क्षरण होने लगा। आज स्थिति यह है कि भूमिगत जल से संचालित नहरों की हालत खराब है और उनकी मरम्मत की बेहद सख्त जरूरत है। इसलिए आश्चर्य नहीं है कि सिंचाई के बुनियादी ढांचे की क्षमता और इसके वास्तविक इस्तेमाल के बीच का अंतर बढ़ता जा रहा है। यह सिमट कर एक करोड़ 40 लाख हेक्टेयर रह गया है, जो कुल क्षमता का महज 20 फीसदी है। दूसरी ओर सतही जल से सिंचाई के सिस्टम में पानी ढोकर काफी दूर ले जाना होता है वह भी घाटे में है और अक्षम साबित हो चुका है। एक अनुमान के मुताबिक सतही सिंचाई प्रणाली 35-40 फीसदी क्षमता से काम कर रही है।

चूंकि पूंजी और संसाधनों की कमी है, इसलिए सभी तक सुविधा पहुंचाना संभव नहीं है। आज स्थिति यह है कि 45 फीसदी खाद्यान्न का उत्पादन उन इलाकों में होता है, जहां बारिश के पानी से ही सिंचाई होती है। गरीबों का जीवन इसी उत्पादन से चलता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सतही सिंचाई प्रणाली में किये गये निवेश ने समृद्धि के चंद टापू तैयार किये, लेकिन स्थानीय स्तर पर खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने की दिशा में बहुत कम योगदान किया।

इसी वजह से भूमिगत सिंचाई की प्रणाली शुरू हुई। यह सफल रही क्योंकि यह लोगों के हाथ में था। वे अपनी जरूरत के समय इसका इस्तेमाल कर सकते थे। अगर उनके ट्यूबवेल चलाने के लिए बिजली नहीं है तो वे डीजल से मशीन चलाते हैं या भाड़े पर जेनरेटर ले आते हैं और जमीन से पानी खींचते हैं। यह जानी हुई हकीकत है कि जो जितना सक्षम किसान है वह भूमिगत जल का उतना ही आसानी से इस्तेमाल करता है।

इसका खर्च बहुत कम है क्योंकि यह आसानी से स्थानीय स्तर पर उपलब्ध है। कई मायनो में भूमिगत जल के जरिए होने वाली सिंचाई सबसे बेहतर वितरण का विकेंद्रित विकल्प है, लेकिन इसकी शर्त यह है कि इसका प्रबंधन समझदारी से हो।

इस संसाधन के सघन इस्तेमाल का अनिवार्य नतीजा यह हुआ है कि पूरे देश में भूमिगत जल का स्तर तेजी से गिरा है। तकनीक ने ज्यादा से ज्यादा गहराई से पानी खींचने की सुविधा दी है और सब्सिडी से मिलने वाली ऊर्जा ने उन्हें ज्यादा पानी खींचने के लिए प्रेरित किया है। अध्ययन बताते हैं कि जहां सस्ती बिजली उपलब्ध है, वहां हर फसल के लिए दोगुना पानी खींचा गया है उन जगहों के मुकाबले जहां डीजल के इस्तेमाल से पानी खींचा जाता है।

हम कानून बनाकर इस इस्तेमाल को नियंत्रित कर सकते हैं। एक करोड़ 90 लाख उपभोक्ताओं को नियंत्रित करना मुश्किल जरूर है पर असंभव नहीं है। हमें यह समझना होगा कि भूमिगत जल एक सीमित संसाधन है और इसके लिए कुओं को रीचार्ज करने की जरूरत होती है, इसलिए इसे एक स्थायी संसाधन बनाये रखने के लिए इसका सालाना इस्तेमाल सीमित करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें भूमिगत जल का इस्तेमाल बैंक की तरह करना होगा यानी इसका ब्याज इस्तेमाल करें और मूल धन को बचाए रखें।

लेकिन यहां विडंबना दोहरी हो जाती है। एक तरफ सिंचाई की सतही प्रणाली की जगह भूमिगत जल की प्रणाली ने ले ली है और दूसरी ओर सिंचाई के अन्य साधन जैसे कुएं, तालाब और समुदाय आधारित विकेंद्रित वाटर-हार्वेस्टिंग सिस्टम में गिरावट आई है। जबकि हकीकत यह है कि ये साधन भूमिगत जल को रीचार्ज करने में भी काफी मददगार होते हैं। इसका मतलब है कि हम जमीन के नीचे से ज्यादा से ज्यादा पानी खींच रहे हैं और उसे कम से कम रीचार्ज कर रहे हैं। अगर अपनी पारंपरिक प्रणालियों का सम्मान नहीं करेंगे, तो हमारे पानी का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा। पारंपरिक प्रणालियों में वर्षा के पानी को रोकने के हजारों माध्यम होते थे और विभिन्न किस्म की संरचनाएं होती थीं, जो अब विलुप्तप्राय हैं। स्पष्ट है कि हमें इसके अर्थशास्त्र को समझने के लिए तकनीक की राजनीति को समझना होगा।

References

- Adams, Robert McCormick, Irrigation's Impact on Society, Tucson, University of Arizona Press, 1974.
- Allan, Tony, The Middle East Water Question: Hydropolitics and the Global Economy, London, I.B. Tauris, 2002.
- Bagis, Ali Ihsan (ed.), Water as an element of cooperation and development in the Middle East, Ankara, Ayna Publications, 1994.
- Berkoff, Jeremy, A strategy for managing water in the Middle East and North Africa, Washington, DC, World Bank, 1994.
- Bullock, John and Darwish, Adel, Water Wars: coming conflicts in the Middle East, London, Victor Gollancz, 1999.
- Chesnot, Christian, La bataille de l'eau au Proche-Orient, Paris, L'Harmattan, 1993.
- Conway, D., Climate change and water resources in the Nile basin, London, University of London, 1993.
- Garfinkle, Adam M., War, water, and negotiation in the Middle East: the case of the Palestine-Syria border 1916-1923.
- Hillel, Daniel, Rivers of Eden : the struggle for water and the quest for peace in the Middle East, NYC, Oxford University Press, 1994.
- Isaac, J. (ed.), Water and peace in the Middle East: proceedings of the First Israeli-Palestinian International Conference on Water, Zurich, Switzerland, 10-13 December 1992, Amsterdam, Elsevier, 1994.
- Majzoub, Tarek and Guy Le Moigne, Les fleuves du Moyen-Orient : situation et prospective juridico-politiques, Paris, L' Harmattan, 1994.
- Naff T. and Matsow R., Water in the Middle East : Conflict or Cooperation?, Boulder, 1990.

भारत में जल संकट
समस्या और प्रबंधन

सुशान्ता प्रियदर्शिनी

शोध छात्रा, भूगोल विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

जैसे-जैसे गर्मी बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में पेयजल का संकट भी बढ़ता जा रहा है। बात चाहे देश की राजधानी दिल्ली की हो अथवा सुदूर इलाकों के गांवों की–हर जगह पेयजल की किल्लत पिछले वर्षों के मुकाबले अधिक नजर आती है। यह घोर निराशाजनक है कि आजादी के साठ वर्षों के बाद भी देश की एक तिहाई जनता को पीने के लिए स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं है। इसी तरह करीब 70 प्रतिशत आबादी सामान्य जन सुविधाओं से भी वंचित है। शायद यही कारण है कि प्रतिवर्ष जल जनित बीमारियों के चलते 15 लाख बच्चे काल के गाल में समा जाते हैं और काम के अनगिनत घंटों का नुकसान होता है। समस्या यह है कि केंद्र एवं राज्य सरकारें पेयजल संकट को दूर करने के लिए गंभीर नहीं, जबकि वे इससे परिचित हैं कि आने वाले समय में पानी के लिए युद्ध छिड़ सकते हैं।

देश के विभिन्न हिस्सों में पेयजल किल्लत इस कदर बढ़ रही है कि उसका लाभ उठाने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियां आगे आ गई हैं। कुछ ने जमीन से पानी निकाल कर तो कुछ ने सामान्य जल आपूर्ति के जरिये मिलने वाले पानी को ही बोतल बंद रूप में बेचना शुरू कर दिया है। देश में बोतल बंद पानी का व्यवसाय लगातार बढ़ता जा रहा है। नि:संदेह यह कोई खुशखबरी नहीं। तमाम शहरी इलाकों से लेकर ग्रामीण क्षेत्रों में औसत गृहणियों का अच्छा-खासा समय पेयजल एकत्रित करने में बर्बाद हो जाता है। चिंताजनक यह है कि इस स्थिति में सुधार होता नहीं दिखता। पेयजल के मामले में ऐसे चिंताजनक हालात तब हैं जब पानी पर अधिकार जीवन के अधिकार के बराबर है। सरकारों की यह जिम्मेदारी है कि वे हर नागरिक को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराएं, लेकिन वे इसके लिए सजग नहीं। भारत में पेयजल संकट बढ़ती आबादी और कृषि की जरूरतों के कारण भी गंभीर होता जा रहा है। करीब 65-70 प्रतिशत जल कृषि कार्यों में खप जाता है। इसके अतिरिक्त उद्योगों के संचालन में भी जल का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। विडंबना यह है कि न तो उद्योग एवं कृषि क्षेत्र को अपनी आवश्यकता भर पानी उपलब्ध हो पा रहा है और न ही आम आदमी को। आजादी के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में पेयजल की समस्या का समाधान करने के लिए गांव-गांव में हैंडपंप लगाने की जो अनेक योजनाएं शुरू की गयी। वे अब असफल नजर आ रही हैं। कृषि कार्यों के लिए भू-जल के लगातार दोहन ने उसका स्तर कम कर दिया है। अब हैंडपंप थोड़े समय में ही अनुपयोगी साबित हो जाते हैं। समस्या कवेल भू-जल के गिरते स्तर की नहीं, बल्कि उसके प्रदूषित होते जाने की भी है। जमीन से जिस मात्रा में जल का दोहन किया जा रहा है उतनी मात्रा में प्रकृति से हासिल नहीं हो

रहा है और यदि होता भी है तो उसके संरक्षण का काम सही ढंग से नहीं हो रहा। ऐसा नहीं है कि अकेले भारत ही पेजयल और सिंचाई के पानी की कमी का सामना कर रहा हो। इस तरह की समस्या से अन्य देश भी ग्रसित हैं। यद्यपि सभी इससे परिचित हैं कि धरती पर जीवन है तो जल के कारण ही और मनुष्य जल के बगैर नहीं रह सकता, फिर भी जल प्रबंधन में ढिलाई बरती जा रही है। तमाम अनुसंधान के बावजूद मनुष्य अभी तक जल का उचित प्रबंधन करना नहीं सीख पाया है।

हमारे देश में जल संकट जब-तब गंभीर रूप ले लेता है। बात चाहे कावेरी जल विवाद के कारण तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच की तनातनी की हो अथवा यमुना जल के बंटवारे को लेकर दिल्ली एवं हरियाणा के बीच की– ऐसे विवाद लगातार बढ़ते जा रहे हैं। अब तो जल बंटवारे को लेकर राजनीति भी होने लगी है और एक प्रांत के लोगों को दूसरे प्रांत के लोगों के समक्ष खड़ा करने में संकोच नहीं किया जा रहा है। इन दिनों होगेंक्काल पेयजल परियोजना को लेकर तमिनाडु और कर्नाटक के बीच यही हो रहा है। नदियों और अन्य जल स्रोतों का पानी राष्ट्रीय धरोहर होना चाहिए, लेकिन अनेक राज्य ऐसा मानने से इनकार कर रहे हैं। नदियों के सुविधाजनक जल बंटवारे को लेकर अनेक बार उच्च स्तर पर चर्चा हुई, लेकिन आम सहमति का अभाव अभी भी कायम है। फिलहाल ऐसे आसार नजर नहीं आते कि पेयजल और सिंचाई के जल की कमी को दूर करने के लिए केंद्र और राज्य सरकारें आम सहमति के आधार पर कोई उपाय कर सकेंगी। एक अन्य समस्या यह भी है कि नदियों को जोड़ने और बांध बनाने के मामले में मतभेद ही अधिक नजर आते हैं। रही-सही कसर वर्षा जल के संरक्षण के उपायों पर अमल न करने तथा पुराने जल स्रोतों की उपेक्षा ने पूरी कर दी है। वर्षा जल संरक्षण और पुराने जल स्रोतों को बचाए रखने की दिशा में जो भी प्रयास हो रहे हैं वे आधे-अधूरे और अपर्याप्त हैं। हमारे देश को यह प्राकृतिक वरदान है कि वर्षा के दिनों में उसे पर्याप्त मात्रा में जल प्राप्त हो जाता है, लेकिन उसका एक बड़ा हिस्सा विभिन्न नदियों के जरिये समुद्र में व्यर्थ चला जाता है। चूंकि बारिश के पानी का संग्रह नहीं किया जाता इसलिए गर्मियां आते ही पानी की किल्लत पैदा हो जाती है। इस कारण और भी, क्योंकि जल संसाधन के मामले में जो तत्परता दिखानी चाहिए उसका अभाव है। पेयजल से लेकर जल संरक्षण की योजनाओं पर अत्यंत शिथिलता बरती जा रही है। दो वर्ष पूर्व आम बजट में ऐसी योजनाओं के लिए तमाम प्रावधान किए गए थे, लेकिन इस बजट में वे सिरे से गायब हैं। देश को विकसित राष्ट्र बनाने में जल संसाधन का उतना ही महत्त्व है जितना ऊर्जा और अन्य साधनों का, लेकिन पता नहीं क्यों जल प्रबंधन एक उपेक्षित मुद्दा बना हुआ है? यह स्थिति देश के विकास की रफ्तार को धीमा करने वाली है। गनीमत है कि जल संकट मामले में स्थिति इतनी गंभीर नहीं हुई कि यह कहा जाए कि पानी सिर के ऊपर से बहने लगा है, लेकिन बहुत दिनों तक हाथ पर हाथ रखकर भी बैठे नहीं रहा जा सकता। सर्वप्रथम कृषि क्षेत्र में इस्तेमाल हो रहे जल के उपयोग को नियंत्रित करना होगा। इसके लिए फसल के चयन में बदलाव के साथ सिंचाई के आधुनिक तरीकों का इस्तेमाल करना होगा। बरसाती पानी को संजोकर रखने तथा गंदे पानी को दोबारा प्रयोग में लाने योग्य बनाने की दिशा में गंभीरतापूर्वक काम करने की जरूरत है। इसी तरह भू-जल को प्रदूषण से बचाने पर भी प्राथमिकता के आधार पर ध्यान देना आवश्यक है। आवश्यकता पड़ने पर समुद्र के जल को सिंचाई के पानी के रूप में इस्तेमाल करने की विधि भी विकसित की जानी चाहिए, लेकिन यह ध्यान रहे कि ऐसी कोई विधि पर्यावरण को क्षति न पहुंचाए। यदि जल प्रबंधन के लिए ठोस कदम नहीं उठाए गए तो पानी का संकट लोकतंत्र के लिए संकट पैदा कर सकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वर्तमान में जल संसाधन राजनीतिक दलों

के एजेंडे से बाहर नजर आता है। न केवल पेयजल और सिंचाई के पानी के संकट को दूर करने में शिथिलता बरती जा रही है बल्कि जल संसाधन की जिम्मेदारी योग्य और अनुभवी हाथों में देने से भी इनकार किया जा रहा है। यह स्थिति अपने हाथों अपने भविष्य को संकट में डालने वाली है।

गिरता भू-जल स्तर खतरे की दस्तक

भारतीय संस्कृति में हवा और पानी को सर्वसुलभ नियामत माना गया है, लेकिन लगता है कि ये नियामतें भी अब सुलभ नहीं रहने वाली हैं। सेंट्रल ग्राउंड वाटर बोर्ड ने देश के करीब 800 ऐसे क्षेत्रों को रेखांकित किया है जहां भू-जल का स्तर तेजी से नीचे गिर रहा है। इन ब्लॉक्स में से कई मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, बिहार, दिल्ली, तमिलनाडु आदि राज्यों में हैं। देश के बड़े हिस्से में भू-जल का स्तर नीचे जाने से जलसंकट पैदा होने के साथ-साथ देश का पारिस्थितिकी तंत्र भी गड़बड़ा रहा है। यह संकट इतना गहरा गया है कि अब केंद्र सरकार के लिए भी चिंता का विषय बन गया है और सरकार एक आकस्मिक योजना बना रही है। केंद्रीय जल संसाधन मंत्री सैफुद्दीन सोज ने सभी संबंधित राज्यों के मुख्यमंत्रियों को फोन करके समस्या की गंभीरता से अवगत कराते हुए कुछ उपाय भी सुझाए हैं। यदि केंद्र की पहल पर राज्य सरकारें ध्यान देंगी तो निश्चित ही भू-जल का स्तर ऊपर लाने में मदद मिलेगी। वैसे सरकार ने इनमें से 43 ब्लॉक्स में पहले ही भू-जल के दोहन पर पाबंदी लगा दी गयी है और कुछ और ब्लॉक्स की पहचान की जा रही है, जहां तत्काल पाबंदी लगाने की जरूरत है। निश्चित ही इन प्रयासों से भू-जल के संवर्धन में मदद मिलेगी लेकिन जनसहयोग और जनचेतना के बिना कोई भी सरकारी प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो सकता है। सेंट्रल ग्राउंड वाटर बोर्ड द्वारा इन 800 क्षेत्रों की पहचान के बाद हम समझ सकते हैं कि भू-जल-संपदा के मामले में देश की तस्वीर कितनी भयावह हो चुकी है, लेकिन मामला अभी हाथ से बाहर नहीं गया है। भू-जल के संवर्धन और इसके दोहन में संयम से तस्वीर बदली जा सकती है। केंद्र सरकार ने भू-जल के संरक्षण, संवर्धन और रेन वाटर हार्वेस्टिंग के संदर्भ में एक मॉडल बिल भी राज्यों को भेजा है। इन सरकारी प्रयासों के साथ हमें खुद भी असरकारी प्रयास करने होंगे। सबसे पहले तो हमें पानी की एक-एक बूंद के महत्त्व को समझना होगा। जिस दिन यह जगरूकता आ जायेगी, लोग समझ जायेंगे कि भू-जल के दोहन में किस तरह के संयम की जरूरत है और रेन वाटर हार्वेस्टिंग से क्या फायदे हैं? तब वे यह भी मालूम कर लेंगे कि पानी बचाने के लिए किस तरह के फसल-चक्र को अपनाने की जरूरत है।

References

- Water Management in India/P.C. Bansil
- Agricultural Drainage Water Management in Arid and Semi-Arid Areas-Kenneth K. Tanji and Neeltje C. Kielen
- Traditional Water Management Systems of India/edited by Kalyan Sharma
- Drainage and Irrigation Water Management/edited by Virendra Kumar

गृह विज्ञान और संचार क्रान्ति

सिंगला प्रभा

नेट, शोधार्थी, पटना विश्वविद्यालय, पटना

आज के वैश्विक परिदृश्य में महानगर से लेकर गाँव के चैपाल तक संचार के विभिन्न माध्यमों के प्रयोग ने हमारे समाज के दिनचर्या को ही बदल डाला है।

गृहविज्ञान में ''संचार'' एक प्रकार की शिक्षा है जिसका उद्देश्य मनुष्यों के मानसिक दृष्टिकोण तथा पद्धति में परिवर्तन लाना है। यह ग्रामीण लोगों के राष्ट्रीय साधनों को अपने उचित प्रयोग द्वारा अपने प्रयासों में रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने के लिए प्रेरणा देती है। संचार का सीधा संबंध शिक्षा से है। शिक्षा से मनुष्य के व्यवहार सोचने का ढंग एवं उपक्रम में परिवर्तन आता है।

''संचार'' की उत्पत्ति 1908 ई० में राष्ट्रीय आयोग की स्थापना द्वारा सर्वप्रथम अमेरिका के ''राष्ट्रपति रूजवेल्ट'' ने ग्रामीण जनमत को शहरों में जाने से रोकने तथा ग्रामीण जनता को कृषि एवं ग्रामीण विकास के कार्यों में लगाने में उपाय सुलझाने के लिए किया था। आयोग ने यह महसूस किया कि गाँव के लोगों को गाँव में ही रहना चाहिए यह अनिवार्य है जिससे कि कृषि का विकास हो सके।

आयोग के सिफारिस के अनुसार 1914 ई० में समिति लिवर ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार स्कूलों में बाहर की शिक्षा प्रारम्भ की गई जिसमें कि गाँव के लोग खेतों तथा घर का विकास विकसित ढंग से कर सके। संचार कार्य का मुख्य उद्देश्य लोगों को उनके लक्ष्य तक प्रोत्साहित करना है।

''संचार'' गृहविज्ञान विस्तार शिक्षा का सिद्धान्त है। प्रसार शिक्षा की सफलता एवं अधिकाधिक ग्रामीण महिलाओं की सहभागिता के लिए गृहविज्ञान प्रसार कार्य को निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए।

(1) प्राथमिक आवश्यकता का सिद्धान्त–प्राथमिक आवश्यकता के सिद्धान्त में विभिन्न अनुसंधानों द्वारा प्रसार कार्यकर्मियों को चाहिए कि कार्य आरम्भ करने से पूर्व ग्रामीण महिलाओं की अनिवार्य आवश्यकताओं को समझ ले। यदि ग्रामीण बच्चे दस्त से पीड़ित है और उस क्षेत्र में मलेरिया, टायफाइड, पीलिया जैसा रोग फैला है तो पहले उसके निवारण के उपाय बतायें।

(2) ग्रामीण महिलाओं के अनुभव जानने के सिद्धान्त–संचार द्वारा प्रसार कार्य-कर्ताओं को ग्रामीण महिलाओं पर केवल अपने विचार ही नहीं थोपने चाहिए, बल्कि उनसे आत्मीयता बढ़ाकर उनसे अनुभव जानने का प्रयत्न भी करना चाहिए। कई बातें ऐसी होती है। जिन्हें ग्रामीण वातावरण में रहकर वे भली-भाँति जानती है। गाँवों में जहाँ शहरी दवाई उपलब्ध नहीं होती, कई व्यक्तियों के घरेलु ग्रामीण, शीघ्र प्रभावकारी इलाज ग्रामीण स्त्रियों अधिक जानती है।

(3) आत्म निर्भरता का सिद्धान्त–संचार का उद्देश्य ही होता है कि मनुष्यों के मानसिक दृष्टिकोण तथा पद्धति में परिवर्तन लाकर आत्मनिर्भर बनाने में सहायता प्रधान करें। जैसे-आरम्भ में आर्थिक सहायता देकर तथा कच्चा माल देकर लघु उधोग शुरू कराने का उपाय बताया जाता है। तथा लोगों को प्रेरित किया जाता है कि छोटे-छोटे लघु उद्योग से पुरुष तथा महिला अपने को आगे बढ़ाकर एक मुकाम पर ले जाये।

(4) जाति धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त–गृहविज्ञान में संचार कार्यकताओं को चाहिए कि वे ग्रामीण समाज में वर्ग, जाति, धर्म के भेद भुलाकर सभी के कल्याण हेतु निष्पक्षता के साथ करे। जिन्हे सहायता की उत्थान की आवश्यकता हो उन सभी के लिए कार्य करे।

(5) यथास्थिति समायोजन का सिद्धान्त–गृहविज्ञान प्रसार कार्यमंत्री को यह सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र में सम्पूर्ण वातावण एवं परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक होता है। उनकी योग्यता, क्षमता एवं मानसिक स्तर जान लेना चाहिए, जैसे- यदि किसी गाँव के लोग साक्षार है तो वहाँ चार्ट पोस्टर, ग्राफ, नक्शों या ब्लैकबोर्ड का उपयोग भी शिक्षण हेतु किया जा सकता है। किन्तु यदि के आशिक्षित है तब कठपुतली फिल्में नृत्य, गीत, लोकगीत शिक्षण में अधिक प्रभावकारी माध्यम होंगें।

(6) सहभागीदारी का सिद्धान्त–''संचार'' द्वारा कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे ग्रामीण महिलाओं, महिला नेताओं के साथ मिलकर उनकी राय लेकर ही कार्यक्रम की रूपरेखा बनाएँ। ऐसा करने से ग्रामीण महिलाएँ स्वयं की महत्ता का अनुभव करेगी। कार्यक्रम में रुचि लेनी तथा अधिकतम सहयोग देगी। महिलाओं की भागीदारी की प्रशंसा करने से भी उनसे आत्मविश्वास पैदा होगा और' भविष्य में वे सदा सहयोग देने के लिए तत्पर रहेगी।

(7) प्रशिक्षित विशेषज्ञों का सिद्धान्त–''संचार'' प्रसार कार्यक्रमों के प्रभावकारी आयोजन के लिए आवश्यक है कि गृहविज्ञान विशेषज्ञों कृषि विशेषज्ञों, डॉक्टरों अथवा विषय-विशेषज्ञों को समय-समय पर बुलाकर ग्रामीणों से उनकी भेंट करवायी जायें। विशेषज्ञों द्वारा वे अधिक लाभान्वित होगें।

(8) स्थानीय संसाधनों का सिद्धान्त–ग्रामीण क्षेत्र में प्रसार कार्य करते समय गृहविज्ञान विशेषज्ञों को यथा स्थानीय संसाधनों का उपयोग ही करना चाहिए केवल अनिवार्य सहायता बाहर से ली जाए जैसे-फलों के बगीचे या साग सब्जियों की वाटिका लगाने के लिए ऐसी भूमि चुने जहाँ पानी के सिचांई के प्रबंध भी पास में ही हो तथा लोग भी आसपास ही रहते थे उसी प्रकार जहाँ बेकार पड़ा पोरवर हो निरर्थक घुमते किशोर हो वहाँ सफाई करके किशोरों के सहयोग से मत्स्य पालन कराया जा सकता है। उसी प्रकार ग्रामीण महिलाओं को पौष्टिक आहार बनाना सिखाते समय स्थानीय उपलब्ध अनाज, दालों, फल-सब्जियों का उपयोग भी बताना चाहिए। मानवीय अथवा मानवेतर जहाँ तक हो, स्थानीय संसाधनों का ही प्रयोग अधिक करना चाहिए।

(9) परिवार तक पहुँच का सिद्धान्त–''संचार'' द्वारा प्रसार शिक्षा कार्यक्रम की योजना इस प्रकार बनायी जाये कि परिवार के सम्पूर्ण लोग लाभान्वित हो सकें। तभी कार्यक्रम सफल होगा। जैसे शाम के समय ग्रामीण महिलाओं के प्रशिक्षण का कोई कार्यक्रम आयोजित हो तो उसी समय उनके परिवार के बच्चों के लिए भी कोई आयोजन होना चाहिए ताकि बच्चे इधर-उधर भटके नहीं और गृहणियाँ भी निश्चिन्त होकर गोष्ठिया में भाग ले सके। महिलाओं में यह स्वभाव भगवान का दिया

हुआ वरदान है कि अगर महिलायें एक जगह जमा होगी तो वो आपस में बातचीत किये बर्गर रह ही नहीं सकती है उस स्थिति में बातचीत के माध्यम से संवाद एक दूसरे के बीच संचालित होता है। तथा आपस में जानकारी प्राप्त होती है।

(10) स्वयं करके सीखने का सिद्धान्त–प्रसार कार्यों में स्वंय आये सीखने का सिद्धान्त अधिक प्रभावशाली होता है। ग्रामीण महिलाओं को पहले प्रदर्शन द्वारा कोई चीज बताएं जैसे अमरूद की जैली बनाना, तत्पश्चात् उनसे कहे कि वे अपने-अपने घरों में स्वयं बनाकर अथवा अगली बार सारी आवश्यक सामग्री उनके समक्ष रखकर अपने निर्देशन में उनसे बनवाएं। स्वयं करके वे अधिक अच्छी तरह सीख सकेंगी तथा उनमें आत्मविश्वास पैदा होगा।

किसी भी राष्ट्र के विकास का अनुमान वहाँ के जनसमुदाय की सर्वांगीण प्रगति सामाजिक, आर्थिक स्तर स्वास्थ्य इत्यादि को देखकर लगाया जा सकता है। जिस प्रकार रूस के तकनीकी विकास के पीछे वहाँ कि तकनीकी संस्थाओं एवं जापान के औद्योगिक विकास के पिछे वहाँ के उद्योगों का योगदान है उसी प्रकार भारत के विकास में कहीं न कहीं से प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से उनकी शिक्षण संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

यदि भारत के जनजीवन का पारिवारिक स्तर सुधरा है, ऊँचा उठा है तो इसका दोष कुछ सीमा तक गृह विज्ञान शिक्षण को भी जाता है। जो अन्ततः राष्ट्रीय विकास को प्रगति करता है।

विकास के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वप्रथम योगदान तथा महत्त्वपूर्ण योगदान गृहविज्ञान का ही होता है। संस्थागत शिक्षण का ढांचा अत्यन्त ही सैद्धान्तिक होता है। संचार नवीनतम जानकारियों से परिपूर्ण होने के कारण इनका उद्देश्य व्यक्ति को तुरंत इनसे परीचित करा देना है। उदाहरणार्थ उर्वरक, खाद, बीज, कीटनाशाक आदि के जैसी ही कोई नवीन किस्म का आविष्कार होता है।, उनकी जानकारी शीघ्र-अतिशीघ्र कृषकों तक पहुँचाने का। इसी प्रकार लघु उद्योग से जुड़े लोगों को व्यवसाय संबंधी जानकारी ऋण सुविधाओं की उपलब्धता बिक्री व्यवस्था की जानकारी देना।

संचार क र्य की सफलता अनेक तत्वों पर निर्भर करता है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को उनके लक्षय तक सफलतापूर्वक पहुँचाने के लिए मन की भावनाओं को प्रेरित करना होता है। संचार ही शिक्षा है तथा मानवीय व्यवहार में अधिकतम परिवर्तन करने की विधि ही शिक्षा है।

References:

Clark, Barbara: *Optimizing Learning in Home Science*, Columbus, Merrill Publishing Co. Inc., 1988.

Csikszentmihalyi, Mihaly: *Flow, The Psychology of Optimal Experience*, NY, Harper and Row, 1990.

DeBono, Edward: *Lateral Thinking in Curriculum of Home Science*, New York, Harper & Row, 1970.

Donaldson, Gordon A. : *Cultivating Leadership in Schools*, New York, College Press, 2001.

मानव जीवन में पोषण प्रबंध

कुमारी रेखा

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

पर्याप्त भोजन, कपड़े और आवास जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं हैं जिनमें से भोजन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भोजन न सिर्फ भूख को संतुष्ट करता है बल्कि विभिन्न गतिविधियों के लिए पौष्टिक तत्व उपलब्ध कराता है और हमें स्वस्थ रखता है। खाना ग्रहण करने, हजम करने और अवशोषण करने के बाद शरीर इसे विभिन्न कार्यों के लिए उपयोग करता है। यह शरीर के कार्यों को करने और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पौष्टिक तत्व उपलब्ध कराता है। पोषण, भोजन और स्वास्थ्य से उसके संबंध का विज्ञान है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य की संकल्पना को इस प्रकार परिभाषित किया है–''न सिर्फ बीमारी या अशक्तता का अभाव बल्कि संपूर्ण भौतिक, सामाजिक और मानसिक रूप से अच्छे रहन-सहन की दशा।'' पोषण और स्वास्थ्य पर्यायवाची शब्द हैं, परंतु अच्छे पोषण के बिना स्वास्थ्य बेहतर नहीं हो सकता।

पोषण ऐसा विज्ञान है जो प्रकृति एवं भोजन में पौष्टिक तत्वों के वितरण, उनके उपापचयी प्रभाव और अप्रर्याप्त खाना खाने के परिणामों से संबंधित है।

पौष्टिक तत्व भोजन में पाए जाने वाले वे रासायनिक यौगिक हैं जो भोजन में अवशोषित होकर स्वास्थ्य को बेहतर बनाते हैं। कुछ ऐसे आवश्यक पौष्टिक तत्व होते हैं जिन्हें हमारा शरीर संश्लिष्ट नहीं कर सकता। उनकी आपूर्ति आहार के द्वारा ही की जानी चाहिए। आवश्यक पौष्टिक तत्वों में विटामिन, खनिज पदार्थ, एमिनो अम्ल, वसीय अम्ल और ऊर्जा के स्रोत के रूप में कुछ कार्बोहाइड्रेट शामिल हैं। अनावश्यक पौष्टिक तत्व वे होते हैं जो शरीर अन्य यौगिकों से संश्लिष्ट कर सकता है तथापि वे आहार से भी व्युत्पन्न किए जा सकते हैं।

पौष्टिक तत्व आमतौर पर वृहत पौष्टिक तत्वों और सूक्ष्म पौष्टिक तत्वों में विभाजित किए जा सकते हैं। वृहत पौष्टिक तत्व आहार और ऊर्जा की आपूर्ति संगठित करने के साथ-साथ शरीर के विकास और उसके विभिन्न क्रियाकलापों के लिए जरूरी पौष्टिक तत्व बनाते हैं। कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, सूक्ष्म खनिज तत्व और पानी वृहत पौष्टिक तत्व हैं। सूक्ष्म पोषक तत्वों में विटामिन (पानी और वसा दोनों में घुलनशील) और आवश्यक सूक्ष्म खनिज तत्व शामिल होते हैं। इन पौष्टिक तत्वों की पर्याप्त आपूर्ति अच्छे स्वास्थ्य कार्यात्मक दक्षता एवं उत्पादकता के लिए बुनियादी मूलभूत जरूरत है।

पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन करने से पौषणिक स्थिति बढ़ती है और उसके फलस्वरूप मनुष्यों की सेहत अच्छी रहती है। पौष्टिक और पर्याप्त भोजन वह संतुलित आहार के जरिए अच्छा पोषण मिलता है जिससे आवश्यक और अनावश्यक पौष्टिक तत्व सही व संतुलित रूप में शरीर को मिलते हैं। उच्च स्तर के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए ऐसा होना बहुत जरूरी है।

पोषण न सिर्फ समुचित शारीरिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है बल्कि यह पर्याप्त प्रतिरक्षा क्षमता और ज्ञानात्मक विकास भी सुनिश्चित करता है।

शाकाहारी आहार अधिक पौष्टिक होते हैं। पादप उत्पाद जटिल कार्बोहाइड्रेट (आहारीय रेशे), B-कैरोटीन जैसे विटामिन, विटामिन E, एक्रोबिक अम्ल, थियामिन, राइबोफ्लोविन और फोलिक अम्ल तथा अनेक खनिज पदार्थ विशेषरूप से लोहा, कैल्शियम, सोडियम, पोटेशियम और आयोडीन का समृद्ध स्रोत होते हैं। वे पादप रसायनों और एंटी-ऑक्सीडेंट्स का भी समृद्ध स्रोत होते हैं। इसके अतिरिक्त, पादप मूल के ज्यादातर खाद्य-पदार्थों में (तेल और तिलहनों को छोड़कर) वसा की अधिक मात्रा नहीं होती है और इनमें मौजूद वसा अपाश्चुरीकृत वसीय अम्लों-MUFAs और PUFAs में समृद्ध होते हैं जो अच्छी सेहत बनाए रखने के लिए भी जरूरी होते हैं। उनमें से कुछ आवश्यक वसीय अम्ल के नाम से जाने जाते हैं शाकाहारी खाद्य पदार्थों में कोलेस्टेरॉल नहीं होता है।

शाकाहार रक्त में कोलेस्टेरॉल के स्तर को सामान्य सीमा में रखता है और हृदय धमनी की बीमारियों से बचाने में मदद कर सकता है। जिगर हमारे शरीर में कोलेस्ट्रॉल संश्लेषण का प्रमुख स्थान है। जिगर में संश्लिष्ट कोलेस्ट्रॉल का कुछ अंश पित्त अम्लों और पित्त लवणों में मिल जाता है। भोजन को पचाने और उसके अवशोषण में मदद करने के लिए आंत में उपस्थित पित्त भोजन को पचाने में मदद करता है। भोजन के पचने के बाद वह जिगर में जाता है जहां उसे फिर से अवशोषित किया जाता है। आहारीय रेशे इस चक्र को बाधित करते हैं ताकि पित्त लवण को फिर से आंत में अवशोषित होने से बचाया जा सके। इसलिए ये बिना पचे भोजन के साथ मलोत्सर्जित हो जाते हैं। रेशे कोलेस्ट्रॉल उत्सर्जन को बढ़ाते हैं और जिगर में कोलेस्ट्रॉल की उपलब्धता भी कम करते हैं ताकि संचरित रक्त में कोलेस्ट्रॉल समृद्ध कण (लाइपोप्रोटीन) मिलाया जा सके। हाल ही में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि आंत्रिक विषाणु के जरिए रेशों का किण्वन होता है जिसके फलस्वरूप शॉर्ट चेन वसीय अम्ल (SFAcs) बनते हैं जो जिगर में कोलेस्ट्रॉल संश्लेषण को बाधित कर सकते हैं। इससे इस तथ्य को बल मिलता है कि साबुत अनाज, दलहन (छिलके सहित) और अनेक फल और सब्जियां आहारीय रेशे का समृद्ध स्रोत होते हैं। इसके अतिरिक्त फल और सब्जियां बी-कैरोटीन, विटामिन ई, विटामिन सी, और पादप रसायनों का समृद्ध स्रोत होते हैं जिनमें एंटीऑक्सीडेंट गुण होते हैं यानी वे रक्त कोलेस्ट्रॉल के ऑक्सीकरण को रोकते हैं। यह कोलेस्ट्रॉल का मुख्य रूप है जो हमारी धमनियों की भित्तियों में जमा हो जाते हैं। यो कार्डियो प्रोटेक्टिव एजेंट भी मुक्त मूलभूत तत्वों के कारण कोशिका क्षति को रोकते हैं और इसलिए कोशिका का जीवन बढ़ाने में मदद कर सकते हैं।

शाकाहारी आहार मधुमेह के उपचार/नियंत्रण में भी मदद कर सकता है। आहारीय रेशे पित्त से ग्लूकोज अवशोषण की दर को नियंत्रित करते हैं और इस प्रकार भोजन के बाद रक्त ग्लूकोज में अत्यधिक वृद्धि नहीं होने देते।

भोजन करने के दौरान रक्त ग्लूकोज में तेजी से कमी को भी रोका जा सकता है क्योंकि रेशे गैस को जल्दी नहीं निकलने देते। क्रोमियम और कुछ विशिष्ट विटामिन संशोधित इंसुलिन क्षमता से संबंधित पाए गए हैं। इस प्रकार, शाकाहारी आहार ग्लूकोज सहनशीलता बढ़ाने और विशिष्ट रोगियों में औषधियों/इंसुलिन की जरूरत को कम करने में मदद करते हैं। शाकाहारी आहार कैंसर रोग का जोखिम कम करने में भी मदद कर सकता है क्योंकि आहारीय रेशे अनेक रसायनों और विशैले एजेंट

से लिपट जाते हैं और फलस्वरूप उनको मलोत्सर्जन के रास्ते बाहर निकाल देते हैं। अनेक विटामिन और खनिज पदार्थ भी कोशिका भित्ति की अखंडता बनाए रखने में मदद करते हैं। वे डीएनए और आरएनए जैसी कोशिका के विभिन्न अवयवों को क्षतिग्रस्त होने से बचाते हैं जिनसे ट्यूमर बनने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है।

पादप खाद्य पदार्थों का उपयोग उच्च रक्त चाप की आशंका को भी कम करता है। पादप खाद्य पदार्थों में मौजूद रेशे आहारीय सोडियम की कुछ मात्रा से लिपट जाते हैं और फलस्वरूप मलोत्सर्जन के जरिए उसे बाहर निकाल देते हैं। पादप खाद्य पदार्थों में पाश्चुरीकृत वसा कम होती है और कोलेस्ट्रॉल नहीं होता इसलिए ये रक्त कोलेस्ट्रॉल को बढ़ने से रोकता है। अति कोलेस्ट्रॉलरक्ता के फलस्वरूप धमनियों में कोलेस्ट्रॉल जमा हो जाता है जो अप्रत्यक्ष रूप से रक्तचाप बढ़ने का कारण बनता है। शाकाहारी भोजन संतृप्ति का पूरा अहसास देता है और यह वजन काबू में रखने में भी मददगार है। शोध अध्ययनों से संकेत मिलते हैं कि चार सप्ताह की अवधि तक आहार में रोजनाना 15 ग्राम ग्वार गम (क्लस्टर बीन्स के बीज से प्राप्त) जैसे घुलनशील रेशे शामिल करने से कुल कोलेस्ट्रॉल को 13 प्रतिशत कम करने तथा भोजनोत्तर रक्त ग्लूकोज को 21 प्रतिशत कम करने में मदद मिल सकती है। गेहूं के आटे के बदले साबुत बंगाली चने के 50 ग्राम बेसन के उपभोग से कुल कोलेस्ट्रॉल को 6.2 प्रतिशत कम करने में सहायता मिल सकती है। सोया आटे और जई के चोकर के अनुपूरकों के मामले में भी ऐसे ही सकारात्मक प्रभाव देखे गए हैं।

हालांकि विशुद्ध रूप से शाकाहारी आहार (जिसमें दूध और दूध उत्पाद शामिल न हों) में प्रोटीन कम होती है। पादप खाद्य पदार्थों में प्रोटीन का प्रमुख स्त्रोत दलहन और गिरीदार फल हैं। मोटे अनाज सामान्य स्त्रोत हैं जबकि फल और सब्जियों में बहुत कम प्रोटीन होता है। इसके इसलिए आहार में प्रोटीन की पर्याप्त मात्रा सुनिश्चित करने के लिए कम से कम 2-3 सर्विंग साबुत दलहन और कुछ गिरी (बादाम) जरूर खानी चाहिए। साबुत दलहनों को अंकुरित करके, मोटे अनाजों और दलहनों को मिलाकर लेने तथा मोटे अनाजों और दलहनों को खमीर उठा कर उपयोग में लाने से प्रोटीन की जैव-उपलब्धता बढ़ाने में मदद मिल सकती है और इस प्रकार आहार को संतुलित बनाने में सहायता मिल सकती है।

शाकाहारवाद सेहत के लिए कई तरह से फायदेमंद है। मौजूदा रहन सहन और आहार संबंधित त्रुटियों के मद्देनजर अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए शाकाहार को अपनाना अच्छा विकल्प है।

संदर्भः

1. Child Nutrition: Problems and Prospects/M. Varma, M. Kapoor and A. Goyle. 1996
2. Food, Nutrition and Cookery/edited by S.R. Sharma and Vijay Kaushik. Reprint. New Delhi, Anmol, 2002
3. Citrus Nutrition/A.K. Srivastava and Shyam Singh. Lucknow, IBDCO, 2003
4. Women and Nutrition in Himalaya/B.R. Pant. New Delhi, Anmol, 2004

अभिभावक वृति का बाल विकास पर प्रभाव

रंजना कुमारी

शोध छात्रा, गृह विज्ञान विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भूमिका

बाल विकास की एक लंबीश्रृंखला होती है इसी श्रृंखला में व्यक्तित्व के हर पहलू का क्रमशः निर्माण होता जाता है। शैशवावस्था की किस घटना ने चरित्र निर्माण में कौन सा प्रभाव डाला और उससे भावी जीवन की लम्बी यात्रा पथ में कहाँ-कौन सा मोड़ आया यह जानना अत्यंत कठिन है। इस व्यक्तित्व निर्माण के रास्ते में माता-पिता वह प्रथम तत्व होता हैं जिससे शिशु को जीवन का प्रथम अनुभव मिलना शुरू होता है। यह क्रम परिपक्वावस्था तक चलता रहता है। एक कुशल स्वर्णकार एक सुन्दर आभूषण निर्माण करता है लेकिन इस निर्मित मनोहारी आभूषण को देख कर वह स्वयं भी यह बता पाने में असमर्थ ही रहेगा कि उसकी उस छोटी सी हथौड़ी की किस चोट ने आभूषण को कौन सा रूप दिया था। एक कुशल माता-पिता अपने बच्चों के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण तो कर सकता है लेकिन इनकी भाषा भी उसी मौन स्वर्णकार की भाषा होती है जिसे वह व्यक्त नहीं कर सकता है। बाल विकास का जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह महत्व का विषय रहा है। प्राचीन काल में सर्वांगीण विकास हेतु गुरु आश्रम का सहारा लिया जाता था। लेकिन इस आधुनिक युग में प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। बच्चों में जन्म के साथ ही शारीरिक, मानसिक, क्रियात्मक, ज्ञानात्मक, संवेगात्मक, शिक्षा एवं चरित्र का विकास भी प्रारंभ हो जाता है। जो आगे चलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के रूप में प्रकट होता है। इन सारे विकासों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से माता-पिता की मनोवृति का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

विकास उन प्रगतिशील परिवर्तनों को कहते हैं जो नियमित एवं क्रमिक होता है। बाल्यावस्था जीवन की सबसे अनमोल अवस्था होती है। प्रारम्भिक कारण में बच्चों को किसी भी चीज की जानकारी स्पष्ट रूप से नहीं होती है। चूंकि वे माता-पिता पर अपनी हर आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्भर करते हैं। परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जिसमें माता-पिता अपनी सभी सेवाओं, अनुभवों के द्वारा स्नेह के साथ बच्चों का विकास करने का प्रयास करते हैं। बच्चों के लिए जो भी करते हैं वह निःस्वार्थ भाव से करते हैं माता-पिता का प्रेम और वात्सल्य विकास पर अनुकूल प्रभाव डालता है। बच्चे माता-पिता की विशेषताओं से प्रभावित होते हैं। माता-पिता एक सुदृढ़ वृक्ष के समान और बच्चे उसके फूल, फल माने जाते हैं। मेकाइवर तथा पेज ने लिखा है-परिवार वह समूह है जो लिंग

संबंधी आधार पर परिभाषित किया जाता है और काफी छोटा व इतना स्थायी है कि बच्चों की उत्पति और पालन-पोषण की व्यवस्था करने योग्य है।

जॉन आम्स कोमेनोयस (1560-1670) इन दी ग्रेट डेडीकेटेड ने स्पष्ट विकास की अवस्था को चार भागों में बांटा जिसकी अवधि छः वर्ष एक अवस्था में रखा, नवजात शिशुकाल, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था आदि। विलियम जेम्स, मैकमूलर, डेभर, बर्ट आदि मनोवैज्ञानिकों ने वंश परम्परा के क्रम में उसमें पाये जाने वाले व्यवहार की व्यवस्था की है। जी. स्टेनले हॉल ने बाल विकास आन्दोलन का प्रारम्भ अमेरिका में किया जिस आधार पर आज इस आन्दोलन के जनक के रूप में जाने जाते हैं। इस संबंध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया अध्ययन महत्वपूर्ण है। पियागैट वेर्ट 1918, हेगलीट 1930, मैकार्थी, हॉल ने बच्चों के विकास पर पड़ने वाले विभिन्न कारकों के प्रभावों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है।

वाटसन 1919 में कहा था कि बच्चा जब पैदा होता है तो वह अपने माथे पर लिख कर नहीं आता कि वह बेइमान है या ईमानदार, धर्मात्मा है या पापी। वह यह सब कुछ इस दुनिया में कदम रखने के बाद अपने परिवार से अपने पड़ोस से, अपने आस-पास के पूरे माहौल से क्रमशः सीखता है और अपने आप को विकसित करता है। जैसा भी आकार दो वह वही आकार धारण कर लेगा। हम इसे अच्छा आदर्श नागरिक भी बना सकते हैं और बुरे से बुरे कर्म करने वाला अपराधी भी। वाटसन के इस चिंतन के बाद से मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, गृहवैज्ञानिकों एवं जिज्ञासु माता-पिता का ध्यान बाल पोषण प्रणाली की ओर गया और इसे अधिक से अधिक नियंत्रित और वैज्ञानिक बनाने की दिशा में प्रयास होने लगा। अब सभी मानने लगे हैं कि एक युवा अपनी शैशव स्मृतियों को कभी भूलता नहीं है और ये स्मृतियाँ ही उसके भावी जीवन का पथ निर्धारण करती है इस संदर्भ में अभिभावकत्व प्रणाली को जीवन निर्माण का प्रथम एवं अंतिम सोपान कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत बाल विकास पर माता-पिता के उत्तरदायित्व का किस रूप में प्रभाव पड़ता है इसे देखना है। ग्राफ 1964 ने उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति उसे कहा है जिसके अंदर अपनी एवं सामाजिक जिम्मेदारी की भावना भरी हुई हो, उसमें अनुचित उचित की परख इतनी अधिक हो कि किसी भी काम को करने के पहले उसमें परिणाम के बारे में उसे पूरा अनुमान हो जाता है। ऐसा व्यक्ति नैतिकता और अनैतिकता के बीच भेद करने की क्षमता रखता है तथा कोई भी अनैतिक कार्य जिससे अपनी या किसी अन्य व्यक्ति की हानि होती हो वह नहीं करता है। इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति जिसमें उत्तरदायित्व की भावना कम होती है अपने भावनाओं में संवेदनशील होते हैं तथा उनके व्यवहार अनियंत्रित होते हैं वे अपनी निजी स्वार्थ से प्रभावित होकर ही कोई कार्य करते हैं। इनके विचार पूर्वधारणाओं से ग्रसित होते हैं इसलिए इनके विचार स्थिर नहीं रह पाते हैं। इस विश्लेषण से ऐसा लगता है कि एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति सामाजिक, राष्ट्रीय एवं पारिवारिक समस्याओं के प्रति भी ठोस और जवाबदेही पूर्ण विचार रखता है। साथ ही अपने बच्चों के विकास समुचितरूप में तो रहा है या नहीं इसका ज्यादा ख्याल रखता है।

इस पृष्टभूमि में:

यह प्राक् कल्पना की जाती है कि निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण माता-पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता-पिता में बाल विकास के प्रति अपेक्षाकृत अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

क्षेत्र :- मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में माता-पिता पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श :- मुजफ्फरपुर शहर एवं ग्रामीण क्षेत्र के तीन सौ माता-पिता को अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया।

संयंत्र एवं मापनी:- उत्तरदायित्व मापनी:-

सिन्हा (1976) ने व्यक्तित्व के उत्तरदायी आयाम को मापने के लिए ग्राफ (1964) द्वारा निर्मित कैलिपफोर्निया साइकोलोजिकल इन्वेन्ट्री के आर0 ई0 स्केल का हिन्दी रूपान्तरण किया। यह हिन्दी रूपान्तरण भारतीय प्रतिदर्श पर व्यक्तित्व के इस आयाम को मापने के लिए एक सफल मापनी सिद्ध हुई। इस मापनी के आधार पर उच्च अंक प्राप्त करने वाले उच्च उत्तरदायी एवं निम्न अंक प्राप्त करने वाले निम्न उत्तरदायी की श्रेणी में आयेंगे। इस मापनी में पदों की कुल संख्या एकतालीस है। अत: अधिकमत प्राप्तांक एकतालीस और न्यूनतम शून्य की संभावना है।

व्यक्ति के उत्तरदायित्व चर के संबंध में इस स्थल पर यह जानना आवश्यक है कि बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृत्ति के वास्तविक जनसंख्या में व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के वितरण की प्रवृति क्या है? इस उद्देश्य से मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र से तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर उत्तरदायित्व को मापने के लिए ग्राफ 1964 द्वारा निर्मित सी पी आई के आर ई स्केल के हिन्दी रूपान्तरण उत्तरदायित्व मापनी (सिन्हा 1976) का चालन किया गया। इस मापनी के आधार पर तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर प्राप्त प्राप्तांकों के प्रसार तथा वितरण सारिणी संख्या एक में उल्लिखित है:-

सारिणी संख्या एक

मध्यमान	मध्यांक	बहुलांक	प्रामाणिक विचलन	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि
27.25	27.54	27.64	3.84	.22

उत्तरदायित्व प्राप्तांक के वितरण से प्रतिदर्श के संबंध में केन्द्रीय प्रवृति के संबंध में जो निष्कर्ष प्राप्त होता है उसके आधार पर इसके प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त पर आधारित होने के प्रमाण पुष्ट होते हैं। वितरण का मध्यमान 27.25, मध्यांक 27.54 तथा बहुलांक 27.64 है। इन तीनों ही सांख्यिकीय निष्कर्षों में इतनी अधिक निकटता है कि इस निकटता के आधार पर इस प्रसार के वास्तविक जनसंख्या के प्रसार की सामान्य वितरण प्रवृत्ति को प्रमाणित करता है। प्रसार के मध्यमान की प्रामाणिक त्रुटि .22 है जिससे .01 विश्वसनीयता के स्तर पर कहा जा सकता है कि वर्तमान प्रतिदर्श माध्यमान जनसंख्या मध्यमान सेद ±.057 की प्रसार की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। गिलफोर्ड, 1956 इन परिमाणों के आधार पर व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में निम्नलिखित परिमाण प्राप्त हुआ।

(क) माता पिता के प्रतिदर्श के उत्तरदायित्व प्राप्तांक का वितरण जानसंख्या के प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त के अनुकूल है।

(ख) प्रतिदर्श का मध्यमान जनसंख्या के मध्यमान का वास्तविक प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

(ग) प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त पर आधारित प्राप्तांकों का यह वितरण प्रमाणित करता है कि समाज में व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व चर समान रूप से वितरित नहीं है। समाज में जहाँ एक ओर कुछ लोग (उच्चतम पचीस प्रतिशत) अत्यन्त उत्तरदायी हैं दूसरी ओर (निम्न पचीस प्रतिशत) अत्यंत अनुत्तरदायी प्रवृति के भी है और इन दोनों ही अतिसीमाओं के बीच जनसंख्या की आधी संख्या पड़ती है।

उत्तरदायित्व, बाल विकास एवं माता-पिता की मनोवृति

उत्तरदायित्व तथा बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति के संबंध में उपर वर्णित प्राक कल्पना में यह अनुमान किया गया था कि निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता में बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। अध्ययन के अंतर्गत प्रयुक्त तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर (गफ 1964) के हिन्दी अनुवाद (सिन्हा 1976) का चालन किया गया। पूर्ण प्रतिदर्श के प्राप्तांकों के आधार पर इनके दो समूह निर्मित हुए-उच्च्तम एवं निम्नतम समूह। प्राप्तांक के तृतीय चतुर्थांश से ऊपर के प्राप्तांकों के उच्चतम समूह तथा प्रथम चतुर्थांशं के नीचे के प्राप्तांकों को निम्नतम समूह कहा गया। उत्तरदायित्व मापनी के आधार पर न्यूनतम प्राप्तांक शून्य तथा उच्चतम प्राप्तांक एकतालीस की संभावना है। जिसमें वर्तमान प्रतिदर्श निम्नतम प्राप्तांक पन्द्रह तथा उच्चतम प्राप्तांक सैंतीस प्राप्त हुआ है। इस प्रतिदर्श का प्रथम चतुर्थांश 24.78 तथा तृतीय चतुर्थांश प्राप्तांक 29.87 है। उच्चतम तथा निम्नतम दोनों ही समूहों में प्रयोज्यों की संख्या क्रमशः 72एवं 76 है। उच्चतम उत्तरदायित्व तथा निम्नतम उत्तरदायित्व के दोनों ही समूहों के पृथक-पृथक बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के वितरण ताथा दोनों ही समूहों के मध्यमानों प्रामाणिक विचलनों तथा उनके ही अनुपात का तुलनात्मक विवेचन सारिणी संख्या दो में वर्णित है। उच्चतम एवं निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूहों के माता पिता की मनोवृति एवं बाल विकास का तुलनात्मक अध्ययनः-

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रामाणिक विचरण	मध्यमान की प्र0 त्रुटि	मध्यमानों के अंतर की प्र0 त्रुटि	टी. अनुपात	सार्थ0 स्तर
उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण समूह	72	34.80	18.30	.91	-	-	.01
निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूह	76	30.60	8.15	.21	.95	4.15	-

उत्तरदायित्व समूह तथा निम्न उत्तरदायित्व समूह के पृथक-पृथक बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के उपर वर्णित तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उच्च

उत्तरदायित्व पूर्ण समूह का बाल विकास के प्रति माता-पिता की मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 34.80 तथा निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूह के माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 30.60 है। इन दोनों ही समूहों के मनोवृति प्राप्तांकों के मध्मानों का अंतर 4.20 है। मध्यमानों के अंतर की सार्थकता को जानने के लिए टी अनुपात का परिणाम 4.15 है जो .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। यह निष्कर्ष प्राक कल्पना को सत्यापित करती है। संपूर्ण प्रतिदर्श के उत्तरदायित्व प्राप्तांक तथा बाल विकास एवं माता-पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट सह संबंध जांच को भी चालित किया गया जिससे इन दोनों ही समूहों के संबंध की जांच हुई। इस जांच के आधार पर दोनों ही चरों के बची .325 सह संबंध गुणांक प्राप्त हुआ है जो .01 स्तर पर प्रमाणित होता है। यह सह संबंध गुणांक दोनों ही चरों के बीच धनात्मक एवं घनिष्ठ सह संबंध को प्रदर्शित करता है। (गैरेट 1955, सारिणी से पेज 439)

प्राप्त परिणाम के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार है :-

(क) निम्न उत्तरदायित्व के माता-पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व के माता पिता में बाल विकास के प्रति अधिक अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

(ख) उत्तरदायित्व या माता पिता की मनोवृति एवं बाल विकास के बीच सार्थक उच्च, घनिष्ठ सह सबंध पाया गया है।

(ग) जनसंख्या में व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर का वितरण समान्य वितरण सिद्धान्त के अनुकूल प्रमाणित होता है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष

व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में यह प्राक कल्पना की गई थी कि उच्च उत्तरदायित्व समूह के माता पिता में बाल विकास के प्रति अनुकूल तथा निम्न में उतना अनुकूल नहीं पायी जायेगी। प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह प्राक कल्पना पूर्णत: सत्यापित हुई है। उच्च उत्तरदायित्व समूह का बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांक मध्यमान 34.80 तथा निम्न उत्तरदायित्व समूह का बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांक मध्यमान 30.60 है दोनों ही समूहों के प्राप्तांकों के मध्यमानों का अंतर 4.20 है तथा टी अनुपात 4.15 है जो .01स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में गफ (1964) ने यह कहा है कि उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति उसे कहते हैं जिसमें नैतिकता की भावना होती है जवाबदेही उच्च कोटि की होती है तथा उसमें अपने एवं समाज के बारे में पूर्ण चेतना रहती है। इसके विपरीत निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति अपरिपक्व विचार का होता है। उससे संवेगात्मक अस्थिरता रहती है जिसके कारण उसके व्यवहार अनियंत्रित एवं उग्र होते हैं। ऐसा व्यक्ति क्षणिक निराशा या सुख-दु:ख से भी तुरंत प्रभावित हो जाता है। व्यक्तित्व की इस विशेषता के आधार पर यह सर्वथा अनुकूल लगता है कि उच्च उत्तरदायित्व गुण के भरा हुआ व्यक्ति अपने जीवन से संबंधित किसी भी सामाजिक समस्या के प्रति एक निश्चित स्थिर एवं ठोस दृष्टिकोण रखता है, क्योंकि वह कभी भी वस्तु स्थिति से अपने को पृथक नहीं कर सकता। सतत् परिवर्तनशील तथा उलझनपूर्ण समस्याओं से गुजरते हुए भी वर्तमान परिवेश में एक

उत्तरदायी व्यक्ति अपने विचारों को स्थिर रखता है क्योंकि वह ढुलमुल की नीति रख ही नहीं सकता। बाल विकास भी वर्तमान सामाजिक परिवेश में एक जटिल समस्या है। इस संदर्भ में उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता के समूह का बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति पाया जाना उचित ही है।

Reference:

1. Garettee H. E. (1955)- Satisfaction in Psychology and Education (Fourth Edition) Longman, Green & Co, New York.
2. Guilford. J.P. (1956)- Fundamental Statistics in Phychology and Education third edition Mc Grow Hill Book Company INC New York.
3. Cooper J. B. (1966)-Two Scales for Parent Evaluation Journal of Jenetic Phychology, 108, 49-53.
4. Gough H. G. (1964)-Mannual of California Psychological Review, California, Consulting Psychologist Press, Palo Alto.
5. Goode. S. & Hatt P. K. (1952)-Methods in Socila Research, New York, Mc. Grow Hill.
6. Sinha K. K. (1976)-Attitude Twords Youth Unrest in relation to over own Parental style and some personality variables thesis, Bihar University.
7. Watson J. B. (1919)-Psychology from the standpoint of a Behaviourist Philadelphia - lippincott co, 1919 (Third Ed. 1929).

मधुमेह में पोषण की मूल अवधारणा

करूणा कुमारी

गृह विज्ञान विभाग, नीतिश्वर सिंह डिग्री कॉलेज, सरमस्तपुर, मुजफ्फरपुर

देश के स्वस्थ नागरिक उसकी पूंजी होते हैं। एक पुरानी कहावत है कि अच्छा स्वास्थ्य ही अच्छे सेहत की कुंजी होती है। यह कहावत आज के जीवन-चक्र में भी पूरी तरह से लागू होती है। स्वस्थ मनुष्य, स्वस्थ समाज का निर्माण करता है और समाज ही देश के आर्थिक तथा सामाजिक विकास की सीढ़ी होता है। इसलिए देश के हर नागरिक का स्वस्थ होना देश की मजबूती के लिए जरूरी है। एक स्वस्थ शरीर की कुंजी क्या है? संतुलित भोजन जो शरीर में ईंधन के तौर पर काम आता है। हमारे शरीर में जब भी भोजन के संतुलन में कमी आती है, हमारा शरीर कुपोषण का शिकार हो जाता है।

साल दर साल पोषण की मूल अवधारणा बदलती जा रही है। 18वी शताब्दी के मध्य में वैज्ञानिकों का मानना था कि अधिकतर खाद्य पदार्थों में एक ही प्रकार के अवयव पाये जाते हैं। लेकिन जानकारियों में निरंतर वृद्धि के साथ पोषण के सिद्धांतों में भी बदलाव आते गए। सबसे पहले खाद्य पदार्थों में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा की खोज की गई। इसके बाद पोषण के छोटे वर्गीकरण होने पर एमिनोएसिड की खोज हुई। वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि प्रोटीन में 24 प्रकार के एमिनोएसिड पाए जाते हैं जो मानव शरीर के लिए आवश्यक है। सूक्ष्म पोषण यानि माइक्रो न्यूट्रीशन दूसरी बड़ी खोज थी।

21वीं शताब्दी में वैज्ञानिक सूख- सुविधाओं के आविष्कार से मानव जीवन के रहन-सहन के तरीकों में आए बदलाव के कारण लोगों में होने वाली बीमारियां भी बढ़ गई हैं। अब बुखार, टीबी जैसी बीमारियों की गंभीरता कम हो गई हैं तथा वसा और कोलेस्ट्रोल से संबंधित बीमारियां परेशानी का सबब बन गई हैं। आजकल जहां कुछ लोग भोजन की कमी और कुपोषण का शिकार हो रहे हैं वहीं दूसरे अधिक भोजन खाने से बीमार हो रहे हैं।

भोजन जीवन की मूलभूत जरूरत है। एक तरफ विश्व कुपोषण की समस्या का सामना कर रहा है। जबकि दूसरी तरफ जीर्ण अ-संक्रामक गड़बड़ियों संबंधी आहार के अन्य दुष्प्रभाव भी विकासशील देशों में बढ़ रहे हैं। पहले इन सबको संपन्न लोगों की समस्या माना जाता था। देश में मौजूद आहार संबंधी अत्यधिक महत्वपूर्ण जीर्ण गड़बड़ियों में कार्डियो वस्कुलर रोग, उच्च रक्त चाप, मोटापा, मुधमेह इत्यादि हैं, इस प्रकार चुनौती बहुत बड़ी है।

यह चिंता की बात है कि न केवल धनी बल्कि गरीब भी बैठे रहने के जीने के ढंग तथा खानपान की खराब आदतों के कारण प्रभावित हो रहे हैं। नवयुवकों में भी मधुमेह की संख्या बढ़ रही है।

मधुमेह एक रात में नहीं हो जाता है। इसे विकसित होने में आमतौर पर सालों लगते हैं। यह ज्ञात है कि जैनेनिक कारकों की वजह से कुछ लोगों में मधुमेह होने की प्रवृत्ति रहती है लेकिन सभी उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि रहन-सहन का ढंग, खासतौर पर आहार और कसरत यह निर्धारित करते हैं कि क्या वे जैनेटिक कारक वास्तव में रोग में प्रकट हो जाते हैं। मधुमेह रोग के विकास में आनुवांशिकता प्रमुख कारक है। परंतु यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि आनुवांशिकता बंदूक की तरह है तथा मोटापा उसका ट्रिगर खींचता है।

एक कहावत के अनुसार लोग काम से नहीं बल्कि चिंता से मरते हैं। दु:ख, चिंता और फिक्र भी उपापचय को प्रभावित करती हैं और ये डायबेटिक व्यक्ति में लक्षणों को बढ़ा सकती हैं।

आहार और मधुमेह की हमेशा से गहरा संबंध रहा है। इसलिए कोई क्या खाता है, रक्त शर्करा और इंसुलिन पर उसका बहुत असर पड़ता है। मधुमेह को बढ़ावा देने, उत्तेजित करने और नियंत्रण में भोजन की प्रमुख भूमिका होती है।

अनुमान है कि फिलहाल दुनिया भर में करीब 150 मिलियन लोग मधुमेह से पीड़ित हैं। यह संख्या 2025 तक बढ़कर दुगुनी होने की आशंका है और इनमें से भारत तथा चीन में सर्वाधिक वृद्धि होने का अनुमान है। दुनिया भर में टाईप-2 मधुमेह के प्रचार और रोग दोनों में वृद्धि हुई है। लेकिन नए-नए औद्योगिक देशों और विकासशील देशों के अधिक परिवर्तन वाले समाज में खासतौर से बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। टाइप-2 मधुमेह जैनेटिक और पर्यावरणीय कारकों के बीच अंत:क्रिया का परिणाम है। हालांकि इसकी घटनाओं में तेजी से हो रही वृद्धि से संकेत मिलता है कि पर्यावरण की इसमें प्रमुख भूमिका है और दुनिया भर में मधुमेह की महामारी इसके कारण और बढ़ने की आशंका है। जिन लोगों के खानपान में अधिक परिवर्तन, शारीरिक गतिविधियों में कमी वजन अधिक होने तथा मोटापा अधिक बढ़ रहा है और मक्खन, घी, वनस्पति (संतृप्त वसा), फल व सब्जियों में कमी तथा जंक फूड की अधिक खपत वाले लोगों को मधुमेह होने की चिंता अधिक है।

मधुमेह की समस्या से निपटने के लिए स्वस्थ रहन-सहन में आहार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। विकसित देशों में यह समझ बढ़ रही है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली अकेले सभी स्वास्थ्य समस्याओं से नहीं लड़ सकती है। खासतौर से रहन-सहन के जीवन स्तर संबंधी मधुमेह जैसी बीमारियों से अकेले लड़ने में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली असमर्थ है। ऐसी स्थिति में पारंपरिक स्वास्थ्य प्रणाली के साथ वैज्ञानिक बुद्धि का उपयोग मौजूदा दौर की समस्याओं का समाधान तलाश कर सकता है।

मशहूर एबर्स पेपीरस ने 1550 ईसा पूर्व में उच्च रेशे युक्त गेहूं के अनाज से मधुमेह के उपचार की सलाह दी थी। इसके बाद मधुमेह के उपचार के रूप में 400 से अधिक पादपों का परामर्श दिया गया। यूरोप, एशिया और मध्य पूर्व में कच्चा प्याज और अदरक लंबे समय से पसंद किया जाता रहा है। यूरोप के कुछ भागों में मधुमेह के नियंत्रण के लिए साधारण खाद्य मशरूम का व्यापक इस्तेमाल किया जाता है। इराक में जौ की रोटी मधुमेह का आम उपचार है। अनेक संस्कृतियों में बंद गोभी, सलाद, शलजम, बीन्स (सेम) और धनिये के बीज मधुमेह के उपचार के लिए प्रयोग किये जाते हैं। आधुनिक शोध और परीक्षणों में पुष्टि हो चुकी है कि इन सबसे या इन सबके संयुक्त मिश्रण से रक्त शर्करा को कम किया जा सकता है और/या पशुओं और मानव में इन्सुलिन को बढ़ाया जा सकता है।

भोजन और स्वास्थ्य की देखरेख में पादपों के उपयोग के बारे में मानव के व्यापक ज्ञान के कारण भारतीय सभ्यता बहुत संपन्न है। इस मामले में भारतीय सभ्यता का गौरवमय अतीत रहा है। भारत में स्वास्थ्य की देखरेख की लंबी और गौरवशाली परंपरा है तीन हजार वर्षों से भी लंबे समय से यहां आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और योग तथा नेचुरोपैथी चिकित्सा पद्धतियां अपनायी जा रही हैं। समय के साथ यह सिद्ध हो गया है कि लोगों के स्वास्थ्य की देखभाल में इनका अमूल्य उपयोग है और बेहद आत्मीय तथा शोध के आधार पर यह बोध है कि पर्यावरण के जैव और अजैव यौगिक साकल्यवादी स्वास्थ्य देखरेख को प्रोत्साहन देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन पद्धतियों के उपयोग के बारे में दुनिया की दिलचस्पी बढ़ रही है तथा विकसित दुनिया भारतीय पद्धतियां अपनाने के लिए तरौर हैं। योग आज दुनिया भर में मशहूर हो चुका है।

यहां मधुमेह के बारे में समझने की तुरंत जरूरत है। इस रोग के आकलन तथा नियंत्रण के लिए व्यावहारिक सोच विकसित करने तथा मधुमेह को भारतीय संदर्भ में समझना आवश्यक है। आहार, स्वास्थ्य रहन-सहन और प्रभावशाली सूचना, शिक्षा और संचार सबके लिए स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल करने तथा इस बीमारी से निपटने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है तथा सतत सामूहिक भागीदारी से यह संभव बनाया जा सकता है।

संदर्भः

1. Citrus NutritionèkA.K. Srivastava and Shyam Singh. Lucknow, IBDCO, 2003.
2. Food, Nutrition and Cookeryèkedited by S.R. Sharma and Vijay Kaushik. Reprint. New Delhi, Anmol, 2002.
3. Child Nutrition : Problems and ProspectsèkM. Varma, M. Kapoor and A. Goyle. 1996.
4. The Ayurvedic Cookbook : A Personalized Guide to Good Nutrition and HealthèkAmadea Morningstar and Urmila Desai. New Delhi, Motilal Banarsidass, 1994.
5. Encyclopaedia of Health, Nutrition and Family WelfareèkS. Wal and Ruchi Mishra. Delhi, Sarup, 2000.

भारतीय समाज में दहेज व्यवस्था की समस्या

प्रेरणा राही

शोध छात्रा, गृह विज्ञान विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

एक सामाजिक प्रथा के रूप में दहेज का प्रचलन प्राचीन काल से है। इसकी शुरूआत स्त्रीधन के रूप में हुई। दहेज का अर्थ है विवाह के अवसर पर कन्या/वधू को पिता एवं अन्य परिवारजन की ओर से दिये जाने वाला धन और संपत्ति। दहेज उपहार स्वरूप दिया जाता था। इसे प्रारंभिक उत्तराधिकार माना जाता था। स्वेच्छा से दिए गए दहेज के दृष्टान्तों से पौराणिक गाथाएँ भरी पड़ी है।

दहेज का औचित्य-मूलत: पति की मृत्यु होने पर स्त्री और बच्चे की आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सुरक्षा में माना जाता था। पति और उसके परिवारजनों के सम्भावित बुरे व्यवहार के प्रति दहेज एक प्रकार की ढ़ाल थी। प्राचीन काल में पति की मृत्यु होने पर दहेज की राशि/संपत्ति पत्नी को लौटा दिया जाता था। दहेज की हकदार पत्नी को माना जाता था। निर्धन परिवार की स्त्रियों के लिए दहेज देना एक प्रकार का दातव्य (दान-पुण्य) समझा गया। ऐसे दान की अनेक कथाएँ हैं।

हमारी परम्परा में दहेज का औचित्य मूलत: पिता की सम्पत्ति में पुत्री का जो हक बनता है उसी को एक प्रतीकात्मक रूप में उसकी शादी के समय देकर सामाजिक संदेश दिया जाता है कि पुत्री को उसकी सम्पत्ति का हिस्सा दिया गया। पहले दहेज की प्रथा हमारे यहाँ सभी जाति या वर्ग में नहीं थी। यह परम्परा उच्च जातियों या वर्ग समूह में ही थी परन्तु भौतिकवादी दुनिया में धीरे-धीरे सभी जाति और वर्ग में दहेज का प्रचलन हो गया है और जो परम्परा थी कि दहेज मतलब लड़की का हिस्सा वह अब लड़केवाले का हक बनने लगा है और हमने देखा है कि एक ही सामाजिक परिवेश से आने वाले परिवारों में अलग-अलग तरह की नौकरियों पर अलग अलग दर दहेज की हो जाती है। जो दहेज प्रथा लड़की को हिस्सा प्रतीक स्वरूप दी जाती थी वह लड़कों के परिवार का अधिकार बनता जा रहा है।

भारत के अतिरिक्त अन्य समाजों में दहेज का प्रचलन-हम्मुराबी की संहिता (1760 B.C.) प्राचीन मिस्र (बेबीलोन) में एक प्रचलित प्रथा के रूप में दहेज का उल्लेख है। ईसा के 5 सदी पूर्व ग्रीक और रोमन सभ्यता में भी दहेज के प्रचलन के अनेक उदाहरण हैं। शैक्सपीयर की रचनाओं में दहेज प्रथा से संबंधित अनेक दृष्टान्त हैं। King Lear cardila art की पुत्री को प्रेमी ने छोड़ दिया। Measure for Measure claudio जब मालूम हुआ कि उसका पिता राजा दहेज नहीं देगा। और Juliet के विवाह पूर्व संबंध दहेज को लेकर उनके परिवारों में झगड़े के कारण ही बाहर आए। यह सगाई betrothal के बाद हुआ।

इसी प्रकार Angelo के सगाई रद्द करने के पीछे Maricna के दहेज के बक्से का समुद्र में वह जाना ही कारण था।

सिण्ड्रेला की सौतेली माँ से झगड़े के पीछे भी मुख्य कारण दहेज हीं था।

इतिहास साक्षी है कि पुर्तगाल के राजा ने बम्बई शहर ब्रिटेन के राजा चार्ल्स द्वितीय को दहेज स्वरूप ही दिया था। कैथरीन और ब्रगेंजा से शादी के उपलक्ष्य में यह दिया गया था। विक्टोरिया काल में उन्होंने पुत्रियों को पिता की संपत्ति में हिस्सा मिलता था, जिन्हें दहेज नहीं मिली होनी थी।

इस प्रथा को कब और क्यों सामाजिक अपराध माना जाने लगा?

दहेज की माँग और पूर्ति ने जब विवाह निश्चित करने के पूर्वशर्त का रूप ले लिया तो दहेज प्रथा को सामाजिक अपराध माना जाने लगा। दहेज वैवाहिक संबंधों के टूटने का प्रमुख कारण बन गया। इस कारण मध्य वर्गीय और निम्न वर्गीय परिवारों में पुत्री को बोझ समझा जाने लगा। दहेज के लिए प्रताड़ना, वधु के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार, भयादोहन, आत्म हत्या के लिए प्रेरित करने जैसे जघन्य घटनाओं के सामने आने से इसे सामाजिक अपराध माना जाने लगा।

राष्ट्रीय नीति –

भरतीय संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकारों, कर्तव्यों, राज्य के निर्देशक तत्वों में नर–नारी समानता का भाव सन्निहित है। पैतृक संपत्ति में पुत्री की हिस्सेदारी को कानूनी मान्यता मिली है। संविधान में स्त्रियों के विकास के लिए सकारात्मक कदम उठाने की शक्ति राज्य को प्रदान की गयी है।

1990 में राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम बना। 1992 में इसका गठन हुआ। 73 वें एवं 74वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायतीराज संस्थाओं और नगरनिकायों में एक–तिहाई पद और सीट आरक्षित की गयी। स्त्री सशक्तिकरण के इस कार्यक्रम द्वारा समाज और परिवार में नारी की स्थिति में परिवर्तन आया है। बिहार में महिलाओं के लिए नगरीय एवं ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं में 50 प्रतिशत आरक्षण, विवाहों के अनिवार्य पंजीकरण, बच्चों के माता का नाम दर्ज करने, इन्दिरा आवास के स्वामित्व में पत्नि के नाम की अनिवार्यता जैसे कदम भी उठाए गए हैं।

दहेज निरोध के कानूनी उपाय –

1961 दहेज निरोधक कानून बना। विवाह के पूर्व शर्त के रूप में दहेज देने और लेने को अपराध घोषित किया गया। इसकी सजा छह माह कैद और पाँच हजार रूपये जुर्माने का तय हुआ।

1983 में भारतीय दण्ड संहिता में 498। अनुच्छेद जोड़ा गया जिसमें पति या उसके संबंधी द्वारा स्त्री के साथ क्रूरता करने पर तीन वर्ष की सजा और जुर्माने का प्रावधान है। यह संज्ञेय तथा गैर जमानतीय अपराध है, जिसमें गवाह की आवश्यकता नहीं है। मुकदमा स्त्री या उसके निकट संबंधी द्वारा दायर की जा सकती है। पुलिस बिना वारंट या अनुसंधान के गिरफ्तार कर सकती है। ऐसे मुकदमें आपस में नही सुलझाए जा सकते। दहेज की माँग भी इस प्रावधान के अन्तर्गत क्रूरता है।

1986 में भारतीय दण्ड संहिता में अनुच्छेद 304 बी॰ शामिल किया गया। इस प्रावधान के अर्न्तगत दहेज मृत्यु-वधु को जलाने, दहेज हत्या, आत्म हत्या। विवाह के सात वर्ष के भीतर जलने से, शारीरिक आघात से या अस्वाभाविक मृत्यु को शामिल किया गया है। इसमें स्त्री के साथ पति या उसके संबंधी द्वारा दहेज को लेकर क्रूरता, प्रताड़ना को सिद्ध करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत सात वर्ष की न्यूनतम सजा का प्रावधान है। आजीवन करावास भी हो सकता है।

1984 में पारिवारिक न्यायालय की स्थापना की गई। जिसका उद्देश्य-दाम्पत्य सौहार्द स्थापित करना रहा।

1987 में कानूनी सेवा प्राधिकार बना जिसके द्वारा-प्रताड़ित नारी को कानूनी सहायता प्रदान की जाती है। घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम 26 अक्टूबर 2005 से लागू है।

समाज की पितृसत्तात्मक संरचना के चंगुल से ये कानूनी प्रावधान स्त्री को कुछ आजादी देनी है। किन्तु तथ्य यह है कि स्त्री के साथ क्रूरता/दुर्व्यवहार में पति के संबंधियों में सर्वाधिक सक्रिय भूमिका स्त्रियों की ही रहती है।

अब प्रश्न है कि इस प्रथा को अभिशाप क्यों मानते हैं?

304B के तहत मृत्यु संबंधी नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरों के निम्न आंकड़े स्पष्ट करते हैं–

1995-4648

2005-6787

2007-8093

दहेज की मांग के कारण आत्महत्या के 2276 मामले केवल 2006 में दर्ज किये गये। 304 B के 30 प्रतिशत मामलों में दोष सिद्ध हुआ है।

वहीं 498। के तहत 2007 में 75930 मामले दर्ज किये गये। इसमें दोष सिद्ध की दर 11.9 प्रतिशत है।

अनुच्छेद 498। के दुरूपयोग की शिकायते आती है। Centre for Social Research (सेन्टर फॉर सोशल रिसर्च) के अनुसार 60.5 प्रतिशत झूठे मामले दर्ज होते हैं। डंसपउंजी (मलिमथ) समिति ने दुरूपयोग को देखते हुए इसे जमानतीय धारा बनाने का सुझाव दिया। संसद में आई॰ डी॰ स्वामी गृह राज्य मंत्री ने 17-12-03 को दुरूपयोग (प्रताड़ना और दहेज मांग के अतिशयपूर्ण आरोपों से बहुत परिवारों के प्रताड़ित होने) से अनभिज्ञता जाहिर किया।

सर्वोच्च न्यायालय के Arijit Pasayat (अरिजित पसायत) और H. K. Seem (एच. के. सीमा) के खण्डपीठ ने 20-07-2005 को 498 । को संवैधानिक माना, किन्तु चेताया कि इसका उद्देश्य दहेज दानव पर प्रहार करना है, जबकि इसके दुरूपयोग से एक नए कानूनी आतंकवाद का खतरा है। भेड़िया आया का झूठा शोर ठीक नहीं है। वस्तुतः अनुच्छेद 498A का प्रयोग ढ़ाल की तरह, न कि हथियार की तरह करना चाहिए।

दुरूपयोग का कारण और प्रभाव-

प्रश्न है कि इसका दुरूपयोग क्यों होता है तो समाजशास्त्रीय तथ्य संकलन और विश्लेषण के अनुसार कानून का भय दिखाकर आर्थिक दोहन, विवाह पूर्व संबंध, विवाहेत्तर संबंध भी कुछ हद

तक इसके लिए जिम्मेवार है। उद्देश्य मुख्यत: पति पर हावी होने, उसके वित्तीय सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करना होता है। पति को उसके माता-पिता, भाई-बहन के प्रति कर्त्तव्य से विमुक्त करना भी इसका उद्देश्य है।

उदाहरणस्वरूप पूर्व आयुक्त दिल्ली पुलिस किरण वेदी के बहुचर्चित टेलीविजन शो ''आपकी अदालत'' का उल्लेख किया जा कसता है। शहरी, अल्प शिक्षित परिवारों द्वारा इसके दुरूपयोग की अधिक शिकायतें सामने आती हैं। अतिउत्साही एन. जी. ओ. के उकसावे की भी इसमें भूमिका है। दहेज अधिनियम के दुरूपयोग के चलते ही माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने इधर हाल में ''दहेज'' शब्द की व्याख्या की जरूरत समझी। अपनी टिप्पणी में बेंच ने कहा कि यह एक निरन्तर प्रक्रिया नहीं है बल्कि एकल प्रक्रिया है। दहेज का अर्थ विवाह के पूर्व या विवाह के समय दिये जाने से है। "It is not a process but one time process. Dowry is meant to be given before or at the time of marrige only" यानि कि दहेज सिर्फ शादी के पहले या शादी के समय तक की ही मांग को दहेज माना जाएगा इस टिप्पणी से भी दहेज अधिनियम के दुरूपयोग में कमी आ सकती है।

References:

Bhatia, S.C.: *Education and Social Cultural Disadvance*, Delhi Xeres Publication, 1982.

Chesler, Phyllis: *Women and Madness*. New York: Harvest, 1982.

Flavia Agnes: *Law and Gender Inequality : The Politics of Women's Rights in India*, Oxford University Press, 1999,

Ghadially, Rehana: *Women in Indian Society*, New Delhi. Sage Publication, 1988.

Kennedy, Mary: *New Futures: Changing Women's Education*, Routledge and Kegan Paul, 1985.

Levinson, D.: *Family Violence in Cross Cultural Perspective*, Newbury Park, Sage, 1989.

Panda, P. P. : *Awareness of Women's Rights : Projection in Mass Media*, Dominant, 2005.

Slipman, Sue*: Helping Ourselves to Power*, Oxford. Pergamon Press, 1986.

आहार विशेषज्ञता के क्षेत्र में महिलाएं

करूणा कानन

एम.ए., गृह विज्ञान, डाक बंगला रोड, हाजीपुर

हर क्षेत्र में बढ़ते प्रदूषण ने हमारे खान-पान को भी गहरे रूप से प्रभावित किया है। हम जिस अनुपात में स्वाद की ओर बढ़ रहे हैं, उसी अनुपात में स्वास्थ्य से खिलवाड़ भी करते जा रहे हैं। सबसे भयावह स्थिति यह है कि हमें यह पता ही नहीं है कि आखिर हम खा क्या रहे हैं! रंगों और स्वादों से लबरेज जो खाद्य पदार्थ हम प्रतिदिन ग्रहण कर रहे हैं, उसके भीतर कितना जहर भरा है, इसका अहसास हमें तब होता है, जब हम किसी लंबी बीमारी के शिकार होकर डाइटीशियन के पास पहुंचते हैं। महानगरीय जीवन की इस आपाधापी में हमें इतनी भी फुर्सत नहीं मिलती कि अपने दैनिक दिनचर्या पर विचार कर सकें। सबसे बड़ी विसंगति यह है कि हम अपने कपड़े, मकान, गाड़ी आदि चीजों के प्रति तो सावधान रहते हैं, लेकिन स्वास्थ्य के प्रति घोर लापरवाह हो जाते हैं। इसके पीछे का मनोविज्ञान शायद यही होता है कि हम बाकी चीजों की तरह स्वास्थ्य की कीमत को नहीं आंकते। लेकिन जब स्वास्थ्य अचानक बिगड़ जाता है, तब हमें इसका अहसास होता है कि हमने अपने जीवन में कितनी मूल्यवान चीज खो दी है। दरअसल, डाइटीशियन हमें इसी खतरे से आगाह करवाता है, इसलिए पहले की अपेक्षा उसकी उपयोगिता आज अधिक बढ़ गई है। हम सभी जानते हैं कि स्वास्थ्य का सीधा संबंध हमारे खान-पान से है। अगर हमारा खानपान पौष्टिक एवं संतुलित है, तो निश्चय ही स्वास्थ्य अच्छा होगा। स्वास्थ्य के प्रति लोगों में जागरूकता एवं सजगता का यह परिणाम है कि आज एक बीमार व्यक्ति ही नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति भी अपने आपको फिट रखने के लिए डाइटीशियन की मदद ले रहे हैं।

शैक्षणिक योग्यता

डाइटीशियन बनने के लिए 10+2 होना जरूरी है। बारहवीं की प्राथमिक शिक्षा के बाद आप दो वर्ष का न्यूट्रीशियन डिग्री कोर्स कर सकते हैं। इसके लिए अगर आपके पास बारहवीं में होमसाइंस या विज्ञान हो, तो आपको प्राथमिकता मिलती है। इसके अलावा इसमें बीएससी (होम साइंस), एमएससी (फूड एंड न्यूट्रीशियन) एवं डाइटेटिक्स में भी डिग्रियां मिलती हैं।

डाइटीशियन का कार्य

एक डाइटीशियन का कार्य होता है, एक वर्ग-विशेष के अनुसार उसके दिनचर्या के खाने-पीने का ब्यौरा देना। अगर एक मरीज है, तो उसकी बीमारी को ध्यान में रखते हुए उसे क्या खाना है, किस चीज से परहेज करना है, कितनी मात्रा में खाना है आदि बातों को बताना होता है। इसके

अलावा गर्भवती महिला, एथलीट तथा मोटापे से परेशान लोगों को वजन कम करने के लिए प्रतिदिन के आहार में किन-किन खाद्य पदार्थों का सेवन कितनी मात्रा में की जाए, इसकी जानकारी देना भी डाइटीशियन के कार्य में शामिल है। लोकनायक हॉस्पिटल की डाइटीशियन वंदना अरोड़ा का कहना है कि एक डाइटीशियन के कार्य में विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के आहार तथा स्वास्थ्य से संबंधित मीनू शामिल होते हैं। उसे कुछ महत्वपूर्ण टिप्स तथा गर्भवती महिला की डाइट एक एथलीट से भिन्न क्यों होती है, आदि की भी जानकारी होती है।

प्राथमिकता

इस कैरियर की यह खासियत है कि इसमें महिलाओं को प्राथमिकता मिलती है। इस संबंध में वंदना कहती हैं कि यदि आप देखने में फिजिकली फिट, मृदुभाषी, मानवीय व्यवहारों की समझ आदि रखती हैं, तो यह कैरियर चुनना आपके लिए उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त अगर आपके भीतर खान-पान से संबंधित नए-पुराने क्षेत्रों पर रिसर्च करने की इच्छा एवं क्षमता है, तब तो आपको इस कैरियर में एक अच्छा मुकाम पाने से कोई नहीं रोक सकता। वर्तमान में डाइटीशियन की विभिन्न क्षेत्रों जैसे–मेडिसिन, फिटनेस केंद्र, पशु विज्ञान, होटल, केटरिंग, खेल जगत, शोध एवं विकास संस्थान, डेंटिस्ट्री तथा जन-स्वास्थ्य क्षेत्रों में लगातार मांग बढ़ रही है। आजकल बड़ी-बड़ी कॉरपोरेट संस्थाएं अपने कर्मचारियों के संतुलित खान-पान के लिए डाइटीशियन की नियुक्ति आहार विशेषज्ञ के रूप में करती हैं। फार्मास्युटिकल एवं अन्य शोध संस्थानों में भी डाइटीशियन की रिसर्च कोऑर्डीनेटर के रूप में नियुक्ति हो सकती है। इसके अलावा बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुएं जैसे बिस्कुट, चॉकलेट, हॉर्लिक्स, च्वयनप्राश, मॉनप्लॉन, ब्रेड आदि बनाने के लिए प्रतिष्ठित कंपनियां न्यूट्रीशियन/डाइटीशियन की सेवाएं लेती हैं।

References:

Ballentine R. : *Diet and Nutrition: A Holistic Approach,* Himalyan Press, Delhi, 1989.

Charles, G.: *International Dictionary of Food & Cooking,* Chicago, Fitzroy Dearborn, 1998.

Doyle W.: *Teach Yourself Healthy Eating*, Hodder and Stoughton, London, 1994.

Engle, P. : *Care and Child Nutrition,* New York, USA, United Nations Children's Fund (UNICEF), 1992.

Fan, X. : *Food Irradiation Research and Technology*, Blackwell Publishing, Ames, IA, 2006.

Feingold B.: *Why Your Child is Hyperactive,* Random House, New York, 1975.

Geary, A. : *The Food and Mood Handbook*, Thorsons, 2001.

Harrison, Ruth : *Animal Machines: The New Factory Farming Industry*. London: Vincent Stuart, Ltd., 1964.

Horne R. : *Cancer Proof Your Body,* Anguson Robertson, 1996.

Leeds, A. ; P. Judd, B. Lewis : *Nutrition Matters for Practice Nurses: A Handbook of Dietary Advice for use in the Community*. John Libbey, 1990.

Mount J.L.: *The Food and Health of Western Man*, Charles Knight and Co. Ltd., 1975

भारतीय साहित्य में बांग्ला कहानी का प्रताप

गोपाल पाल

बांग्ला विभाग, देवघर कॉलेज, देवघर

यह आकस्मिक नहीं कि गुरुवर रवींद्र नाथ ठाकुर ने अपने पहले दौर की कहानी संग्रह का नाम 'लघु गल्पो' रखा था। दरअसल बांग्ला में कहानी को गल्प ही कहते हैं। गल्प या कहानी सच और झूठ के सहमेल का अनूठा खेल है। एक ऐसा मोहक और जादुई खेल जिसमें जानते हुए कि यह झूठ या कपोल कल्पित है, हम उसे न केवल सच समझते हैं बल्कि हकीकत से भी अधिक उसमें आन्नंद और रुचि लेते हैं। इसकी सृष्टि में एक जिन्न अपने आका के हुक्म पर जहां दुनिया की तमाम नियामतों की बारिश कर सकता है, वहीं पंख लगा घोड़ा राजकुमार को पलक झपकते ही राजकुमारी के पास पहुंचा देता है। हालांकि वास्तविक संसार में न तो ऐसा कोई जिन्न होता है और न ही ऐसा कोई घोड़ा किन्तु कहानी पढ़ते या सुनते समय हमें यह कल्पना किंचित भी असंगत और अस्वाभाविक नहीं लगती। दिलचस्प यह है कि सच और झूठ की यह रोचक लीला केवल हमारे बाल्यकाल की कहानियों तक सीमित नहीं है, बल्कि आज हम जिस विधा को आधुनिक कहानी कहते हैं, उसमें यथार्थवादी कहानी की महान और समृद्ध परंपरा के बावजूद उसके अनेक पुरोधा कथाकार भी इसी बीज तत्त्व को अपनी कहानियों का आधार बनाते रहे हैं।

जहां तक बांग्ला कहानी के इतिहास का सवाल है, तकनीकी रूप से स्वर्ण कुमारी देवी की 1892 में प्रकाशित कहानी 'संकलन' के चलते भले ही उन्हें बांग्ला का पहली कहानीकार मान लिया जाए लेकिन एक विधा के रूप में कहानी के विकास की दृष्टि से गुरूदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर बांग्ला कहानियों के जनक हैं। यह वह समय था जब कलकत्ता विभिन्न राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों का एक स्पंदनशील केंद्र था। उन्नीसवीं शताब्दी में घटित भारतीय नव जागरण की लहर से बांग्ला समाज में एक नई चेतना विकसित हो रही थी, वहीं पश्चिम की ओर खुली खिड़की से उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवेश भी समृद्ध हो रहा था।

ऐसे परिदृश्य में बांग्ला कहानी को अपना आकार मिला। पश्चिम की ओर खुली दृष्टि रखने के बावजूद रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने बांग्ला कहानी को अपनी जातीयता और परंपरा से गहरे रूप से जोड़ा। उनकी लगभग 84 कहानियां बंगाल की विविध अनुभव संपदा को अपने में समेटे हुए है। उनकी शुरूआती कहानियों में बंगाल की शस्य श्यामला भूमि की गंध पूरी तरह से रची बसी हुई है। उनकी कहानियां सिर्फ चमकीले अभिजात्य जीवन की ऊब, हताशा और भ्रांतियों में ही नहीं उलझी रही हैं,

साधारण जन-मन की कोमल भावनाओं को भी उन्होंने गहरी संवेदनशीलता से स्पर्श किया है। उनकी पोस्टमास्टर कहानी की छोटी अनपढ़ लड़की रत्ना और काबुली वाला का मार्मिक चित्रांकन इसका पुष्ट प्रमाण है। शिल्प के मोर्चे पर भी रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने विविध कथा प्रयोग किए और बांग्ला कहानी की भावाभिव्यक्ति को समृद्ध करने के दृष्टि से कथारूपों के लिए अनेक दरवाजे खोले। उन्हीं दिनों नवजीवन, बालक, सुबोधिनी और जन्मभूमि इत्यादि पत्रिकाओं में रवींद्रनाथ ठाकुर के समकालीन कथाकार श्रीशचंद्र मजूमदार, स्वर्ण कुमारी देवी, नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे अनगिनत कथाकारों की कहानियां प्रमुखता से छप रही थीं किन्तु सही मायनों में रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कहानियों ने भोर के चमकते सूर्य की तरह बांग्ला कहानियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के परवर्ती कथाकारों में त्रैलोक्यनाथ मुखोपाध्याय, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, सुरेन्द्रनाथ मजूमदार, परशुराम, प्रमुख चौधरी और शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की कहानियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। त्रैलोक्यनाथ मुखोपाध्याय की कहानियों में बातचीत की शैली में कथा के भीतर एक और कथा गूथने वाले शिल्प के माध्यम से जहां तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर व्यंग्य किया गया है, वही फलेर मुल्य काशीवासिनी जैसी लोकप्रिय कहानियों के लेखक प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानियां अपनी करुणा और उदात्त भावनाओं के लिए जानी जाती हैं। परशुराम की कहानियों का स्वभाव कुछ अलग था। उनकी व्यंग्य विनोद की तेजाबी शैली पाठकों को बेहद के बाद शरतचंद ही आते हैं। वे स्त्री की पीड़ा, प्रेम, आक्रोश और द्वंद्व को उन्होंने अपनी कहानियों में अत्यंत मार्मिकता से उकेरा है। उनकी अनुपमा का प्रेम, बोझा, हरिलक्ष्मी, मेजदीदी और महेश कहानियों में स्त्री मन की अंतर्विरोधों भावनाएं अत्यंत पारदर्शिता से व्यक्त हुई हैं। उनके कथा-साहित्य में व्यक्त गलदाश्रु भावुकता कहानियों का एक ट्रेडमार्क बन गई थी।

इस बिन्दु पर कल्लोल युग का जिक्र किए बिना बांग्ला कहानी का परिदृश्य अधूरा रहेगा। कल्लोल का शाब्दिक अर्थ है गरजती उत्ताल लहरें। कल्लोल एक साहित्यिक पत्रिका थी जिसे 1923 में गोकुल चंद्र नाग और दिनेश रंजन दास ने शुरू किया था। परंपरावादी लेखकों के प्रति इसका रुख आक्रामक था। यह वह दौर था जब पूरे विश्व में आर्थिक मंदी चल रही थी वहीं भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध तीखा संघर्ष चल रहा था। कल्लोल गोष्ठी के कथाकारों ने समाज, धर्म और परिवार के ताने बाने को नई आंखों से देखना शुरू किया। यथार्थवादी जीवन के प्रति गहरे आग्रह के साथ ही इन कहानियों में किंचित रोमांटिकता की छौंक भी थी। ताराशंकर बंद्योपाध्याय, अचिंत्य कुमार सेनगुप्त, प्रेमेंद्र मित्र, बुद्धदेव बसु, प्रबोध कुमार सान्याल, भवानी मुखोपाध्याय सरीखे कथाकार इस समय कथा सृन के क्षेत्र में सक्रिय थे। इन्होंने आम आदमियों को अपना कथ्य बनाया। इस परिप्रेक्ष्य में इस दौर की कहानियों को सामान्य मनुष्य की कहानियों से अभिहित किया जा सकता है। इन कहानिकारों में पश्चिम के प्रति कोई मोह नहीं था। सही अर्थों में कहें तो सचेत रूप से पश्चिम का बहिष्कार दिखता है।

यह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के उदय का युग था। प्रेमेंद्र मित्र की सहानुभूति मुख्य रूप से समाज के निचले तबके के साथ थी। उनकी कहानियों में इस वर्ग के पास उच्च वर्गों के मनुष्यों की तुलना में अधिक उदार, मानवीय, साहसी, और सरल दिखते हैं। उनकी कहानियां हर छोटे से छोटे प्राणी का दुख सुख जीते जागते जीवित आदमियों की गाथाएं हैं। शुधू केरानी, गोपनचारिणी, मोटबारो

सरीखी कहानियां इसका अच्छा साक्ष्य है। ग्राम्य जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों की संवेदनशील अभिव्यक्ति भी इस युग के कुछ कथाकारों में मिलती है। ताराशंकर बंद्योपाध्याय की कहानियां इसका अच्छा उदाहरण है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने ताराशंकर बंद्योपाध्याय की कहानियों के बारे में कहा था कि वे मिट्टी और मनुष्य को जानते हैं। इनके साथ इनका घनिष्ठ संबंध है। ताराशंकर बंद्योपाध्याय की ख्याति उपन्यासकार के रूप में अधिक थी लेकिन उनकी तारणीमाझी, डाइन, नारी ओ नागिनी जैसी कहानियों ने पाठकों के मन को झकझोरा था। विभूतिभूषण की कहानियों में जीवन और प्रकृति के साथ गहरा तादात्म्य मिलता है। उनके यहां कई बार प्रकृति ही एक चरित्र की भूमिका निभाने लगती है।

कुछ समय बाद माणिक बंद्योपाध्याय एक सशक्त कथाकार के रूप में बांग्ला कथा के दृश्यपटल पर सक्रिय हुए। उन्होंने अपनी कहानियों में युद्ध, अकाल, देश विभाजन की त्रासदी और आजादी के बाद राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में आई गिरावट को विशेष रूप से रेखांकित किया। सामाजिक जीवनदृष्टि और अपनी अनोखी कथा शैली के चलते वह बहुत जल्दी ही पाठकों के चहेते कथाकार बन गए थे। इसी दौर में बनफूल, गजेन्द्र कुमार मित्र, आशापूर्ण देवी, मनोज बसु, परिमल गोस्वामी, अन्नदाशंकर राय, विमल मित्र की कहानियों ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

कल्लोल युग के बाद दूसरे विश्व युद्ध की आहट से लेकर देश के विभाजन का समय अत्यंत उथल-पुथल भरा समय था। भारत छोड़ो आंदोलन, दूसरा विश्व युद्ध, अकाल, कालाबाजारी, सांप्रदायिक हिंसा और दो राष्ट्रों की अवधारणा के चलते देश के विभाजन ने तत्कालीन मनुष्य की संवेदनाओं को गहरे रूप से झिंझोड़ दिया था। नए कथाकारों ने तत्कालीन समाज के विक्षुब्ध मन को अभिव्यक्ति प्रदान की। कल्लोज युग के मिजाज से ये कहानियां भिन्न थीं। रोमांटिकता के स्थान पर इनमें तिक्तता और बेधकता अधिक थी। बांग्ला कहानी के मानचित्र पर इस समय सुबोध घोष, सतीनाथ भादुड़ी, नारायण गंगोपाध्याय, नरेन्द्रनाथ मित्र, नवेंदु घोष, ननी भौमिक, सुशील जाना और ज्योतिरिंद्र नंदी प्रमुख रूप से छाए हुए थे।

देश की आजादी की खुशी के साथ उजड़े हुए घर-परिवारों की सिसकियां भी सुनाई दे रही थीं। एक ओर नए भारत के निर्माण का विराट स्वप्न था और दूसरी ओर आशावाद से ग्रस्त राजनीति से मोहभंग की प्रक्रिया भी जारी थी। समरेस बसु, विमल कर, रमापद चौधरी, सैय्यद मुज्तफा अली, हरिनारायण चट्टोपाध्याय, प्रभात देव सरकार, सुधीरंजन मुखोपाध्याय, शचींद्रनाथ बंद्योपाध्याय, आशीश बर्मन, सुलेखा सान्याल सरीखे आधुनिक कथाकारों ने बांग्ला कहानी की वैविध्यपूर्ण परिदृश्य को और अधिक विस्तृत किया।

तदनंतर सुनील गंगोपाध्याय, श्यामल गंगोपाध्याय, सैय्यद मुस्तफा शीराज, शीर्षेंदु मुखोपाध्याय, प्रफुल्ल राय, मतिनंदी, कविता सिह, देवेश राय, आनंद बागची, संजीव चट्टोपाध्याय, दिव्येंदु पालित, नवनीता देवसेन सरीखे अनेक कथाकारों ने बांग्ला कहानी संसार को अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया है। इस तरह हम देखते हैं कि बांग्ला कहानी ने एक लंबी यात्रा तय की है। इस यात्रा के अनेक मोड़ और उतार चढ़ाव रहे हैं। हर सामाजिक और मानवीय स्थिति ने बांग्ला कहानीकारों में एक विशिष्ट प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। और जिसके फलस्वरूप उनके कथा-साहित्य में एक नया मूल्य और चरित्र विकसित हुआ है। सच तो यह है कि बांग्ला कहानी परिदृश्य से थोड़ा भी परिचित व्यक्ति

इसकी आत्मीयता लचीलेपन और व्यापकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यह सर्वविदित तथ्य है कि बांग्ला कहानियों की पठनीयता, रोचकता और गहरे जीवनानुराग के चलते उसे अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली है। लेकिन इधर उसे कई व्याधियों ने घरे लिया है। समकालीन बांग्ला कहानी परिदृश्य में बाजारू प्रवृतियां प्रवेश करके इसके रचनात्मक वैभव को धीरे-धीरे घुन की तरह कुतर रही है। यह अकारण नहीं है कि सृजनात्मकता के लिए जिस तरह से अवकाश और धीरज चाहिए, बांग्ला कहानी उससे शनैः शनैः विमुख होती जा रही है। पूजा के अवसरों पर निकलने वाले विशेषांकों की मांग पर थोक में कहानी लिखने की लालच ने बांग्ला में सृजनात्मक धैर्य के साथ कहानी लिखने की परिपाटी को क्षीण कर दिया है। शायद एक यह भी कारण है कि जहां इधर की बांग्ला कहानी में सांचे में ढले गढ़े पात्र और अस्वाभाविक घटनाएं और स्थितियां प्रचुरता से दिखाई दे रही हैं, वहीं उनमें जीवन की धड़कन कम से कमतर होती जा रही हैं। कहना न होगा कि इस चुनौती से बांग्ला कहानी को साहस के साथ सामना करना होगा।

हिन्दी और बांग्ला एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक समान सांस्कृतिक स्मृति और परंपरा के कारण अपने अंतर्निहित स्वभाव में समानरूपा हैं। दरअसल हिन्दी और बांग्ला में एक ही चेतना स्पंदित होती है। उनके कथा साहित्य का परिवेश या भाला भले ही क्यों न कुछ भिन्न हो, उनके पात्र एक ऐतिहासिक समय, सांस्कृतिक अस्मिता और स्मृत से जुड़े रहते हैं। यही कारण है कि बांग्ला कहानियां एक मायने में कई बार हिन्दी की कहानियां लगती हैं और हिन्दी समुदाय इन्हें हाथों-हाथ लेता है। यह एक प्रीतिकर तथ्य है कि बांग्ला कथा साहित्य का अनुवाद जिस तत्परता और शीघ्रता से हिन्दी में होता है, शायद दुनिया की किन्हीं अन्य भाषाओं में होता हो।

सन्दर्भः

1. बांग्ला, असमिया, उड़िया तथा हिन्दीः सुधाकर पाण्डेय
2. बांग्ला की चर्चित कहानियांः महेन्द्र नाथ दूबे
3. बांग्ला की गौरवशाली कहानियांः महेन्द्र नाथ दूबे
4. बांग्ला की प्रतिनिधि कहानियांः बासु भट्टाचार्य
5. बांग्ला की श्रेष्ठ बाल कहानियांः गीता मित्रा
6. बांग्ला पर हिन्दी का प्रभावः ब्रह्मानन्द।

सामाजिक विकास में जनसंख्या वृद्धि की बाधा
एक विवेचना

डॉ॰ विद्यापति गौतम

जनसम्पर्क अधिकारी, दाऊ दयाल महिला कॉलेज, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

हमारा देश एक बहुजनसंख्या वाला देश है। संसार में चीन के बाद हमारे देश की जनसंख्या सबसे ज्यादा है। चीन के पास दुनिया का 7 प्रतिशत भूभाग है जबकि हमारे पास दुनिया का 2.4 प्रतिशत भू-भाग है। भारत की वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर 1.93 प्रतिशत है तो चीन की मात्र एक प्रतिशत। आज विश्व में प्रति मिनट 150 बच्चे जन्म लेते हैं जिनमें 45 बच्चों का योगदान हमारा देश करता है। भारत की जनसंख्या का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि तीन बड़े महाद्वीपों–उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया की संयुक्त जनसंख्या से हमारी आबादी अधिक है। अर्थात् संसार का प्रत्येक छठा व्यक्ति भारतीय है। वैसे अगर देखा जाये तो भारत में प्राचीन काल से ही जनसंख्या अधिक रही है। पर उस समय युद्ध महामारी आदि प्रकोपों के कारण मृत्यु दर अधिक होती थी, इसलिए जनसंख्या संतुलन बना रहता था। आजादी के पूर्व के 50 वर्षों में भारत की आबादी मात्र 12 करोड़ थी तो आजादी के समय करीब 33 करोड़ और आजादी के 50 वर्षों में भारत की आबादी मात्र 12 करोड़ थी तो आजादी के समय करीब 33 करोड़ और आजादी के 55 वर्ष बाद 66 करोड़ थी जो अब बढ़कर चार गुना हो गयी है। जबकि विश्व की जनसंख्या पिछले चालीस वर्षों में तीन अरब से बढ़कर छह अरब हो गयी है। वर्तमान में हमारी जनसंख्या वृद्धि दर लगभग दो प्रतिशत से घटकर यदि एक प्रतिशत हो जाये तो भी आने वाले समय में भारत का आबादी के मामले में पहला स्थान होगा।

इस बढ़ती हुई जनसंख्या ने भारत के विकास को धीमा कर दिया है। इसके कारण संसाधनों और भूमि पर दबाव बढ़ रहा है। दुलर्भ संसाधनों का अधिक दोहन हो रहा है। आवास के लिए पेड़ों को काटा जा रहा है। जीवन स्तर बनाए रखने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ रही है। प्रत्येक जगह शांति और सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह् लग गया है। बेरोजगारी और अपराधों को बढ़ावा मिल रहा है। लोगों में अनैतिकता की भावना बढ़ रही है। इस बढ़ती हुई भीड़ के कारण सारी व्यवस्था चरमरा गई है। बढ़ती हुई जनसंख्या से अब लोग काम धंधे की तलाश में गांवों को छोड़कर शहरों की तरफ पलायन कर रहे हैं। कृषि में आधुनिक मशीनों के प्रयोग के कारण मजदूरों को साल में 150 दिन ही काम मिलता है और बाकी समय में उसे बेकार बैठा रहना पड़ता है। आज ग्रामीण गरीबी, बेरोजगारी और

शहरीकरण की होड़ में हालत यह है कि गांवों में बच्चे और वृद्ध ही दिखाई देते हैं। सरकार भी ग्रामीण विकास के लिए काफी प्रयास कर रही है फिर भी यह पलायन रुक नहीं रहा है।

निरंतर बढ़ती जनसंख्या और सीमित संसाधनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए जनसंख्या नियंत्रण आवश्यक है। इस काम के लिए शहरों की अपेक्षा पिछड़े और अविकसित क्षेत्रों की तरफ ज्यादा ध्यान देना पड़ेगा। बढ़ती आबादी को रोकने के लिए परिवार नियोजन पर ध्यान देना आवश्यक होगा। जब तक हम देश की आबादी को संतुलित नहीं कर लेते तब तक सामाजिक विकास संभव नहीं हो पायेगा।

जनसंख्या वृद्धि पर अंकुश लगाने के लिए मनुष्य अनेक उपाय करता है परंतु प्रकृति जनसंख्या वृद्धि को रोकने के प्रयास अपने स्तर से करती रहती है। समाज अनेक उपाय करके जनस्वास्थ्य को ठीक करने का कार्य तो करता ही है परंतु प्रकृति की आवश्यकताओं के विषय में अनभिज्ञ रहता है। जनसंख्या वृद्धि ऐसी बात नहीं है जिससे समाज की स्थिति बहुत अधिक दुखदायी हो जायेगी। परंतु जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ जब भ्रष्टाचार में वृद्धि होगी और मनुष्य का सर्वांगीण विकास नहीं होगा तो हम जनसंख्या को दोष देकर अपने अन्य दोषों को छिपाने का प्रयास करेंगे। वास्तविकता भी यही है कि बढ़ते हुए भ्रष्टाचार एवं स्वार्थपरता की भावना के कारण मनुष्य दु:ख उठाता है और दोष जनसंख्या पर मढ़ दिया जाता है। इसके लिए आवश्यक है देश में जनसंख्या की नियंत्रण को बढ़ावा देना।

निरंतर बढ़ती जनसंख्या देश के लिए एक समस्या बनती जा रही है। विभिन्न अध्ययनों से पता चलता है कि न केवल परिवार नियोजन कार्यक्रम एवं नीतियों वरन् विभिन्न स्वास्थ्य, शिक्षा कार्यक्रम एवं नीतियों का भी क्रियान्वयन सही रूप से नहीं हो सका है। जिससे निर्धारित लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सके हैं। इसके परिणामस्वरूप भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। स्पष्ट है कि बढ़ती जनसंख्या को नियंत्रित करने की नीतियों के साथ ही साथ नीतियों के क्रियान्वयन में योजना का अभाव, अदूरदर्शिता एवं तदर्थवाद की नीति झलकती है। इसके अतिरिक्त राजनीतिज्ञों की भूमिका भी इसको बिगाड़ने में कम महत्वपूर्ण नहीं रही है। राजनीतिज्ञों ने बराबर इसे तदर्थवाद के रूप में सोचा है और इसका स्वरूप सांप्रदायिक भी कर दिया है। अतएव आज आवश्यकता इस बात की है कि इस समस्या का समाधान समग्र रूप से किया जाय, जिसके लिए निम्नलिखित सुझाव इस प्रकार है–

1. सर्वप्रथम बड़े हिन्दी भाषी राज्यों में जहां पर जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत अधिक है और जिनका योगदान जनसंख्या में बहुत अधिक है अलग से 'क्षेत्रीय जनसंख्या नीति' का निर्धारण किया जाए और इसमें प्राथमिकताओं को तय किया जाय।
2. जनसंख्या नियंत्रण के लिए गैर सरकारी संगठनों एवं स्वंयसेवी संगठनों से सहयोग किया जाना चाहिए।
3. जिला स्तर पर प्रशिक्षित प्रतिनिधि निचले स्तर अर्थात् गांव स्तर के उतप्रेरक को जन नियंत्रण की विधियों में प्रशिक्षित करें।
4. जनसंख्या नियंत्रण के लिए प्रचार-प्रसार माध्यमों जैसे–रेडियो, टीवी तथा समाचार-पत्र आदि का प्रयोग किया जाय।

5. साक्षरता अभियान में परिवार नियोजन की शिक्षा को शामिल किया जाना चाहिए तथा महिलाओं को व्यापक स्तर पर शिक्षित किया जाना चाहिए।
6. जनसंख्या वृद्धि के दुष्प्रभावों को सार्वजनिक किया जाना चाहिए। तथा दो बच्चे वाले परिवारों को पुरस्कार दिया जाना चाहिए।
7. आर्थिक विकास के माध्यम से लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि होनी चाहिए तथा देश में क्षेत्रीय जनसंख्या नीति लागू की जानी चाहिए।

जनसंख्या नियंत्रण में एक बात विशेष तौर पर उल्लेखनीय है कि जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम की सफलता बहुत हद तक महिलाओं की भूमिका पर निर्भर करती है। इसके लिए आवश्यक है कि महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से सशक्त बनाया जाय। जब महिलाएं शिक्षित होंगी तो उनकी सोच का स्तर व्यापक होगा और महिलाएं इस दिशा में कुछ करने में सक्षम हो सकेगी। जहां शिक्षित महिलाओं का स्तर ज्यादा है, वहां जनसंख्या में कमी देखने को मिलती है। महिलाओं में आर्थिक सशक्तिकरण से भी इस दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्ध हासिल हो सकती है। आर्थिक सशक्तिकरण के लिए आंगनबाड़ी केंद्रों को माध्यक बनाने की जरूरत है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यकता इस बात की है कि जल्द से जल्द इस दिशा में जारी प्रयासों को तीव्र किया जाए। वरना जनसंख्या वृद्धि देश के आर्थिक और सामाजिक विकास में बाधा बन सकती है। मानव अस्तित्व को बचाने के लिए जनसंख्या कार्यक्रम को लागू किया जाना जरूरी है। देश के आर्थिक विकास और लोगों की सामाजिक उन्नति में जनसंख्या वृद्धि सबसे बड़ी बाधा है। जनसंख्या वृद्धि से विकास की सभी योजनाएं गड़बड़ा जाती है और विकास दर में भी कमी आती है। अत: हम सभी को यह बात राष्ट्र एवं स्वयं के हित में सोचनी होगी कि जनसंख्या नियंत्रण कोई सरकारी कार्यक्रम नहीं है बल्कि यह तो हम सभी का कार्यक्रम है और जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का एक सामूहिक प्रयास है। इसमें हमें पूर्ण रूप से सक्रिय होकर सहयोग करना है।

संदर्भ ग्रंथों की सूची:

1. जनांकिकी : दोषी एवं त्रिवेदी
2. भारत में जनसंख्या विस्फोट : आर. एन. मुखर्जी
3. कुरुक्षेत्र : जुलाई 2010

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा मनोविज्ञान का महत्व

डॉ॰ मनोज कुमार सिंह

मनोविज्ञान विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

डेविस (Davis) ने शिक्षा मनोविज्ञान के शिक्षा में योगदान को इस प्रकार दर्शाया है, "अनेक मनोविज्ञान परीक्षणों की सहायता से छात्रों की क्षमताओं तथा व्यक्तिगत भेदों की समीक्षा मे योगदान दिया है। शिक्षा मनोविज्ञान मे छात्रों के प्रारम्भिक विकास तथा परिपक्वता (Maturation) को समझने में योगदान दिया है।"

ड्रिवर (Drever) ने शिक्षा मनोविज्ञान को शिक्षा का आवश्यक तत्त्व बताया है। शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों निम्न प्रकार से योगदान दिया है।

छात्रों का व्यवहार तथा शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology and behaviour of the Students): शिक्षा को माटे अर्थो में वांछित परिवर्तन लाने होते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा मे लगें व्यक्तियों की सहायता करता हैं। कि किस प्रकार व्यवहार मे किस प्रकार के परिवर्तन लाए जा सकते हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के उद्देश्य (Educational Psychology and Aims of Education): शिक्षा के उद्देश्य निर्माण करने में दर्शनशास्त्र की विशेष भूमिका रहती है। परन्तु इन उद्देश्यों को शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए कैसे निर्धारित किया जाए, इस कार्य मे शिक्षा मनोविज्ञान सहायक होता है। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति में भी सहायता प्रदान करता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के व्यक्तिगत भेदों पर बल *(Educational Psychology and Emphasis on Individual Defferencces)* छात्रों में अनेक प्रकार की व्यक्तिगत विभिन्नताएँ होती हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा प्रक्रिया में इन भेदों को जानने तथा इसके सन्दर्भ में उचित विधियाँ अपनाने में सहायता देना हैं।

छात्र केन्द्रित शिक्षा (Child Centred Education): शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षण विधियों को छात्र केन्द्रित करने का बल दिया है। आज शिक्षा में कार्यरत सभी वर्ग इस तथ्य की महत्ता पर ध्यान देते हैं।

मनोविज्ञान तथा पाठ्यक्रम (Educational Psychology and Curriculum): पाठ्यक्रम निमार्ण में शिक्षा दर्शन तथा समाजिक दर्शन का विशेष महत्त्व है परन्तु विभिन्न स्तरों पर अध्ययन सामग्री पर स्तर किस प्रकार का हो, इसमे शिक्षा मनोविज्ञान मार्गदर्शन करता है।

शिक्षा मनोविज्ञान पाठ्यक्रम में पाठान्तर क्रियाएँ (Educational Psychology and Co-curricular Activities): शिक्षा में पहले विषयों के अध्ययन पर जोर दिया जाता था। परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव से अनेक प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रमों की स्कूलो में व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा मनोविज्ञान, पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य शिक्षण-अधिगम सामग्री Educational Psychology, Textbooks and other Teaching Learning Material): शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामग्री को रोचक तथा बोधगम्य बनाया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा समय-सारणी *(Educational Psychology and time Tabel):* शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के परिणामस्वरूप समय सारणी बनाते समय थकान तथा विविधता आदि पक्षों को ध्यान में रखा जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुशासन (Educational Psychology and Discipline): शिक्षा मनोविज्ञान दर्शाता है किस प्रकार अनुशासन को अत्मानुशासन तथा रचनात्मक बनाया जा सकता है। अनुशासन के विभिन्न पक्षों पर अलग से चर्चा की गई है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अन्य विधियाँ (Educational Psychology and Teaching Methods): सम्भवत: शिक्षा मनोविज्ञान का शिक्षा प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रभाव शिक्षण विधियों पर पड़ा है। अब अनेक प्रकार के शिक्षण विधियों को प्रयोग में लाया जा रहा है ताकि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया रोचक तथा प्रभावशाली हो सके। छात्र इस प्रक्रिया को बोझ के रूप में न ले तथा छात्रों की अधिक से अधिक इसमे भागेदारी हो।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा श्रव्य-दृश्य साधन Educational Psychology and Audio-visual Aids): परम्परागत शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में 'बोलने तथा चाक' *(Talk and Chalk)* प्रणाली का प्रभाव था। परन्तु अब सभी इन्द्रियों के प्रभावी प्रयोग पर बल दिया जाता है तथा अनेक प्रकार के श्रव्य-दृश्य सहायक साधनों का प्रयाग किया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा स्कुल-व्यवस्था (Educational Psychology and School Management): शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा व्यवस्था में प्रभावी मानवीय सम्बन्धों पर बल देता है। स्कुल का मुख्य अध्यापक निरंकुश न होकर अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों को सहयोगी जानकर स्कुल व्यवस्था में उनको उचित स्थान देता है। 'डर' के स्थान पर 'मानवता' के मुल्य को प्राथमिकता दी जाती है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुसंधान (Educational Psychology and Research): शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा किए जा रहे अनेक प्रकार के परिणामस्वरूप शिक्षा अधिगम प्रक्रिया तथा मुल्यांकन में प्रभावी सुधार लाए जा रहे हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अध्यापक Educational Psychology and the teacher): इस प्रकरण पर अलग से प्रकाश डाला गया है।

अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व

अध्यापक के लिये शिक्षा मनोविज्ञान की अवश्यकता तथा महत्त्व पर विद्वानों के विचार: शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान के द्वारा अध्यापक बालकों का उचित मार्गदर्शन करने तथा निर्देश देने में

दक्षता प्राप्त करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक अध्यापक को सफल बनाने और शिक्षा सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्वों को भली-भाँति निभाने मे बहुत मद्द करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक ऐसा उपयोगी विषय है जो अध्यापक की पग-पग पर सहायता करता है। अध्यापक शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन से बालकों का अनेक प्रकार की परिस्थितियों में उचित सामंजस्य स्थपित करने में मार्गदर्शन कर सकता है। कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जा रहे हैं:

क्युनटिलीयन (Quintilian): क्युनटिलीयन–जो की प्रथम शताब्दी (First Century A.D.) में इटली के प्रसिद्ध विचारक थे, ने लिखा है, "अच्छे वक्ता प्रशिक्षित करने के लिए अध्यापक को बच्चों की प्रकृति से परिचित होना चाहिए।

थोमस फुलर (Thomas Fuller 1608-1661) जो कि इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक पादरी थे, ने कहा है, "एक प्रभावी अध्यापक को बच्चों के स्वभाव का उतना ही अधिक अध्ययन करना चाहिए जितना की पुस्तकों का।

पस्तालोजी, जे. एच. (Pestslozzi, J.H.-1746-1827) ने कहा है "में शिक्षा को मनोवैज्ञानिक रूप देना चाहता हूँ।"

जॉन एडमस *(Johan Adams- 1857-1934)* जो की लन्दन विश्वविद्यालय में शिक्षा-विषय के प्रोफेसर थे-ने इस बात पर बल दिया है।,"अध्यापक को जॉन (अर्थात छात्र) तथा लेटिन (Latin) भाषा दोनों को जानना चाहिए।"

स्किनर (Skinner) के अनुसार,"अध्यापकों के प्रशिक्षण में शिक्षा मनोविज्ञान आधारशिला है।"

ब्लेयर *(Blair)* ने लिखा है," आधुनिक अध्यापक यदि अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसे ऐसा विशेषज्ञ होना चाहिए जो बालकों को समझें, वे कैसे विकसित होते हैं, सीखते है, तथा कैसे समायोजन करते हैं। मनोवैज्ञानिक विद्वानों (Diagnosis) में प्रशिक्षित व्यक्ति शायद ही अध्यापकों के दायित्वों तथा कार्यो को निभा सकें।"

हेनरी पी. स्मिथ (Henry P. Smith) ने शिक्षा मनोविज्ञान को अध्यापक के लिए आवश्यक निम्न कारणों से बताया है:

अध्यापक को अपने छात्र-छात्रों की प्रकृति, स्वाभाव तथा आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त होती है। अध्यापक को छात्र-छात्राओं की अवस्थाओं, उनसे सम्बन्धित विभिन्न समस्याऔं एवं उपचार का ज्ञान होता है। अध्यापक को शिक्षा के व्यापक अर्थो एवं उधार उद्देश्यों का बोध होता है। अध्यापक को छात्रों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए प्रत्येक स्तर पर छात्र की क्षमताओं तथा योग्यताओं आदि का बोध होता है। अध्यापक की व्यावसायिक क्षमताओं का कुशलता मे वृद्धि करने में कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान मे होती है।

स्वामी विवेकान्नद ने इस प्रकार कहा है, "सच्चा अध्यापक अपने छात्र के मन की वास्तविक्ता जान लेता है। श्री अरिविन्द ने इस बात पर बल दिया, "बालक की शिक्षा उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार हो।

मुख्य तौर पर अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व नीचे दिया जा रहा है:

शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक का आधिगमकर्त्ताओं अथवा छात्रों को ठीक प्रकार से समझने मे सहायता प्रदान करता (Assisting the teacher to understand his students properly): बालकों की रूचियों, अभिरुचियों, दृष्टिकोणों तथा क्षमताओं को समझने में शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक को पर्याप्त मात्रा में मिलती है। छात्रों की जन्मजात योग्यताओं और अर्जित क्षमताऔं के स्तर के ज्ञान से अध्यापक परिचित होकर छात्रों के सम्पूर्ण विकास के लिए कार्य करने में समर्थ होते हैं। *सर जॉन एडम* ने लिखा है। कि पढ़ाने की क्रिया के दो क्रम होते हैं,एक 'छात्र' और दूसरा पढ़ाए जाने वाला 'विषय'। जैसे-"अध्यापक राम को इतिहास पढ़ाता है।" इसलिये यदि अध्यापक ने राम को सफलता से पड़ाया है तो उसे इस क्रिया के दोनों क्रम को आच्छी तरह समझाना होगा 'इतिहास' को भी और 'राम' को भी। इन दोनों का ज्ञान होना अध्यापक के लिए बहुत जरूरी है।

उचित शिक्षण विधियों एंव तकनीकों के अपनाने में सहायक होना (Assisting the teacher to use Proper Teaching Aids): शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन से अध्यापक यह जान सकता है कि किस प्रकार के शिक्षण विधि किस परिस्थिति में उपयुक्त रहती है। छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को देख कर किस प्रकार से उन्हें कौन-कौन सी पद्धति से पढ़ाना ठीक रहता है।

सारांश: आधिगमकर्त्ता-मनोविज्ञान अथवा शिक्षा मनोविज्ञान निम्नलिखित कार्यो में शिक्षक को विशेष सहायता देता है:

1. अधिगमकर्त्ता को पहचान-उसकी क्षमताओं का जानना।

2. कक्षा में विभिन्न अधिगमकर्त्ताओं की विभिन्नताओं को जानना तथा तद्नुसार उपयुक्त शैक्षिक वातावरण निर्माण करना।

3. शिक्षण विधियों की उचित जानकारी प्राप्त करना तथा उसका उपयोग करना।

4. अधिगमकर्त्ता का सर्वांगीण विकास करना।

References:

Beloff, J.: *Psychological Sciences. A Review of Modern Psychology.* London: Crosby Lockwood Staples, 1973.

Feletti, G.: *The Challenge of Problem-based Learning*, London, Kogan, 1991.

Gijselaers, W.H.: *Bringing Problem-Based Learning to Higher Education: Theory and Practice*, San Francisco, Jossey-Bass Publishers, 1996.

Hallenger, P.: *Problem-based Learning for Educational Administrators*, Oregon, ERIC Clearinghouse on Educational Management, l992.

James. W. *The principles of psychology.* New York: Henry Holt & Co., 1896.

Millican, J. : *Adult Literacy, A Handbook for Development Education*, Oxford, Oxfam, 1995.

Ridley, T.: *Cool School: An Alternative Secondary School Experience*, Toronto, Ontario: Institute for Studies in Education, l977.

Smith, M.K. : *Local Education, Community, Conversation, Action*, Buckingham, Open University Press, 1994.

Westland, G.: *Current Crises of Psychology.* London: Heinemann, 1978.